हिन्दी कविता में युगान्तर

[नवीन हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन]

प्रो० सुधीन्द्र

एम० ए० (हिन्दी) : एम० ए० (अंग्रेजी)

साहित्यरत्न

अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रास्ताविक

हिन्दी कविता में आज जो भाषा प्रतिष्ठित है, वह है 'खड़ी बोली'। वह लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और आज राष्ट्रभाषा-राज-भाषा है। इसके अतिरिक्त जो भाषाएँ कविता में आईं वे हैं 'ब्रजभाषा', 'अवधी' और 'राजस्थानी'। लोक-भाषा में कविता लिखने की जो बीज-प्रेरणा भारतेन्दु जैसे कवि को हुई वह वर्तमान शताब्दी में पल्लवित ही नहीं, सफल भी हुई।

इसी २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ के दो दशकों की कविता का यह अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हो रही है। बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष वस्तुतः खड़ी बोली कविता के विकास के बीस वर्ष हैं—उस खड़ी बोली के, जो आज हिन्दी भाषा का दूसरा नाम है।

आज से कोई ६-७ वर्ष पहले मैंने इस कविता का यह अध्ययन आरम्भ किया था। सन १९४४ में वनस्थली विद्यापीठ को जयपुर के भूतपूर्व मंत्री और हिन्दी के लेखक स्व० पुरोहित गोपीनाथ एम. ए. का समृद्ध पुस्तकालय मिला और हिन्दी पुस्तकों के वर्गीकरण का भार मुझ पर आया। उस अस्तव्यस्त ग्रन्थ-राशि में मुझे 'सरस्वती', 'नागरी-प्रचारिणी', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि पत्रिकाओं की पुरानी दुर्लभ प्रतियाँ भी मिलीं। साहित्य का एक सेवक होने के नाते मैंने उनको वहाँ बैठे-बैठे पढ़ना प्रारम्भ किया तो लोक-भारती की कविता के प्रति मेरी सुषुप्त वासना उद्बुद्ध हो गई।

इन पत्रिकाओं के अध्ययन से खड़ी बोली कविता का वह साधना-काल मेरी आँखों के सामने आ गया। मैंने अपने ही उपयोग के लिए कुछ लघु-लेख लेना आरम्भ किया। मैं उन्हीं दिनों आधुनिक हिन्दी कविता का—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अद्यतन—एक अध्ययन प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील था। उसमें अंगभूत यह अनुशीलन बड़ा सहायक हुआ!

शताब्दियों की हिन्दी कविता को देखिए तो उसमें सार्वभारतीय लोक-भाषा का आग्रह प्रथम बार १६ वीं शताब्दी के मध्य से ही प्रारम्भ हुआ। इसके

पहले हिन्दी कविता की भाषा में कहीं परिवर्तन-बिन्दु नहीं है; विकास की स्थितियाँ अवश्य हैं।

भारतेन्दु ने कविता का स्वर बदल दिया। भारतेन्दु-काल से आज तक की हिन्दी कविता के युग को मैंने सोच-समझ कर 'क्रान्ति-युग' नाम दे दिया और आज भी मैं जितना ही इस युग की काव्य-प्रवृत्तियों पर विचार करता हूँ उतना ही 'क्रान्ति-युग' से बढ़कर अच्छा नाम मुझे दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। इसका सम्यक् प्रतिपादन मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी कविता का क्रान्ति-युग' (प्रकाशित १६४७) में किया।

खड़ी बोली की कविता की अजस्र और आयोजित परम्परा तो १६०० ई० से ही प्रारम्भ हुई है। अतः वह तो निश्चित ही परिवर्तन का बिन्दु है—कविता के माध्यम की दृष्टि से; परन्तु अन्तरंग—भाव और काव्य-विषय की—क्रान्ति तो इससे भी पहले हो चुकी थी जिसके प्रवर्तक थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। उधर बंगाल में बंकिमचन्द्र, महाराष्ट्र में चिपलूणकर और गुजरात में नर्मद इस क्रान्ति-युग के अग्रदूत थे। यह संयोग है कि वह समय १८५७ के आसपास आता है जो कि राजनीतिक जगत् में भी एक महान परिवर्तन-बिन्दु है। इसमें आश्चर्य भी क्या है? जीवन अखण्ड और अविभाज्य है। राजनीति और धर्म-नीति, कला और संस्कृति में वह अनविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। ये सब एक ही विराट् वस्तु के विभिन्न पार्श्व हैं। राजनीति जीवन का श्वास है, संस्कृति उसका हृदय है, और समाज आधार-भूमि है, जिसपर वह गतिशील है।

इस (ईसा की बीसवीं) शताब्दी से तो कविता के बहिरंग में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। एक प्राचीन प्रतिष्ठित भाषा के सामने काव्य में अप्रचलित लोक-भाषा को पदस्थ किया गया और इस प्रकार क्रान्ति का दूसरा चरण आया। इसको एक महाक्रान्ति कहा जा सकता है फिर भी इस क्रान्ति को मैंने तो एक विनम्र 'युगान्तर' का नाम दिया है। सम्पूर्ण आधुनिक युग को तो 'क्रान्ति-युग' ही कहना उपयुक्त होगा जिसका यह दूसरा चरण है।

आजकल जो भारत की राष्ट्रभाषा राजभाषा है प्रारम्भ के बीस वर्ष इस ग्रन्थ में आलोचित हैं और यह अवधि कविता में अभूतपूर्व महत्व की है। किस प्रकार हिन्दी की एक उपेक्षित, लोक-मान्य गद्य-प्रयुक्त शैली को कविता का माध्यम बनाये जाने का प्रगतिशील

आन्दोलन चलता है और महावीरप्रसाद द्विवेदी के रूप में उस आन्दोलन का एक प्रवक्ता और प्रहरी ही नहीं एक पोषक और सूत्रधार भी मिल जाता है जिससे एक दशक में ही वह इस स्थिति में आ जाती है कि ब्रज भाषा में कविता करना एक गतानुगतिक या पुरातनवादी प्रवृत्ति बन जाती है। दूसरे दशक में उसमें कलात्मक उत्क्रान्ति आरम्भ होती है और एक दशक तक संक्रांति-स्थिति रहती है।

इस काल का अध्ययन-अनुशीलन देने वाले दो ग्रन्थों की ओर इंगित किया जा सकता है। पहला ग्रन्थ है श्री श्रीकृष्णलाल एम. ए. डी० फिल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००—२५ ई०) और दूसरा श्री केसरी नारायण शुक्ल एम. ए. डी. लिट् का 'आधुनिक काव्य-धारा' (१८८५ से १९४०)।

दोनों ग्रन्थों के स्वरूप और विषय को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि वे उस आवश्यकता को पूर्ण नहीं करते जो इस ग्रन्थ द्वारा की जा रही है। डा० श्रीकृष्णलाल का अध्ययन २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण के समग्र हिन्दी-साहित्य के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है अतः 'कविता' के साथ अधिक पक्षपात तो क्या सम्यक् न्याय भी नहीं किया जा सकता था।

दूसरा ग्रन्थ भारतेन्दु-काल से लेकर वर्तमान-काल तक की कविता की धारा का विकास है अतः उसकी अंगभूत मध्यवर्ती अवस्था का सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण उसमें विशद रूप में नहीं हो सकता था और इसीलिए इस विशेष काल की कविता का अध्ययन प्रस्तुत करने का यह प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा प्रयत्न वर्तमान काल की हिन्दी कविता में सन् १९०१ से २० तक का पुनरुत्थान आलेखित करना है। १९ वीं शताब्दी की कविता की मूलधारा ब्रजभाषा में ही थी, २० वीं शताब्दी से ही वह खड़ी बोली हो सकी और ब्रजभाषा एक उपधारा रह गई। समाज और युग मूलधारा में प्रतिबिम्बित होने लगा और ब्रजभाषा भी उससे प्रभावित हुई। ब्रजभाषा की कविता वरिष्ठ (Classical) वस्तु और सांस्कारिक कला ही रह गई।

प्रबन्ध के 'अन्तरंग-दर्शन' खण्ड में मैंने कविता की विविध धाराओं का अनुशीलन किया है। उनके सम्बन्ध में मुझे कुछ निवेदन करना है।

आख्यानक कविता-धारा सबसे प्रथम है। यह धारा विशेष रूप से इसी काल में समृद्ध हुई है। उसमें हिन्दी की कई कलाकृतियाँ प्रस्तुत हुई हैं। इसके वर्गीकरण की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ।

सामाजिक और राष्ट्रीय कविता-धाराओं का आकलन-आलेखन भी उतना

ही महत्त्वपूर्ण है और समग्र हिन्दी कविता की इन धाराओं के विकास के अध्ययन में उनका अक्षुण्ण स्थान है।

'प्रकृति और प्रेम'—ये दो तत्त्व चिरकाल से हिन्दी-कविता में रहते आये हैं और इसीलिए इनका वर्ग मुझे पृथक् करना पड़ा है। 'प्रतीक' और 'संकेत' के नामकरण में मैं स्वतः थोड़ा संकेतवादी हो गया हूँ। 'प्रतीक' एक ऐसी अभिव्यञ्जनाशैली है, जिसके द्वारा स्वानुभूति की कविता, आत्मगत कविता में एक विशेष आभा, एक विशेष 'छाया' आई। 'संकेत' उसकी अंगभूता लाक्षणिक सांकेतिक प्रवृत्ति का बोधक है, जो कबीर से लेकर महादेवी तक कविता में मिलती है। अंतर इतना है कि कबीर की वाणी में वह भक्ति और दर्शन के उत्संग में है, वहाँ वह जीवन की साधना है, यहाँ वह भावना और काव्योचित अनुभूति की ही वस्तु है। बस इससे आगे उसका क्षेत्र नहीं है। अंतिम कुछ वर्ष तो हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद का आविर्भाव-काल हैं। इन दो नई प्रवृत्तियों का आकलन करने के लिए इनके शैशव को आलोच्य-काल में ही देखना होगा।

'भक्ति और रहस्य'—'भक्ति' का रूढ़ शब्द मैंने ले लिया है। यद्यपि भगवान् या ईश्वर पर लिखी गई प्रत्येक कविता को भक्ति-काव्य कहना तो भक्ति-काव्य का अपमान करना है। उसे 'धार्मिक' तो हम कह ही नहीं सकते। कवीन्द्र-रवीन्द्र के प्रभाव से 'भक्ति'-भावना इस प्रकार 'रहस्य' में मिल जाती है कि दोनों को विभिन्न नहीं किया जा सकता था।

जीवन के 'स्व', 'पर' और 'परोक्ष' पार्श्वों में—जिनमें कविता का समस्त संसार परिसीमित है—इस कविता ने संचरण किया है। 'पर' पक्ष के आलेखन के अंगभूत सामाजिक, राष्ट्रीय और अंशतः आख्यानक कविता-धारा है, तो 'स्व'-पक्ष के दर्शन के अन्तर्गत उसकी वह आत्मानुभूतिमयी—आत्मगत कविता धारा है जिसके क्रोड़ में 'छायावाद' की सृष्टि होती है। 'परोक्ष' सत्ता के प्रति लिखित है 'भक्ति'-परक कविता जो नूतन 'रहस्यवादी' कविता के रूप में पर्यवसित हो गई है। इस प्रकार जीवन का कोई अंग कविता में उपेक्षित नहीं रहा है। क्या इसी गौरव की दृष्टि से वह काल अभूतपूर्व नहीं है ?

इस प्रबन्ध द्वारा आलोचित काल को आज की कविता का शैशव कहकर एक प्रकार से अवगणित किया जाता है, परन्तु मैं अपने इस अध्ययन के आधार पर यह कह सकता हूँ कि एक तो इसी की नींव पर आज की कविता खड़ी हुई और दूसरा यह कि इसमें काव्य की इतनी सामग्री है कि वह हमारी आँखें

खोलने के लिए पर्याप्त है। यह अध्ययन प्रकाशित कविता और इस प्रकार ज्ञात कविता के आधार पर ही है, परन्तु इससे काल की कविता के अध्ययन की रूपरेखा में कोई अन्तर नहीं आ सकता। हाँ, विशदता अवश्य आ सकती है।

प्रबन्ध की मौलिकताएँ

प्रबन्ध के एक खण्ड ('कविता का क्रम-विकास') में मैंने इस नई कविता की उन चार कोटियों अथवा अवस्थाओं का दिग्दर्शन किया है जो कविता के नव-नूतन प्रारम्भ में आती हैं। जिस लोकभाषा की कोई काव्य-परम्परा ही न रही हो उसमें कविता की सृष्टि और सिद्धि होना एक साधना है। मैंने उस विकास को चार स्थितियों (१) चमत्कारात्मक (२) इतिवृत्तात्मक, (३) उपदेशात्मक और (४) भावात्मक में देखा है। इससे भिन्न और कोई स्थितियाँ नहीं हो सकतीं थीं।

प्रकृति सम्बन्धी कविता का जो विभाजन मैंने किया है वह ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। उसमें भी मेरी पर्याप्त मौलिकता है।

इसी प्रकार का है, *राष्ट्रीय कविता* की प्रवृत्तियों का विश्लेषण। 'राष्ट्रीय' शब्द कुछ भ्रामक है। अंग्रेजी में जिसे नेशनल (National) कहा जाता है, वह हिन्दी में 'राष्ट्रीय' है। कदाचित् 'राष्ट्रीय' का हम इतना ऊँचा अर्थ नहीं लगाते। वस्तुतः जिसे 'नेशनलिस्ट' कहेंगे, वही 'राष्ट्रीय' कविता है। इस 'राष्ट्रीय' कविता में दो मुख्य धाराओं का पृथक्करण और राष्ट्रवाद का तात्विक विश्लेषण भी उल्लेखनीय है।

काव्य की मूलधारा (खड़ी बोली) का अध्ययन मेरा अभिप्रेत है, परन्तु प्राचीन धारा, ब्रजभाषा, से मैं कहाँ तक तटस्थ रह सकता था? इस काल में *'प्राचीन (ब्रजभाषा) परम्परा'* की क्या गति-विधि थी? इसे कैसे उपेक्षित किया जा सकता था?

कवि और काव्य द्वारा मैंने इस सम्पूर्ण काव्य निधि का मूल्यांकन किया है, कवित्व-कला के दिग्दर्शन की दृष्टि से। इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि कवि अपनी काव्य-कृतियों द्वारा कविता-कला की कौनसी कोटि उपलब्ध करता है, यह एक विशेष दृष्टि आलोचना की होती है। यह अध्ययन काव्य-प्रवृत्तियों का है, उनका कलात्मक पक्ष संकेतित होते हुए भी उपेक्षित ही रह जाता यदि मैंने अन्तिम प्रकरण 'कवि और काव्य' में इसी पर ध्यान केन्द्रित न किया होता। इस प्रकरण में आलोच्य-काल की दो-तीन कृतियों पर विशेष रूप

से और भावी युग के प्रतिनिधि 'प्रसाद', 'निराला' और 'पन्त' के तत्कालीन कृतित्व को दृष्टि में रखते हुए उनकी काव्य-कला पर कुछ बिन्दु-सूत्र दिये हैं।

आगामी छायावाद-काव्य का प्रथम आभास और उज्ज्वल आलोक इस काल में दिखाई देने लगा था। इस कारण मैंने छायावाद और रहस्यवाद की भूमिकायें दी हैं—उनको हृदयंगम किये बिना 'छायावाद-रहस्यवाद' का सम्यक् मूल्यांकन हो नहीं सकता था।

अन्त में एक विनम्र निवेदन हिन्दी साहित्य के कर्णधारों से है। हिन्दी कविता में यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि जो एक प्रान्त की बोली थी वह काव्य की भाषा होने से ही हो गई व्रज 'भाषा' और 'खड़ी' बोली जो आज सारे देश की (राष्ट्र की) भाषा हो गई है और कविता की एकमात्र भाषा है वह अभी तक खड़ी 'बोली' ही कहलाती है ! साहित्यिक रूढ़ि भी कितनी अमिट और अपरिहार्य है ! क्या भारत की इस भाषा को 'भारती' नहीं कहा जा सकता ? मेरी समझ में तो इसका यह नाम उपयुक्ततम भी है। आज के भारत की भाषा 'भारती' है, इसका अर्थ वही है जो 'हिन्दी' का है, परन्तु 'हिन्दी' में एक व्यापकता है अर्थ की—उसमें 'राजस्थानी' से लेकर मैथिली और पहाड़ी से लेकर बुन्देलखंडी तथा छत्तीसगढ़ी बोली तक का समावेश है। मीरा और विद्यापति दोनों हिन्दी के गौरव हैं। इसलिए खड़ी बोली के संकुचित अर्थ में हमें 'भारती' का प्रयोग करना आरम्भ कर देना चाहिए। आखिर, भारत से बाहर वालों के लिए भी तो हमें इस खड़ी बोली के लिए गौरवपूर्ण नाम रखना ही पड़ेगा। हम कब तक इसे किसी की राजसभा में 'खड़ी' रक्खेंगे ? उसे सिंहासन पर बैठने का अधिकार कब तक नहीं मिलेगा ?

प्रस्तुत प्रबन्ध में आलोचना-सम्बन्धी प्रचलित शब्दों से किंचित भिन्न कुछ शब्द-रूप मैंने दिये हैं जो पारिभाषिक हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय है 'वर्गिष्ठ' (Classical)। इसके अतिरिक्त अनुरञ्जकत्व, भावकत्व, उपदेशकत्व भी नये शब्द हैं। इसके अर्थ में प्रयोज्य अन्य समुचित शब्दों के अभाव में, ये अभिनन्दनीय होंगे। 'धर्म-विपर्यय', 'रंग', 'रूप', 'रेखा' आदि 'मानवीभाव' भी उल्लेखनीय हैं।

'आत्मगत' और 'परगत'—Subjective और Objective के अर्थ में— भी मेरे अपने शब्द हैं। मुझे अन्तर्भावव्यञ्जक, अन्तर्वृत्ति-निरूपक वाह्यार्थ-निरूपक आदि शब्द कविता की ही भूमिका में सीमित प्रतीत हुए और ऐसी प्रतीति विद्वान पाठकों को भी होगी। ये दो शब्द आजकल अतिप्रयुक्त हैं जीवन की दृष्टि में, अतः इनके लिए समीचीन शब्द-निर्वाचन मुझे करना पड़ा।

'आत्म' और 'पर' हमारे जाने-बूझे दार्शनिक शब्द हैं जिनका उपयोग हम धर्म और तत्त्वज्ञान (Philosophy) आदि की भूमिका में करते हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक (Historical) और इतिहासिक (Historic) राजनीतिक (Politic) और राजनैतिक (Political) आदि का विभेद भी उल्लेखनीय है।

इस अध्ययन को सर्वांग संपूर्णरूप में प्रस्तुत करने में मैंने पूरा परिश्रम किया है। कलेवर-वृद्धि का कारण भी यही है, यद्यपि मुझे यह अब भी छोटा ही लगता है।

मुझे विश्वास है मेरी यह कृति हिन्दी कविता के इस युगान्तर को सच्चे रूप में समझने में सहायक होगी। इससे अधिक इस अपनी कृति के विषय में मैं और क्या कहूँगा ?

मैं स्वर्गीय पं० गोपीनाथ पुरोहित के व्यक्तित्व की स्मृति के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके भंडार से मैंने यह प्रेरणा ली। इसके अतिरिक्त महाराजा कालिज तथा सार्वजनिक पुस्तकालय जयपुर, नवरत्न-सरस्वती सदन, झालरापाटन, गयाप्रसाद पुस्तकालय कानपुर, मारवाड़ी पुस्तकालय दिल्ली, और आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली के अधिकारियों का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे ग्रन्थ सुलभ किये। श्रद्धेय गुप्त बन्धुओं, श्री गिरिधर शर्मा, श्री हरिभाऊ उपाध्याय तथा श्री प्रो० रामकृष्ण शुक्ल जैसे समादरणीय साहित्यकारों तथा विद्वज्जनों से भी मुझे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य इस काल के विदित हुए हैं अतः इन्हें मैं प्रणाम करता हूँ और इस आशा से कि यह प्रबन्ध हिन्दी कविता के अध्ययन में एक विशेष अध्याय जोड़ेगा यह प्रास्ताविक समाप्त करता हूँ।

गांधी-जयन्ती २००७
२ अक्टूबर १६५०

सुधीन्द्र

★

पारिभाषिक शब्दावली

इस ग्रंथ में निम्नांकित पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

[हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी रूप]

अन्तर्चेतना	Intuition
वर्गिष्ठ	Classical
अतुकान्त छन्द	Blank verse
काव्य-विषय	Theme
तुक	rime (rhyme)
गीति-रूपक	opera
आत्मगत	Subjective
पर-गत	Objective
पवित्रतावाद	Puritanisn
वीर-गीत	Ballad
महाकाव्य	Epic
'संबोध'	Ode
प्रतीकवाद	Symbolism
मानवीभाव, 'मानवीकरण'	Personification
धर्म-विपर्यय : 'विशेषण-विपर्यय'	Transferred Epithet

[अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी रूप]

privilege	प्राधिकार
Inferiority complex	हीनम्मन्यता
Phenomenon	संघटना
Extremists	उग्र (गरम) दल
Moderates	सौम्य (नरम) दल
Terrorism	आतंकवाद
Instruction	प्रबोध
Unitarian	एकेश्वरवादी
Non-moral	नीति-निरपेक्ष
Keynote	मूल-स्वर
Nationalism	राष्ट्रवाद
Patriotism	देशभक्ति
Deification	दैवीकरण
Hero-worship	वीर-पूजा

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(अंग्रेजी)

Discovery of India	:	Jawaharlal Nehru
Raja Ram Mohan Roy	:	N. C. Ganguly
History of the Congress	:	Pattabhi Sitaramayya
Gitanjali	:	Rabindranath Tagore
Hundred Poems of Kabir	:	Rabindra Nath Tagore
Letters from Swami Vivekananda	:	Rama Krishna Mission
XIX Century Essays.		

(बंगला)

चयनिका	:	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
गीतांजलि	:	,,

(उर्दू)

मद्दोजजे इस्लाम	:	मौलाना हाली

(संस्कृत और हिन्दी)

विष्णु पुराण, अथर्ववेद, यजुर्वेद, श्रीमद्भगवद्गीता

काव्यादर्श	:	दण्डी
काव्य-प्रकाश	:	मम्मट
छन्दः प्रभाकर	:	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
छान्दसी	:	सुधीन्द्र

हिन्दुस्तान की कहानी : जवाहरलाल नेहरू (अनु० रामचन्द्र टण्डन)
सत्यार्थप्रकाश : स्वामी दयानन्द सरस्वती
आधुनिक भारत : आचार्य जावड़ेकर (अनु० हरिभाऊ उपाध्याय)
काँग्रेस का इतिहास : डा० पट्टाभि सीतारामय्य
कविता-कौमुदी (१-२) : रामनरेश त्रिपाठी
कविता-कौमुदी (उर्दू) : ,,
कविता कौमुदी (बंगला) : ,,
इतिहास-प्रवेश : जयचन्द्र विद्यालंकार
हिन्दी कविता का क्रांतियुगः सुधीन्द्र
द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ : काशी नागरी प्रचारिणी सभा
भारतेन्दु ग्रन्थावली : ,,
रसज्ञ-रंजन : महावीरप्रसाद द्विवेदी
काव्य और कला : जयशंकर प्रसाद (सम्पादक नन्ददुलारे वाजपेयी)
हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी नन्ददुलारे वाजपेयी
हरिश्चन्द्र : ब्रजरत्नदास
हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल

सरस्वती, मर्यादा, इन्दु, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्रभा, प्रताप भारत मित्र, हिन्दोस्तान आदि की संचिकाएँ।
हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनों के भाषण

[द्विवेदीकाल चक्र से भिन्न वे ग्रन्थ जो आगे-पीछे प्रकाशित हुए]

मनोविनोद (१८८५) } श्रीधर पाठक
एकान्तवासी योगी }
परिमल, प्रबन्ध-पद्य और प्रबन्ध-प्रतिभा : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
पल्लव और वीणा-ग्रन्थि : सुमित्रानन्दन पन्त
आधुनिक कवि (२) : ,,
हिन्दू, मेघनाद-वध : मैथिलीशरण गुप्त
द्विवेदी-काव्य-माला : महावीर प्रसाद द्विवेदी
गीता-माता : महात्मा गांधी
जीवन-शोधन : किशोरलाल मशरूवाला

विषयानुक्रम

१. पूर्वाभास (पृष्ठ १-६)

२. जीवन की पृष्ठभूमि (पृष्ठ ७-५६)

क: सांस्कृतिक पीठिका : नवचेतना—(१) ब्राह्मसमाज ११, (२) आर्यसमाज १४, (३) वेदान्त और विवेकानन्द १५, (४) गांधी और अहिंसावाद १७.

ख: राजनीतिक गतिविधि : स्वराज्य की ओर—राजनीति की त्रिविध शक्तियाँ २२, शासन-सुधारवाद २३, क्रान्तिवाद २५, आतंकवाद २६, सम्प्रदायवाद २७, खिलाफ़त आंदोलन २९, दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह ३०, प्रथम यूरोपीय महासमर ३१, रूस की क्रान्ति ३१, राष्ट्रीयता का दूसरा ज्वार ३१, गांधी का प्रवेश ३२, गांधी-युग का सूत्रपात ३३.

ग: सामाजिक स्थिति : सुधार और प्रगति—आर्थिक दशा ३७, नैतिक दशा ३९.

घ: कला और साहित्य : नवोत्थान—देशभाषा हिन्दी ४३, हिन्दी भाषा और नागरी लिपि ४५; साहित्यिक नवोत्थान : ज्ञान का जागरण ४७.

ङ: साहित्य की प्रेरक युग-प्रवृत्तियाँ : बुद्धिवाद ५०, आदर्शवाद ५१, जनवाद और मानववाद ५३, राष्ट्रवाद ५४, स्वच्छन्दवाद ५५.

३. कविता का सर्वोदय (पृष्ठ ५७-११५)

क: काव्योत्थान का प्रथम चरण : भारतेन्दु-काल का मूल्यांकन ५९.

ख: क्रांति का द्वितीय चरण : द्विवेदी-काल ६१.

ग: क्रांति की साधना : रूपरेखा.

१. क्रांति के इंगित और पदचिह्न ६८—छन्द ६९, भाषा ७१, अर्थ ७२, विषय ७३.

२. 'रूप' की क्रान्ति—'नूतन भाषा-विधान' ७४—खड़ी बोली की परम्परा ७५,—खड़ी बोली कविता-आंदोलन का सूत्रपात ७८; 'अभिनव छन्द विधान' ८६,—अमित्र छन्द ९४, मुक्तछंद १०१.

३. 'रंग' की क्रांति—'नूतन विषय-विधान' १०३, कविता के

विषय—स्व.-पर-परोक्ष १०४, 'अभिनव अर्थ-विधान' १०६—अर्थ-सौरस्य की प्रक्रिया ११२.

४. कविता का क्रम-विकास (पृष्ठ ११७-१६१)

क: चमत्कारात्मक कोटि : 'सूक्ति काव्य' ११६—अन्योक्ति १२१, सूक्ति और सुभाषित १२४.

ख: वर्णनात्मक कोटि : 'इतिवृत्तात्मक काव्य' १२६—वस्तु-जीवन की प्रतिक्रिया १२८, अंग्रेजी साहित्य का सम्पर्क १३१, संस्कृत काव्य का अनुसरण १३५.

ग: उपदेशात्मक कोटि : 'नीति-काव्य' १४०, आदर्शवाद १५०, युगधर्म या शाश्वत धर्म ? १५४.

घ: भावात्मक कोटि : 'भाव काव्य' १५६.

५. अन्तरंग-दर्शन (१६३-३६६)

१—आख्यानक कविता-धारा (१६५-१९८)

प्राक्तन धार्मिक श्रद्धा १६५, अतीत गौरव का दर्शन १६६, वीर-पूजा की भावना १६७, मानवीय आदर्श और यथार्थ १६८.

(क) *पौराणिक आख्यान* १६९ : रामकृष्ण चरित काव्य (प्रिय-प्रवास १७४, जयद्रथवध १७६, साकेत १७७ आदि)

(ख) *ऐतिहासिक आख्यान* १८१ : मौर्य-विजय १८३, महाराणा का महत्त्व १८४ आत्मार्पण १८४, प्रणवीर प्रताप १८५, गांधी-गौरव १८५, वीर-गीत (वीर पञ्चरत्न) १८७, रंग में भंग, विकटभट आदि १८९.

(ग) *काल्पनिक आख्यान* १८९ : प्रेमपथिक १९१, मिलन और पथिक १९२, किसान और अनाथ १९३, भाव-काव्य १९५—पवन-दूत १९५, देवदूत १९६

(घ) *अनुवादित आख्यान* १९६ : (मेघदूत १९६, मेघनाद वध १९६, विरहिणी ब्रजांगना १९६, बुद्ध-चरित १९७ इत्यादि

२—सामाजिक कविता-धारा (१९९-२१८)

समाज की प्रेरणायें और प्रवृतियाँ २००, नैतिक पक्ष २०२, सांस्कृतिक जीवन २०५, धार्मिक जीवन २११, आर्थिक जीवन २१४, पीड़ित-शोषित वर्ग २१७, राजनैतिक जीवन २१९, आदर्शवाद की धारा २२०.

५—राष्ट्रीय कविता-धारा (२२६-२६१)

देशभक्ति की धारा २३७ : वन्दना-गीत २३७, प्रशस्ति-गीत २४४, वर्तमान-चिन्तन २४६, जागरण गीत २४८, अभियान-गीत २५१।

राष्ट्रवाद की धारा २५४ : अतीत का गौरवगान २५६, वर्तमान के प्रति क्षोभ और आक्रोश २५६, भारत-भारती की प्रेरणा २६१, वीर-पूजा और प्रशस्ति २६५, भविष्य का इंगित २६७, राजनैतिक पक्ष राष्ट्रीय जीवन का स्पंदन २६६, 'जीवन और जाग्रति' २६६, 'बल और बलि' २७५, 'राष्ट्रीय प्रतीकवाद और प्रशस्ति २८६।

६—प्रकृति और प्रेम (२६२—३२०)

प्रकृति साध्य रूप में—अनुरंजकत्व २६३, भावकत्व २६८, उपदेशकत्व ३०६, प्रकृति : साधन रूप में—उद्दीपकत्व ३१०, रूपकत्व ३११

प्रेम : ३१४, प्रेम-काव्य ('प्रेम पथिक', 'शिशिर पथिक', 'मिलन', 'ग्रन्थि' आदि ३१५-२०)।

७—'भक्ति' और 'रहस्य' (३२१-३५२)

सगुण : श्रद्धामूलक धारा ३२२, निर्गुण : बुद्धिमूलक धारा ३२२, 'अवतारवाद' ३२४, आस्तिकवाद ३२८, ईश्वर का अधिनायकत्व ३३३, व्यापकत्व ३३५, लोकरक्षकत्व ३३६, रवीन्द्र की छाया में ३३७, 'कर्मयोग' और मानवसेवा ३३६, रहस्य-भावना ३४३।

८—प्रतीक और संकेत (३५३-३६६)

आत्मगत कविता का बीज और विकास ३६१, अन्योक्ति और प्रतीक ३६२, राष्ट्रीय प्रतीकवाद ३६४, हृदयवाद ३६६, संकेतवाद ३६८; आत्मानुभूतिमयी कविता और छायावाद ३६६, 'रहस्य-वाद' : 'छायावाद'—आध्यात्मिक संकेतवाद ३७७, छायावाद की अस्पष्टता ३७२, प्रेम और वासना ३७४, प्रकृति-दर्शन : सर्व-चेतनवाद ३७६, छायावाद के उपादान—निगूढ़वेदना ३८३, विस्मयभावना ३८५, सूक्ष्म तत्त्वबोध ३८५, कल्पना का व्यापक प्रसार ३८६, कलापक्ष : लाक्षणिक भंगिमा ३८७, लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक ३८८, धर्म-विपर्यय ३८८ मानवीभाव ३८६, रूप-व्यञ्जना ३६०, ध्वन्यर्थ-व्यंजना ३६२ छायावाद-रहस्यवाद—एक स्पष्टीकरण ३६३, रहस्य की सीमा पर ३६४, 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' की दार्शनिक व्याख्या ३६६।

६. कला-समीक्षा (३६६-५२० अन्तिम पृष्ठ)

१—रूप और रस

क : काव्य के रूप : (३६६-४०१)

ख : भाषा-विन्यास : (४०२-४१७)

विकास की सीमा ४०२, भाषा का आदर्श ४०३.

ग : छन्द-विन्यास : ४१८ : छन्दों का पुनरुत्थान ४१८, हिन्दी छन्द पर शास्त्रीय दृष्टि ४१८, लय और अन्त्यानुप्रास ४२०, स्वच्छन्द प्रयोग ४२४, संस्कृत का 'संस्कार' ४२७, उर्दू का प्रभाव ४२८, अंग्रेजी का प्रभाव ४३०, बंगला का प्रभाव ४३३, मात्रावृत्त ४३५, गीत-विन्यास ४३८, गीत-परम्परा ४३९, पदगीत-भजन-गीत ४३९, गजल गीत ४४२, प्रगीत ४४६, अंग्रेजी गीत-रूप ४५०, मुक्त छन्द ४५१ रसानुकूल छन्द-प्रयोग ४५२.

घ : रस और अलङ्कार : ४५४, शास्त्र के आलोक में ४५४, रस ४६०, रूप-चित्रण ४६०, भाव-चित्रण ४६३, वियोग-पक्ष ४६५, शोक भाव : करुण रस ४६६, शोकगीत ४६७, उत्साह-भाव : वीर रस ४६८, क्रोधभाव : रौद्ररस ४७०, वात्सल्यभाव ४७०, भयभाव ४७१, हास्य-व्यंग्य-विद्रूप ४७२ वीभत्स : शान्त ४७२, अलंकार ४७३, अनुप्रास ४७४, यमक और श्लेष ४७७, प्रोक्ति-प्रयोग ४७८, उपमा ४७९, रूपक ४८२, उत्प्रेक्षा ४८३, सन्देह ४८३, अपन्हुति ४८४, उल्लेख ४८४, असंगति-अन्योक्ति ४८५, स्वभावोक्ति-विरोधाभास ४८७.

२—कवि और काव्य

प्राचीन परम्परा : श्रीधर पाठक ४८९, देवीप्रसाद 'पूर्ण' ४९३, सत्यनारायण कविरत्न ४९४, रामचन्द्र शुक्ल ४९६, जयशंकर 'प्रसाद' ४९७.

भारती की धारा : श्रीधर पाठक ४९९, हरिऔध और प्रिय-प्रवास ५०१, मैथिली शरण गुप्त और 'साकेत' ५०६, 'पूर्ण' ५१२, 'शंकर' ५१२, 'सनेही : त्रिशूल' ५१३, अन्य कवि ५१४, जयशंकर प्रसाद ५१६, 'एक भारतीय आत्मा' ५१७, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ५१७, सुमित्रानन्दन पन्त ५१९, नवयुग की किरण ५२१.

: १ :

पूर्वाभास

मानव-समाजशास्त्र के नियम से जब तक प्रगतिशील शक्तियाँ किसी परतंत्र देश को अभिभूत नहीं करतीं तब तक उसमें उद्बोध और चेतना का स्फुरण नहीं होता। यह महादेश आज जिस 'आधुनिक चेतना' के फलस्वरूप उन्नत और प्रबुद्ध राष्ट्रों के समकक्ष होने की स्पर्द्धा कर रहा है उस चेतना का जन्म ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुका था क्योंकि इसी शताब्दी में भारतीय और यूरोपीय संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का समागम हुआ। यूरोप ने भारत को जाना, भारत ने यूरोप को जाना और वास्तव में भारत ने अपने आपको पहिचाना। बीसवीं शताब्दी के जीवन और साहित्य में यही चेतना नवजागरण के रूप में प्रतिफलित होती हुई दिखाई दी।

इस नवजागरण का श्रेय अंग्रेज़ जाति को है। वस्तुतः यह एक मनोरंजक विरोधाभास ही है कि भारतवर्ष की शासक अंग्रेज जाति के ही शिक्षाशास्त्री, प्राच्य विद्याविशारद, साहित्यस्रष्टा, पत्रकार, मिशनरी और राजनेता महानुभावों ने नवीन विश्व-सभ्यता और संस्कृति को भारत में लाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

विदेशी शासकों ने यद्यपि आधुनिक शिक्षा के प्रसार के 'दुष्परिणामों' से डरते हुए उसमें बाधायें ही डालीं परंतु योग्य और उदार अंग्रेजों ने आगे बढ़कर उत्साही भारतीय विद्यार्थियों और शिक्षार्थियों के समूह को जुटाकर उन्हें आंग्ल विचार और साहित्य से परिचित किया। पहिले सूरत और फिर कलकत्ता इस नूतन बाह्य प्रभाव के प्रथम केन्द्र बने। इस प्रकार पश्चिमी और पूर्वी अञ्चलों से भारत में एक ऐसी नई वस्तु आई कि जिसने युग-परिवर्तन की शक्तियाँ प्रस्तुत कर दीं! विदेशी राजशासन को राज-काज के लिए क्लर्कों के उत्पादन और शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ी। उनके धर्म ने भी जड़ें जमाना आरम्भ किया।

फलतः ज्ञान और शिक्षा का प्रसार हुआ और यद्यपि वह 'सीमित और प्रतिकूल' शिक्षा थी, उसने नये भावों और गतिशील-प्रगतिशील विचारों के लिए भारतीय मानस के द्वार और वातायन उन्मुक्त कर दिये। इस प्रकार भारतीय मानस में 'आधुनिक चेतना' का जन्म हुआ।

मुद्रणालय और दूसरे यंत्र भी भारतीय मानस के लिए भयङ्कर विस्फोटक माने गये, परंतु प्रवेश उनका भी अनिवार्य हो गया। मुद्रणालय के प्रचार-प्रसार ने भारत की सभी लोकभाषाओं की समृद्धि को प्रोत्तेजन दिया। एक समुन्नत समृद्ध वाङ्मय (अंग्रेजी) की निधि जब बंगला, मराठी, हिन्दी-उर्दू को सुलभ हुई तो उन्होंने उसके संघर्ष और सम्पर्क द्वारा अपने-अपने साहित्य की सर्वांगीण अभिवृद्धि देखी।

इस जागरण में यातायात और संवहन के साधनों, रेल, डाक, तार आदि का बड़ा योग है। विस्तृत-विस्तीर्ण भू-प्रदेश के विस्तार को इन्होंने छोटा तो अवश्य कर दिया, परन्तु एक प्रदेश या प्रान्त की संकीर्णता और लघुता को देश के दूसरे अङ्गों से सम्बद्ध करके विशाल भी बना दिया। भारतीय जीवन में सबसे पहिले मानस-क्रांति हुई, जिसके प्रतीक थे 'ब्राह्म समाज' और 'आर्य समाज', 'प्रार्थना समाज', 'रामकृष्ण मिशन' और 'थियोसॉफिकल सोसाइटी'।

राजनीति के क्षेत्र में स्वशासन और स्वाधिकार प्राप्ति की भौतिक क्रांति हुई, जिसकी प्रतीक थी भारतीय राष्ट्र सभा (कांग्रेस) और अन्य राजनीतिक प्रवृत्तियाँ; जो स्वराज्य की स्थापना में यत्नशील हुईं।

वाङ्मय के क्षेत्र में गुजरात में नर्मद, बंगाल में बंकिमचन्द्र और माइकेल मधुसूदन तथा 'हिन्द' (हिन्दी भाषी) प्रदेश में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव युग-परिवर्तन का सूचक है।

नई सभ्यता का संपर्क और संसर्ग इस प्रकार भारत में सर्वतोभद्र उन्नति और उत्कर्ष का बीजकारण हुआ। सर्वांगीण दृष्टियों से सशक्त और समृद्ध 'जाति' के सम्पर्क से ही इस देश की संस्कृति में 'नवचेतना' की, राजनीति में 'स्वशासन' और 'स्वतन्त्रता' की, अर्थ-नीति में स्वावलम्बन और समृद्धि की, रीति-नीति में उन्नति और प्रगति की, साहित्य-कला में नवजागरण और नवोत्थान की प्रक्रियाएं गतिशील हुईं।

वैज्ञानिक दृष्टि ने जीवन में मानसिक (हार्दिक और बौद्धिक) काया-कल्प कर दिया। नवयुग के विशाल व्यापक प्रभाव का विश्लेषण करें तो

(१) बुद्धिवाद, (२) आदर्शवाद (३) जनवाद (४) मानववाद, (५) राष्ट्रवाद और (६) स्वच्छन्दवाद (व्यक्तिवाद) की प्रवृत्तियाँ जीवन में प्रेरक सिद्ध होंगी। वे उसके भावलोक और कर्मजगत् में लक्षित होती हुई स्पष्ट होती हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हिन्दी-कविता से है। कविता (तथा समग्र साहित्य) के क्षेत्र में क्रान्ति का प्रथम चरण-निक्षेप उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ और दूसरा बीसवीं सदी के प्रथम चरण में। प्रथम चरण में कविता की अन्तरंग (भाव-विषयगत) क्रान्ति ही समाविष्ट है; द्वितीय चरण में, जिसमें प्रस्तुत अध्ययन सीमित है, ऐसी क्रान्ति हुई जो स्थूल दृष्टि से बहिरंग है परन्तु अन्ततः वह कविता में आमूल क्रान्ति ही है, क्योंकि अन्तरंग क्रान्ति भी उसकी सहचारिणी है। जिस हिन्दी में कविता की सृष्टि ब्रज, अवधी इत्यादि प्रांतीय बोलियों के माध्यम से हुई थी, उसी में २० वीं शताब्दी की कविता ने लोकभाषा-राष्ट्रभाषा 'खड़ी बोली' हिन्दी (या भारती) का माध्यम ग्रहण किया। इस प्रकार इसे (हिन्दी की) कविता का पुनर्जन्म ही कहना चाहिए।

प्रथम दो दशकों में इस नई कविता ने अपनी शैशव, बाल्य, कौमार्य, कैशोर्य और यौवन—सभी आयु-अवस्थाएँ देखीं और वर्तमान के अनुकूल-अनुरूप उन्नत और समृद्ध रूप पाया। कविता के विकास की सभी कोटियाँ—चमत्कारात्मक, इतिवृत्तात्मक, उपदेशात्मक और भावात्मक—पार करती हुई वह समृद्धि के द्वार पर आ गई। इस प्रक्रिया में उसने जीवन के, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक-आर्थिक सामाजिक, सभी पार्श्वों से प्रेरणा और प्रेम, प्रकृति, देशभक्ति, उपासना, पुराण-इतिहास आदि तत्त्वों से रस ग्रहण किया। सम्पन्न-समृद्ध काव्यभाषा की ऐसी कोई उपलब्धि नहीं, जिससे हिन्दी कविता वंचित रही हो। संसार में व्यक्ति-जीवन के 'स्व' और 'पर' एवं परोक्ष सत्ता—तीनों पक्षों को कविता ने अपनाया। कविता की सभी रूप-विधाओं—स्फुट और प्रबंध, लघुकाव्य, खण्डकाव्य और महाकाव्य, गीतिरूपक, गीतिकाव्य और चम्पू—का निर्माण इस काल में हुआ। इस प्रकार एक नूतन काव्य-राशि संचित हो गई।

कलापक्ष भी कम समृद्ध नहीं रहा। कविता की अभिव्यक्ति ऋजु और सरल रही परन्तु अर्थ-गौरव के गुण से शून्य भी नहीं; प्रारम्भिक प्रयोग के कारण पदावली क्लिष्ट और श्रुतिकटु रही किन्तु लालित्य और सौष्ठव से

अस्पृश्य भी नहीं; कविता 'मनोरंजन' और 'उपदेश' के धर्म-कर्म में निरत रही, किन्तु उदात्त सन्देश के साथ रस-ज्ञान के मर्म से वंचित भी नहीं। वह बहिर्जगत् के वर्णन में चेतन और मुखर रही, किन्तु अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति में जड़ और मौन भी नहीं; एक वाक्य में छन्द-रचना की प्रारम्भिकता से लेकर काव्य-सृष्टि की पूर्णता तक की साधना प्रस्तुत काल की नई कविता में है।

: २ :

जीवन की पृष्ठभूमि

भारतीय जीवन और साहित्य में जो युगान्तर आया उसका श्रेय आंग्ल-भारतीय सम्पर्क को है। पिछली शताब्दी से जिस 'आधुनिक चेतना' का जन्म भारतीय जीवन में हुआ था वही वर्तमान शताब्दी में विकसित हुई है।

महाजागरण का यह अनुष्ठान दैवी प्रतिभा के चमत्कार से ही नहीं हो गया। भौतिक परिस्थितियों ने ही महाक्रान्ति की इन शक्तियों को संघटित किया। वृहद्यन्त्र-सभ्यता के अग्रदूत अंग्रेज प्रभुत्ववान् होकर विश्व की अग्रगण्य शक्ति बने। इसी जाति ने मध्ययुगीन रीति-नीति में निगड़बद्ध भारत में राज्य स्थापित कर लिया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में—

"अंग्रेज भारत में प्रभुतावान होकर विश्व की अग्रगण्य शक्ति ही इसलिए बन सके कि वे नवीन वृहद्‌यंत्रमूलक औद्योगिक सभ्यता के अग्रदूत थे। वे उस नवीन इतिहासिक शक्ति के प्रतिनिधि थे जो विश्व में रूपान्तर लाने वाली थी और इस प्रकार वे, अपने आपसे अज्ञात रूप में, परिवर्तन और क्रान्ति के अग्रदूत और प्रतिनिधि हो गये।" ×

अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ आई अंग्रेजी सभ्यता, अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी, शिक्षा, साहित्य और अंग्रेजी विचार। दो शिष्ट-सभ्य राष्ट्रों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ और अल्पप्रबुद्ध राष्ट्र (भारत) के लिए वह अधिक हित-कर हुआ। भारतीय मानस के बन्द द्वार और वातायन नये भावों और गति-

---

×"The British became dominant in India, and the foremost power in the world, because they were the heralds of the new big-machine industrial civilisaticn. They represented a new historic force which was going to change the world and were thus, unknown to themselves, the fore-runners and representatives of change and revolution."

—'डिस्कवरी आव इण्डिया'

शील-प्रगतिशील विचारों के लिए उन्मुक्त हो गये। नये आघात से भारत की मध्ययुगीन संस्कृति की आचार-विचार, रीति-नीति, प्रथा-परम्परा की नींव हिल उठी। जड़ीभूत पुरातन समाज पर यह आघात वर्गों और श्रेणियों के नूतन सम्बन्धों के रूप में घटित हुआ। वर्ग, जाति, सम्प्रदाय और प्रान्त के छोटे-छोटे कठघरों में विदीर्ण भारतीय समाज धीरे-धीरे उच्च और निम्न, लघु और गुरु की मध्ययुगीन भावना से हटकर सामाजिक समता, धार्मिक समन्वय और राष्ट्रीय एकता की चेतना की ओर उन्मुख हुआ। चेतना का स्पन्दन उच्च स्तर से प्रारम्भ हुआ, पर इसका कम्पन धीरे-धीरे उच्च स्तर से निम्न स्तर तक पहुँचा और संकीर्ण-संकुचित वृत्तों में विभक्त देश के, समाज के नैतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक पार्श्वों को छूता हुआ व्यापक विशाल जीवन लहराने लगा।

भौतिक परिभाषा में यही अभ्युदय या प्रगति है और इसी की अभिव्यक्ति देश के साहित्य और कला, ज्ञान और विज्ञान के पुनरुज्जीवन और पुनरुत्थान के रूप में हुई है।

नवचेतना और नवजागरण का सहज परिणाम था युग-युग की भारतीय जड़ता में मानसिक क्रान्ति का आविर्भाव। शताब्दियों से अतीत की ओर आँख मूँदे हुए निद्रामग्न समाज में एक जाग्रति, एक उत्थान दिखाई दिया और उसे अपने अतीत के निरीक्षण-परीक्षण की दृष्टि मिली। पुरातन श्रद्धा और विश्वास के स्थान पर तर्क और विवेक प्रतिष्ठित हुआ, अन्धविश्वास और जड़ रूढ़ि पर विज्ञान ने विजय पाई, स्थिरता और गतानुगति ने गति और प्रगति को आत्मसमर्पण किया एवं दासता और बन्धन में स्वतन्त्रता और मुक्ति की भावना का अभिनन्दन हुआ।

यों तो जीवन के विभिन्न पार्श्व समाज और राज, नीति और धर्म, कला और साहित्य परस्पर अभिन्न और अविभाज्य हैं, परन्तु स्थूल प्रक्रियाओं की प्रतिक्रिया सूक्ष्म तत्त्वों में घटित होती है। भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव समाज की संस्कृति और सभ्यता पर हुआ और धीरे-धीरे साहित्य-कला की सूक्ष्म प्रवृत्तियों तक पहुँचा। इस प्रकार यह पुनर्जागरण और पुनरुत्थान सर्वांगीण था। जीवन और साहित्य में क्रान्ति और युगान्तर युगपद होते हैं।

बीसवीं शताब्दी में वाङ्मय और विशेषतः कविता में १९वीं शताब्दी की कई लौकिक शक्तियों और वस्तुतः उसके आंदोलनों और परिस्थितियों का प्रभाव आया है। इसका पूर्ण आकलन करने के लिए भारतीय जीवन

के धार्मिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक-सामाजिक तथा आर्थिक-नैतिक पक्षों पर एक विहंगम दृष्टि डालना उचित होगा। जीवन की पृष्ठभूमि ही साहित्य और कविता में प्राण और प्रेरणा का रंग देती है। सुविधा के लिए जीवन को सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पार्श्वों में विभाजित कर दिया गया है।

क : सांस्कृतिक पीठिका

—न व चे त ना—

'संस्कृति' का सम्बन्ध मानस-भूमि से है। वैज्ञानिक युग की प्रगतिशील चिन्ता का संस्पर्श भारतीय मानस में सांस्कृतिक बीज वपन करने के लिए उत्तरदायी है। राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द सांस्कृतिक जागरण के प्रतिनिधि थे। धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में महाराष्ट्र के सन्त समर्थ रामदास के पश्चात् कोई महानेता इस देश में नहीं उत्पन्न हुआ, यह इस सत्य का परिचायक है कि देश मृत, सुप्त और विमूर्च्छित राष्ट्र हो गया था। अंग्रेजी संस्पर्श की प्रक्रिया गुजरात और बंगाल में हुई थी। यह अहेतुक नहीं था कि सांस्कृतिक जागरण भी बंग और गुजरात में ही पहले होता। भौतिक परिस्थितियों ने भूमि प्रस्तुत कर दी तभी ब्राह्म समाज, आर्य समाज, और दूसरे धर्म-सांस्कृतिक आन्दोलनों के वृक्ष पनपे और लहलहाये। इनकी छाया में समस्त भारतीय समाज में एक ऐसी जाग्रति हुई जिसको नवचेतना की संज्ञा दी जा सकती है।

'नवचेतना' की संघटनकारी शक्तियों का विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) ब्राह्म समाज

१९ वीं शताब्दी के नवभारत के अग्रगण्य प्रतिनिधि राजा राममोहनराय (१७७४-१८३३) के महान् व्यक्तित्व से प्रवर्तित 'ब्राह्म समाज' (१८२८ ई०) हिन्दूबंगाल के नवोत्थान का एक प्रतीक था। उसके धर्म-सांस्कृतिक जगत् में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव इस धर्म-संघ ने किया था।

राजा राममोहन भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक (धार्मिक और शैक्षिक) तथा राजनैतिक सुधार-आन्दोलनों के अग्रदूत बने और १९ वीं शताब्दी के सभी

मुख्य आन्दोलनों की आधार-शिला उनके विचारों ने रक्खी थी। उनके चरित-लेखक के शब्दों में "वे नई स्फूर्ति के, उस अन्वेषण की लालसा के, उसकी ज्ञान-विज्ञान की पिपासा के, उसकी विशाल मानव-सहानुभूति के उसके शुद्ध और परिष्कृत नीति-शास्त्र के और अतीत के प्रति श्रद्धापूर्ण किन्तु समालोचनात्मक आदरभाव के मूर्त्त रूप थे।"*

अंग्रेजी सभ्यता के संस्पर्श से उनकी दृष्टि पाश्चात्य भाषा और साहित्य की ओर गई थी। ईसाई धर्म से सम्मोहित होकर उन्होंने हिन्दू-धर्म को भी नवीन बौद्धिक और आध्यात्मिक भूमिका में ढालने का प्रयत्न किया था। यही प्रभाव था 'ब्राह्म समाज' का प्रवर्तन। उसका उद्देश्य था हिन्दुत्व का नव-संस्कार और सच्चे ईश्वर की आराधना की प्रतिष्ठा। वेदांत और उपनिषद् से उन्होंने मूल प्रेरणा ली थी और अपने धर्मग्रन्थों में जाति-भेद और अस्पृश्यता, बहु-विवाह और सती-प्रथा, मूर्ति-पूजन और पशु-बलि आदि कर्म-काण्डों का कोई विधान न देखकर उन्होंने इन मिथ्याचारों का बौद्धिक उच्छेद करने का उपक्रम किया था। रूढ़िवादिता के स्थान पर बुद्धिवाद और सुधारवाद की चेतना उन्होंने दी।

राजा राममोहनराय 'एकेश्वरवादी हिन्दू' (Hindu unitarian) थे। हिन्दू धर्म में सुधार किया जाय, एकेश्वरी धर्म का सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाय कि सब धर्मों का अन्तरंग एक ही है और इस तरह संसार के धर्म-भेदों का अन्धकार दूर करने वाले सार्वत्रिक विश्व-धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी एक महत्त्वाकांक्षा थी। उनका मत यह था—

'जिस तरह भिन्न-भिन्न शरीरस्थ जीवात्मा उन उन शरीरों को चैतन्य देकर उसका नियमन करते हैं उसी तरह अखिल विश्वरूप समस्त शरीर को चैतन्य देकर उसका नियंत्रण करनेवाले एक सत्तत्व की हम आराधना करते हैं। हमारी इस श्रद्धा को यद्यपि हमारे धर्म के आधुनिकों ने छोड़ दिया है तथापि वह पवित्र वेदान्त-धर्म से सम्मत है। हम सब प्रकार की मूर्तिपूजा के विरुद्ध हैं। परमेश्वर की प्रार्थना का हमारा एक ही साधन है—भूत-दया अथवा परोपकार-भाव से परस्पर व्यवहार करना।'

यह स्पष्ट है कि राजा राममोहन राय की आस्था ईश्वर की एकता में है और अनास्था मूर्ति-पूजन में। उनका उपासनालय 'बिना भेदभाव के लोगों का सम्मिलन-स्थल' था। उसमें एक परमेश्वर की आराधना का विधान था.

* Raja Ram Mohan Roy. by Ganguly.

परन्तु मूर्तिपूजन या धर्माडंबर का निषेध । राजा राममोहनराय के ये विचार वस्तुतः महान् मानसिक क्रांति के चिह्न थे । धर्म के क्षेत्र में बंगभूमि में 'ब्राह्म समाज' ने नवयुग का द्वार खोल दिया था । ज्यों ज्यों यह लहर अन्य प्रांतों की ओर बढ़ी त्यों त्यों शुभ परिणाम भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक नवसृजन के रूप में घटित हुआ ।

'ब्राह्म समाज' के धर्म-सिद्धान्तों के जिन तत्त्वों का गहरा प्रभाव नवयुग की चिन्ताधारा पर पड़ा और तदनुसार हिन्दी कविता में भी प्रस्फुट हुआ, वे थे—

(१) ईश्वर का कभी 'अवतार' नहीं होता ।

(२) ईश्वरोपासना की विधि आध्यात्मिक ही होनी चाहिए । उसके लिए त्याग और वैराग्य, मठ-मंदिर और पूजापाठ की आवश्यकता नहीं है और ईश्वरोपासना का अधिकार सभी वर्गों और जातियों को समान है ।

(३) प्रकृति और अन्तर्चेतना (intuition) ईश्वर-ज्ञान के स्रोत हैं ।

राममोहन राय के सच्चे उत्तराधिकारी हुए ठाकुर परिवार के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर । केशवचन्द्र सेन ने तो 'ब्राह्म समाज' को ईसाई-धर्म की ओर झुका दिया था, परन्तु महर्षि ने उसे भारतीय संस्कृति के अनुरूप ढाला था ।

महर्षि के पुत्र कवि-वरेण्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर इसी 'ब्राह्म समाज' की सांस्कृतिक मुद्रा इतनी गहरी थी कि उन्हें 'ब्राह्म समाज' की ही देन कहा जा सकता है । ब्राह्म समाज ने ही कवि को वह दार्शनिक चिन्ता और आर्ष-ज्ञान की प्रेरणा दी जो उनके काव्य में मुखरित हुई । समस्त बंग साहित्य पर रवीन्द्र का इतना अधिक प्रभाव है कि उसे 'रवीन्द्र युग' कहा गया । विश्वकीर्ति मिलते-मिलते रवीन्द्र-चिन्ता का प्रभाव बंग-वाङ्मय से बाहर अन्य देशभाषाओं तक पहुंचा । हिन्दी कविता और अन्य साहित्यांग भी उससे मुक्त नहीं रह सके । कविता में तो 'गीतांजलि' का विशेष प्रभाव लक्षित हुआ उसकी रहस्य-धारा के रूप में । कविता पर पड़नेवाला यह प्रभाव प्रत्यक्षतः रवीन्द्र का होते हुए भी परोक्षतः 'ब्राह्म समाज' का है । इसका अनुशीलन हम यथास्थान करेंगे ।

(२) आर्यसमाज

कुछ अर्थों में ब्राह्म समाज से भी अधिक व्यापक धर्म-सांस्कृतिक जागरण लाने का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३ ई०) के द्वारा प्रवर्तित 'आर्यसमाज' (१८७५) को है। इस शताब्दी में होनेवाले उत्तरापथ के सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भूमिका 'आर्यसमाज' ने ही प्रस्तुत की।

भारतीय संस्कृति और ज्ञान को संस्कृत साहित्य के द्वारा हृदयंगम कर लेने पर इस आधुनिक ऋषि के हृदय में दर्शन की नव-ज्योति उद्भासित हुई। वेद ही उनकी मूल प्रेरणा थे और 'वेद की ओर' ही उनका मन्त्र था। हिन्दू पुराणों और स्मृतियों ने वैदिक तत्त्व को धूमिल और विकृत कर दिया था अतः हिन्दुत्व का पुनरुद्धार उन्होंने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा से करने का उपक्रम किया। वेद के सत्यार्थ पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने हिन्दुत्व के आर्यत्व का प्रतिपादन किया। मूर्तिपूजा, जाति-भेद, छुआछूत, बाल-विवाह, परदा और पशु-बलि की रूढ़ियों के उच्छेद का सामाजिक कार्यक्रम उन्होंने 'आर्य समाज' को दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"आर्यसमाज इसलाम और ईसाई धर्म के, विशेषतः इसलामके (हिन्दुत्व पर हुए) प्रभाव की प्रतिक्रियात्मक शक्ति था।" × भारत को हिन्दू-देश के रूप में सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय दृष्टि से पुनः संगठित करने के लक्ष्य से 'शुद्धि' का आन्दोलन भी चला। गतानुगतिकता के विरोध और बौद्धिकता के समावेश में 'आर्य-समाज' और 'ब्राह्म समाज' दोनों समान हैं किन्तु जहाँ 'ब्राह्म समाज' समाज के उच्चस्तर में बौद्धिक और आत्मिक चेतना ला सका, वहाँ 'आर्य समाज' ने निम्नस्तर में भी जागरण को जन्म दिया। कुरीतियों के उच्छेद में, पुराणवाद के उन्मूलन से युगान्तर करने में 'आर्यसमाज' सफल हुआ। भारतीय सभ्यता और शिक्षा के पुनरुद्धार में भी समाज का कार्य स्तुत्य है उसने पुरुषों और स्त्रियों के लिए गुरुकुल, ऋषिकुल और दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज स्थापित किये। जातीयता की भावना का उद्बोधन सबसे

×"The Aryasamaj was a reaction to the influence of Islam and Christiantty more specially the former."

—'डिस्कवरी आव इण्डिया'

पहिले दयानन्द ने ही किया। स्वराज्य[1], स्वदेश-भक्ति आदि की प्रेरणा भी उन्होंने की थी।

दयानन्द के 'आर्य समाज' के दार्शनिक धार्मिक संस्कार के साथ-साथ सामाजिक पुनरुद्धार के द्विविध कार्यक्रम ने उत्तरापथ (विशेषतया पंजाब और उत्तरप्रदेश) के हिन्दू समाज को चेतन, जाग्रत और जागरूक तथा जातीय दृष्टि से प्रगतिशील बनाया। आर्य समाज ने समाज-निर्माण की चेतना दी, जातीयता का उन्मेष दिया। यह जातीयता सांस्कृतिक राष्ट्रीयता है, आज की संश्लिष्ट राष्ट्रीयता नहीं। आलोच्यकाल के अधिकांश की कविता और अन्य साहित्यांगों पर इस चेतना का पूरा प्रभाव है। आलोच्य काल में सामाजिक सुधारवाद की जो कविताएँ प्रस्तुत हुईं उनमें पूर्णतया आर्यसमाज का ही स्वर और उसकी गूँज है।

(३) वेदान्त और विवेकानन्द

दयानन्द के ही समसामयिक रामकृष्ण परमहंस (१८३४-८६ ई०) एक भागवत विभूति थे। चैतन्य की परम्परा उनमें पुनर्जीवित हुई थी। धार्मिक होते हुए भी वे सम्प्रदायवादी नहीं, विशालचेता थे। उन्होंने हिन्दू धर्म-मार्गों और दर्शनों का समन्वय करते हुए सत्य-मार्ग की ओर इंगित किया था। सब धर्मों की मौलिक एकता के वे विश्वासी थे[2]।

परमहंस के ही महामहिम शिष्य विवेकानन्द (१८६३—१९०२) ने भारतीय संस्कृति के 'वेदान्त' दर्शन की नवप्रतिष्ठा की। भारत का यह सन्देश उन्होंने विदेशों में भी पहुँचाया। वेदान्त के 'अद्वैत-दर्शन' की व्यावहारिकता ही उनकी जीवन-साधना थी। उनकी मान्यता थी—

"यह विश्व किसी विश्व-बाह्य 'ईश्वर' की कृति नहीं है और न वह किसी

---

१ कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अपनी प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता।

— सत्यार्थप्रकाश (दयानन्द)

२ "All the different religious views are but different ways leading to the same goal."

बाह्य प्रतिभा का ही चमत्कार है । वह तो स्वयंभू, स्वयंलयशील और स्वयंप्रकाशी, अद्वैत असीम सत्ता ब्रह्म ही है।"[१]

एक मुसलमान मित्र को एक पत्र में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा था—

"चाहे हम उसे वेदान्तवाद कहें चाहे और कुछ, सत्य तो यह है कि 'अद्वैतवाद' ही धर्म और चिन्तन का चरम सन्देश है । यही एक स्थिति है जहाँ से समस्त धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति प्रेम-दृष्टि डाली जा सकती है । मेरा विश्वास है कि यही भावी जाग्रत मानवता का धर्म भी है।"[२]

आगे भारतीय संस्कृति के उद्धारक विवेकानन्द ने कहा—

"व्यावहारिक अद्वैतवाद समग्र मानवता को आत्मवत् देखने का सन्देश देता है, परन्तु यह अभी हिन्दुओं में सार्वभौम नहीं हुआ है।"[२]

अपने गुरु के नाम पर उन्होंने रामकृष्ण मिशन का संगठन किया और दार्शनिक-धार्मिक भित्ति पर मानव-सेवा के कार्यक्रम का श्रीगणेश किया ।

"सनातन हिन्दू धर्म के आधार पर व्यापक विश्वधर्म का संदेश संसार, को देना; लोगों को यह विश्वास करा देना कि अद्वैत वेदान्त भौतिक शास्त्र की प्रगति के कारण मिथ्या नहीं ठहर सकता, भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति परता को प्रधानता देकर वेदान्त को कर्म-प्रवण बनाना पादरियों की भांति धर्माचरण में लोक-सेवा को प्रधानता देना और धर्म के आधार पर राष्ट्रभक्ति और स्वाभिमान की ज्योति जगाकर जनता में परतन्त्रता के विरुद्ध भक्तिभाव फैलाना आदि आदि बहुविध कार्य रामकृष्ण मिशन ने किया है।"[३]

अमरीका में इस तूफानी 'हिन्दू' के विषय में न्यूयार्क हेरल्ड ने ठीक लिखा था—

'इस धर्म-संसद में निस्सन्देह विवेकानन्द का व्यक्तित्व सबसे ऊँचा है । उनके व्याख्यान सुनकर कहना पड़ता है कि इनके राष्ट्र (देश) में धर्म प्रचारक भेजना मूर्खता है।'

---

१ "This universe has not been created by any extra-cosmic God, nor is it the work of any outside genius. It is self-creating, self.dessolving, self-manifestig, one Infinite Existence the Brahma.—"Letters from Swami Vivekananda

२ Letters from Swami Vivekananda

३ 'आधुनिक भारत': जावड़ेकर

विदेशों में भी अपनी ऐसी धाक जमाने वाले इस महाचेता की चिन्ताधारा का प्रभाव भारत के विचारशील वर्ग पर पड़ा है। विवेकानन्द के प्रशंसक रवीन्द्रनाथ तो उनके समकालीन थे ही और उनके बंगाल में विवेकानन्द धूम मचा रहे थे; परन्तु दूसरे प्रदेशों में भी वेदान्त की विचारधारा की लहर उन्होंने स्वयं पहुँच कर पहुँचाई थी।

हिन्दी में विवेकानन्द की वेदान्त-चिन्ता का प्रखर प्रभाव सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत की कविता पर परिलक्षित हुआ है।

(४) गांधी और 'अहिंसावाद'

१६ वीं शताब्दी की पूर्वोक्त जिन शक्तियों ने आलोच्य युग के साहित्य पर अपना प्रभाव पहुँचाया वे सब धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही कर्मशील हुई थीं।

वर्तमान शताब्दी में एक शक्ति ऐसी उद्‌भूत हुई जिसका जन्म तो राजनीति में हुआ, परन्तु उसने सांस्कृतिक रूप धारण कर लिया और वह साहित्य को भी प्रभावित करने लगी। वह शक्ति गांधी के 'अहिंसावाद' की थी।

जिस समय भारत इधर अपने राजनैतिक स्वत्व के लिए संघर्ष करता हुआ अपनी रीति-नीति की निश्चित रूपरेखा टटोल रहा था, उस समय भारत-पुत्र मोहनदास करमचन्द गांधी ने दक्षिण-अफ्रीका में एक ऐसी रण-नीति का आविष्कार किया, और उसे कार्यान्वित करते हुए सफलता प्राप्त की, जिसने भारत के भावी राजनैतिक संग्राम को प्रभावित किया। गांधी ने वहाँ गोरी जातियों की ओर से भारतीय प्रवासियों पर होने वाले अन्यायों और अत्याचारों का 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (passive resistance) किया और एक नयी नैतिक चिन्ताधारा राजनीति को दी। गांधी को यह प्रेरणा टालस्टाय से मिली थी, परन्तु इसकी कार्यान्विति का श्रेय उन्हीं को है। इस 'निष्क्रिय प्रतिरोध' को गांधी ने 'सत्याग्रह' (सत्य का आग्रह) का पवित्र नाम देकर एक राजनीतिक नैतिकता का श्रीगणेश किया। 'सत्याग्रह' आत्मा की एक वृत्ति या शक्ति है, शरीर का बल नहीं। 'सत्याग्रह' के प्रवर्तक और प्रयोगियों का भी भारत से सम्बन्ध होने के कारण भारत में इसकी गूँज होने लगी। सन् १६०८-६ से यहाँ यह चिन्ताधारा आती हुई दिखाई दी जिसका उल्लेख आगे राजनीतिक गतिविधि के अन्तर्गत किया जायगा।

गांधी ने 'सत्याग्रह' के शास्त्र और विधि-विधान को भारतीय संस्कृति के अमर तत्त्व 'अहिंसा' के ऊपर आधारित किया और वह उनके अहिंसक जीवन-क्रम का एक अंग हो गया। 'पशु' मनुष्य को नहीं दबा सकता; मनुष्य

मनुष्य की पाशववृत्ति को मानवीय वृत्ति में परिणत कर सकता है क्योंकि मानव की पशुता में मानवता सुप्त है—इस तत्त्वज्ञान से सत्याग्रह की चिन्ताधारा ओतप्रोत है। राजनीति जीवन का एक अङ्ग है और जीवन यदि अहिंसा से अनुप्राणित है तो राजनीति में भी वह प्रतिफलित होनी चाहिए। इस प्रकार अहिंसा-सिद्धान्त की चिन्ताधारा भारतीय जीवन में व्याप्त हो गई। जिस समय भारतीय राजनीति में एक ओर विप्लव की चेष्टाएं हिंसात्मक आतङ्कवादी प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट हो रही थीं, उस समय राजनीति में 'अहिंसा' का स्वर उठाना एक चमत्कार था। इस अहिंसा ने राष्ट्रसभा (काँग्रेस) के उग्र पक्ष को भी प्रभावित किया। 'सत्याग्रह' अथवा अहिंसात्मक प्रतिरोध प्रतिरोधी की निर्बलता-दुर्बलता का पोषण नहीं करता, उसकी दलित-दमित आत्मशक्ति को जाग्रत करता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधी के भारत में आने पर यह रण-रीति ही सत्याग्रह-आन्दोलनों के रूप में कार्यान्वित हुई और सफलता प्राप्त करती हुई राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठित हो गई। इस प्रकार इस नवीन चिन्ता ने साहित्य को प्रभावित किया। सन् १६ से लेकर आगे की कविताओं में यह राजनीतिक अहिंसावाद प्रतिबिम्बित है।

व्यक्तियों की भाषा में सोचें तो 'दयानन्द' और 'विवेकानन्द', 'रवीन्द्र' और 'गांधी' इस युग की हिन्दी कविता में अपनी चिन्ताधारा द्वारा सांस्कृतिक प्रभाव देते हैं। 'ब्राह्म समाज' का ही पूरा प्रतिनिधित्व रवीन्द्र ने किया, इसलिए उनका स्वतंत्र सांस्कृतिक दर्शन न होते हुए भी सांस्कृतिक प्रभाव स्पष्ट है।

ख : राजनीतिक गतिविधि

—स्व रा ज्य की ओ र—

ईसा की बीसवीं शताब्दी से भारत की राजनीति ने भी करवट बदली है। राजनैतिक चेतना का सूत्रपात तो १८८५ ई० के आसपास हुआ था, परन्तु राष्ट्रीयता का जागरण बीसवीं शताब्दी में आया। बीसवीं शताब्दी के पहिले दो दशकों (१६०१-१० और १६११-२०) में देश में राजनीति की जो गतिविधि रही उसे हम 'स्वराज्य की ओर' नाम से अभिहित कर सकते हैं।

देश की राजनैतिक गतिविधि की मुद्रा आलोच्यकाल की कविता में अंकित हुई है। यहां उल्लेख करना आवश्यक है कि कवि भाव-प्रवण होते हुए भी

विचारशील समाजवर्ग का प्रतिनिधि और असंख्य मौन-मूक विचारशून्य जनों की आकांक्षाओं का प्रवक्ता होता है। इसका वास्तविक मूल्यांकन करने के साथ-साथ पहिले यह देखना उचित और आवश्यक है कि भारतीय जीवन में राजनीति की धारा की गतिविधि क्या थी ?

अंग्रेजों के प्रभुत्व-काल को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—

(१) उदय : सन् १८१८ से १८५७ ई० तक

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से अंग्रेजी राजत्व का शिलारोपण हुआ, परन्तु उस आधार-शिला पर जो लेख उत्कीर्ण हुआ उसमें उसके विनाश के अङ्क भी लिखे दिखाई दिये। कम्पनी के हाथों ब्रिटिश प्रभुत्व तो स्थापित हो गया, शासन-प्रणाली की भी नींव तो पड़ गई किन्तु उसी विकास में विनाश के बीजांकुर भी प्रस्फुट हो गये और १८५७ का विप्लव-विस्फोट हुआ। एक युगान्तर आया।

(२) उत्कर्ष : सन् १८५८ से १९१९

ब्रिटिश राज्य का भवन बनता रहा, परन्तु जाग्रत भारतीय जनगण उसकी नींव भी हिलाते रहे। देश की एकता और शिक्षितों में शासन-अधिकार की चेतना ने १८८५ में अखिल-भारतीय राष्ट्र-सभा (कांग्रेस) क जन्म दिया और उसी के तत्त्वावधान में देश ने अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किये।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपाय और प्रयत्न इस काल में सहयोग और असहयोग के झूले में झूलते रहे। राष्ट्र-सभा ने 'स्वशासन' माँगना ही अपना लक्ष्य रक्खा। इसी में अंग्रेजी राज्य ने अपना चरमोत्कर्ष देखा। अस्तु इसी के अन्त में सन् १९१९ में वह इतिहास-विश्रुत 'जलियाँवाला बाग का दमन-काण्ड' हुआ जिससे भारतीय राजनीति में एक ज्वार आ गया। 'जलियाँ वाला बाग' विदेशी राज्य के प्रचण्ड सूर्य की वह मध्याह्न-ज्वाला थी जिसमें ब्रिटिश सत्ता के प्रति देश की समस्त आस्था झुलस गई।

(३) अस्त : सन् १९२० से १९४७ तक

यह अवधि बड़ी लम्बी अवश्य है, परन्तु स्वतन्त्रता की साधना की कहानी छोटी नहीं हुआ करती। इसी अन्तिम अवस्था में राष्ट्र के नये युग का श्रीगणेश हुआ। जिसमें पूर्ण स्वराज्य या स्वतन्त्रता हमारा गन्तव्य हो गया। गांधी के नेतृत्व में हमारा राष्ट्र संघर्ष के पथ पर अग्रसर हुआ और इस

विषम पथ पर सफलता और असफलता के आरोह-अवरोह पार करते हुए राष्ट्र ने स्वतन्त्रता प्राप्त की।

इन तीन अवस्थाओं में से हमारे आलोच्य काल (१९०१-२० ई०) का सम्बन्ध द्वितीयावस्था ('उत्कर्ष') से है। इस युग में भी राजनीति की धारा ने कई उत्थान-पतन देखे। भारत की राष्ट्रनीति की भाषा में वह प्रयोगावस्था है, जिसमें राष्ट्र के मुख पर कभी स्तुति और प्रशस्ति की मुद्रा है, तो कभी रोष और आक्रोश की, कभी उसके कण्ठ में अनुनय-विनय का करुण स्वर है तो कभी विरोध और विद्रोह का भैरव हुङ्कार। १९०६ और १९१९ के दो वर्ष तो समुद्र में ज्वार की भाँति हैं—वे वस्तुतः ऐसे परिवर्तन-बिन्दु या मील के पत्थर हैं जो भारत की स्वतन्त्रता-यात्रा की विशिष्ट स्थिति के परिचायक हैं, जिनसे आगे-पीछे की दूरियाँ नापी जाती हैं।

आइए, इस द्वितीयावस्था का राष्ट्र की राजनैतिक गति-विधि का घटनाओं के माध्यम से अध्ययन करें।

(पूर्वार्द्ध)

१९ वीं शताब्दी तक की प्रारंभिक अवस्था में तो कांग्रेस अंग्रेज़ी शासन की आलोचना और शासन-कार्य में सुधार की ही माँग प्रस्तुत करती रही है। राजनीति में इसे आरामकुर्सीवाली राजनीति ही कहा जायगा। राजनीतिक चेतना का यह स्फुरण समाज के उच्च स्तर में ही था, निम्नतर तथा निम्नतम स्तर तक उसका कोई प्रभाव नहीं था। हाँ, देश की निर्धनता की ओर ध्यान दिलाते हुए भिन्न भिन्न करों तथा जेल, कालापानी आदि दूसरे अन्यायपूर्ण कृत्यों को बन्द करने की माँग भी वह उठाती रही।

सरकार की इस आलोचना में सदैव नम्र और शिष्ट शब्दों का प्रयोग रहा और राजशासन में शिक्षा आदि के सुधारों का स्वर उठाते हुए सदैव यह आशा की जाती रही थी कि ब्रिटिश राजनेताओं में उदारता और न्याय की भावना जाग्रत होगी।

समय-चक्र की गति-प्रगति के साथ-साथ राष्ट्रसभा के स्वर में व्यापकता और दृढ़ता आ गई और सरकार की कृपादृष्टि भी कोपदृष्टि में बदलने लगी। प्रारम्भ का उसका सहयोग अब उपेक्षा में परिणत हो गया। वही अब कहने लगी कि उच्च शिक्षित वर्ग को, भारत के 'अणुवत् अल्पसंख्यक' होने के नाते, जनता का प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं है। कांग्रेस का

उत्तर यह था कि "शिक्षित वर्ग तो निरक्षर जनता के हितों का स्वाभाविक प्रहरी, उसका न्यायोचित प्रवक्ता है क्योंकि वह देश के मानस (बुद्धि और अन्तःकरण) का प्रतिनिधित्व करता है।"*

ह्यूम के शब्दों में 'राष्ट्रसभा ने राजशासन को प्रबोध (Instruction) देने का प्रयत्न किया, परन्तु राजशासन ने प्रबोधित होना अस्वीकार कर दिया।'

राजशासन की उपेक्षा-वृत्ति की प्रतिक्रिया में, उसपर नैतिक रूप से दबाव लाने के लिए, कांग्रेस ने लोकमत तैयार करने का बीड़ा उठाया और 'वैधानिक आन्दोलन' की भूमिका प्रस्तुत हुई। भारत में ही नहीं, लंदन में भी एक अभिषद् (एजेंसी) की स्थापना हुई जिसने जनमत-निर्माण का कार्य किया। फलस्वरूप भारत में १८९२ में कुछ शासन-सुधार हुए भी। शताब्दी के अंत तक यही स्थिति रही। कांग्रेस के प्रस्ताव विशेष लाभकारी सिद्ध नहीं हुए। आन्तरिक असन्तोष को व्यक्त करते हुए कुछ नेता आगे आने लगे और राष्ट्रसभा में उग्रदल का आविर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में कांग्रेस की उपलब्धियों की यही संक्षिप्त कहानी है।

(उत्तरार्द्ध)

कांग्रेस में जीवन और जाग्रति बीसवीं शताब्दी की ही वस्तु है। 'राजभक्ति' से असन्तोष उत्पन्न होने पर ही शुद्ध 'राष्ट्रभक्ति' का प्रादुर्भाव हुआ और इसी से 'राष्ट्रवाद' का विकास। इस शताब्दी के प्रारम्भ में सबसे पहिले बंग-भूमि से 'राष्ट्रवाद' की लहर उठी और राजनीति में स्पष्ट युगान्तर दिखाई दिया। इसका तात्कालिक दायित्व 'बङ्ग-भंग' (१९०५) की घटना पर था। 'कांग्रेस का इतिहास' के लेखक डा० पट्टाभि सीतारामय्य के शब्दों में '१९०६ के बाद जो नवीन जाग्रति और नया तेज देश में इस छोर से उस छोर तक फैल गया था उसका मूल कारण बंग-भंग था।' बंग-भंग के अन्यायपूर्ण आघात को उद्बुद्ध बंग-प्रदेश न सह सका। वह उसके जीवन-मरण का प्रश्न था, अतः बंग माता की रक्षा के लिए बंग-प्रजा उठ खड़ी हुई।

---

*"The educated community represented the brain and conscience of the country, and were the legitimate spokesmen of the illiterate masses, the natural custodians of their interests."

इस सांघातिक प्रहार के प्रतिरोध में देश के उस अंचल में राष्ट्र-जागरण की एक हलचल उठी और शीघ्र ही उसने विराट् रूप धारण कर लिया। 'स्वदेशी आन्दोलन' के नाम से वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है। समस्त विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का वह आन्दोलन था। उसके मूल में देशाभिमान की प्रेरणा थी। राष्ट्र की जाग्रति का पहिला परिचय इसी आन्दोलन ने दिया जब कि बंगदेश की यह ज्वाला समस्त भारत के जनजीवन में फैल गई। इसी विद्रोही वातावरण में 'वन्देमातरम्' का नाद उद्बुद्ध हुआ। बंगभूमि का आकाश राष्ट्रीय गीतों से गूँज उठा और राष्ट्रवाद की प्रेरणा और राष्ट्रीयता की लहर देश भर में व्याप्त हो गई। यही राष्ट्रवाद का युगारम्भ है।

राष्ट्रीय जाग्रति के साथ साथ विदेशी राजसत्ता का दमन भी बढ़ता गया। परन्तु दमन-नीति से पोषण पाकर राष्ट्रीय अभ्युत्थान लहलहाने लगा। विदेशी सत्ता ने जाना कि राष्ट्र का जागरण इसे कहते हैं। इंग्लैंड जैसी विश्व-विजयिनी शक्ति के अन्याय के विरोध में पराधीन भारत के उठ खड़े होने के कारणों को खोजते हुए यह भी कहा जा सकता है कि १८९६ की इटली पर अबीसीनिया की और १९०४--५ में रूस-जापान-संग्राम में रूस पर एशिया के देश जापान की विजय से अद्भुत संजीवन-प्रेरणा बिजली की भांति चीन, भारत, ईरान और तुर्की पहुँची। १९११ तक वह 'प्रबल आन्दोलन' चलता रहा। कांग्रेस के और राष्ट्र के इतिहास में यह पहिला जन-आन्दोलन था और परिणाम की दृष्टि से उसे 'पूरी सफलता' मिली।

—राजनीति की त्रिविध शक्तियाँ—

देश की एक मात्र राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस में अब दो दल थे—उग्र और सौम्य, जिन्हें क्रमशः गरम दल (Extremists) और नरम दल (Moderates) कहा जाता है। उग्र दल का नेतृत्व लाल-बाल-पाल (लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल की त्रिमूर्ति) के हाथ में था। अपने अपने प्रांतों (पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल) में राष्ट्रीय जीवन की ज्योति इन्होंने प्रज्वलित की। ये राजनीति में क्रांति के समर्थक थे।

इनके विपरीत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फ़ीरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले आदि का सौम्य दल शासन सुधार के क्रमिक विकास का पोषक था।

उस समय का वातावरण दोनों दलों के परस्पर-विरोधी विचारों से भरा हुआ था। यह दल शासनसुधारवाद का पोषक कहा जा सकता है।

एक विचार-धारा और थी जिसे आतंकवाद (Terrorism) के नाम से पुकारा जाता है। इस धारा के पोषक हत्या आदि हिंसात्मक उपायों से आततायी शासन का उन्मूलन करना चाहते थे।

इन तीनों धाराओं में पहिली दो का ही सम्बन्ध कांग्रेस से रहा। इन दोनों में सन् ७ से लेकर १६ तक एक प्रकार की प्रतियोगिता रही। कभी एक दल का प्रभुत्व कांग्रेस में होता था और कभी दूसरे का; परन्तु 'आतंक-वाद' की धारा तो प्रकट से अधिक प्रच्छन्न थी। राष्ट्र-प्रभा ने देश की राजनैतिक गतिविधि को इन तीनों शक्तियों के प्रभाव में आकर स्वरूप दिया और राष्ट्रीय जीवन भी भिन्न-भिन्न रूपों में इससे प्रभावित हुआ। जनता में तीनों ही के समर्थक थे; परन्तु साहित्य में केवल दो विचारधाराओं का स्वर ही आ सका। तीसरी, 'आतंकवादी' धारा, का स्वर कविता से नीचे जाकर लोकगीतों में प्रस्फुटित हुआ। संक्षेप में तीनों की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना समीचीन होगा जिससे कविता की संगति का आकलन किया जा सके।

(१) शासन-सुधारवाद

—शासन-सुधार से स्वशासन—

१६०६ की कलकत्ता कांग्रेस में भारत के राष्ट्रीय भीष्म पितामह दादा-भाई नौरोजी ने अध्यक्ष पद से स्वराज्य[१] की मांग की थी परन्तु यह 'स्वशा-सन की कल्पना कुछ शासन-सुधार-विषयक सूचनाओं से आगे नहीं बढ़ी, जैसे परीक्षाओं का भारत और इंग्लैंड में साथ साथ होना, कौंसिलों का विस्तार करना और उनमें लोक-प्रतिनिधियों का बढ़ाया जाना। बस १६०६ में भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की समाप्ति इसी में हो जाती थी।'[२]

उग्रदलीय नीति से ऐसी सौम्य नीति का समझौता असम्भव होगया और सूरत कांग्रेस (१६०७) में दोनों दलों में विच्छेद हो गया। कांग्रेस पर सौम्यदल का अधिकार रहा जिसका स्वशासन संबंधी प्रस्ताव धीरे धीरे

१ "Be united, preserve and achieve Self-Government."

२ 'कांग्रेस का इतिहास' : डा० पट्टाभि सीतारामय्य

तउरते-उतरते मिंटो मार्ले सुधार योजना (१९०९) के परीक्षण तक सीमित रह गया।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस सुधार-योजना की घोषणा स्वदेशी-आन्दोलन के दबाव से और विप्लव की हिंसात्मक योजनाओं के भय से हुई, फिर भी श्रेय कांग्रेस के सौम्य दल को ही मिला। देश में राज-शासन के प्रति इससे श्रद्धा और विश्वास का वातावरण बना। इस समय की कविताओं में जन-आन्दोलन की कोई विशेष हलचल प्रतिध्वनित होती नहीं दिखाई दी। इसका कारण यही वातावरण था।

भारतीयों को यत्किंचित् सन्तोष देने के साथ साम्प्रदायिकता से विषाक्त राजनीति की परिपाटी इन्हीं सुधारों ने डाल दी। इसका सबसे अधिक विरोध इसी पार्श्व को लेकर हुआ। 'पृथक् निर्वाचन' का सिद्धान्त राष्ट्र के लिए बड़ा विघटनकारी निर्णय था। अप्रत्यक्ष निर्वाचन और परिमित मताधिकार भी इसके दोष थे। फिर भी ये सुधार कार्यान्वित हुए। उग्र-दलीय नेताओं ने उन्हें 'अपूर्ण' कहा, परन्तु सौम्यदलीय नेताओं से प्रभावित कांग्रेस इन्हें स्वीकार करती चली और भविष्य की आशा बाँधती रही। प्रथम यूरोपीय महासमर (१९१४—१८) के समय गोखले लीग और कांग्रेस की ओर से नई सुधार-योजना की रूपरेखायें प्रस्तुत की गईं। साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य के ऊपर आये हुए महायुद्ध में भारत ने मुक्तहस्त होकर उसकी धन-जन से सहायता की। १९१७ में भारत-सचिव ने भावी उत्तरदायी शासन-स्थापना की घोषणा की।[१] १९१७ में 'मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट' प्रकाशित हुई और इसी के आधार पर १९१९ का 'भारतीय शासन-विधान' प्रवर्तित हुआ

उग्रपंथियों के प्रभाव में राष्ट्रसभा ने इन सुधारों को अस्वीकृत किया और सौम्य दल ने पृथक् अपना फेडरेशन बनाया। उग्र दल को भी ये नये सुधार

---

१ "The policy of His Majesty's Government with which Government of India are in complete accord is that of the increasing associations of Indians in every branch of administration and the gradual development of self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India as an integral part of the British Empire."

सन्तोषजनक न हो सके, परन्तु उन्हें स्वीकार कर लेने से भारतीय राजनीति की गति सौम्य हो गई।

(२) क्रान्तिवाद

भारतीय राजनीति में 'क्रान्तिवाद' का सूत्रपात राजशासन के दमन की प्रतिक्रिया में हुआ था। १९ वीं शती के अन्त तक राष्ट्रसभा (कांग्रेस) की रीति-नीति पर केवल शासन-तन्त्र में अधिकार या छोटे-मोटे सुधार माँगने वालों का प्रभुत्व था। इसी से निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा निःशस्त्र क्रांति के पोषक कुछ नेताओं में असन्तोष करवट लेने लगा था। कांग्रेस की सौम्य (नरम) नीति के विरोध में वस्तुतः इस उग्र (वामपक्षीय) दल का संगठन हुआ था। राष्ट्रसभा के कार्यक्रम के प्रति अविश्वास और असन्तोष का आधार यह था कि सुधार बातों से नहीं होते, कार्य से होते हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक इस मत के प्रवक्ता थे। उनके विचारों का स्पष्ट नेतृत्व उग्र दल को मिला।

लोकमान्य ने राष्ट्रीय भूमिका में कई सांस्कृतिक पर्व प्रवर्तित किये और महाराष्ट्र को ही नहीं, देश-भर को जाग्रत किया। लोकमान्य तिलक 'केसरी' (मराठी) और 'मराठा' (अँगरेजी) पत्रों के द्वारा अपने उग्र विचारों को व्यक्त करते थे। इन लेखों को राजद्रोहात्मक बताया जाकर ६ वर्ष का कारावास-दण्ड उन्हें दिया गया। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय को भी निर्वासन मिला। यही कारण है कि राष्ट्रसभा (कांग्रेस) सौम्य दल के प्रभाव में रही।

लोकमान्य तिलक ने जेल से लौटते ही "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" का प्रभावशाली रण-घोष राष्ट्र को दिया और तब से वही राष्ट्र का परम उद्गीथ रहता आया है।

सौम्यदलीय नेता श्री गोखले के देहावसान (१९१५) के पश्चात् ही राष्ट्रसभा की रीति-नीति पर उग्रदलीय प्रभाव अधिक पड़ने लगा। लोकमान्य तिलक गोखले के उत्तराधिकारी हुए। तिलक और श्रीमती एनी बेसेण्ट ने १९१६ में 'होमरूल लीग' बनाई और परस्पर सहयोग किया। १९१६ में उग्रदलीय धारा का संगम सौम्यदलीय धारा से लखनऊ कांग्रेस में हुआ। होमरूल आन्दोलन बढ़ता गया और शासन का दमनचक्र चलता गया। देश में इतनी जाग्रति फैली कि कांग्रेस क्रान्तिकारी संस्था गिनी जाने लगी

और जन-समुद्र में ज्वार आने के संकेत मिलने लगे। इसी बीच इस तूफान को रोकने के लिए शासन-सुधार की घोषणा की गई और समुद्र में भाटा दिखाई दिया। यह सुधारों का चक्र १९१९-२० तक चला।

इस क्रान्तिवाद की धारा का प्रभाव कविता पर पड़ा है। इस काल की कविता में एक प्रकार की ऐसी शक्ति है जो केवल आत्मिक है और जो देशसेवा और त्याग और बलिदान के लिए उत्कट प्रेरणा देती है इसी का प्रभाव है। जीवन, जाग्रति, बल, बलिदान के भावों की प्रेरणा इसी विचारधारा ने दी।

(३) आतंकवाद

'स्वदेशी आन्दोलन' के समय से ही बंगाल के नवयुवकों में अभूतपूर्व जाग्रति दिखाई दी। 'आतंकवाद' के पहले स्फुरण इसी समय (१९०७ में) हुए। अंग्रेज़ अधिकारियों के विरुद्ध हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया गया। 'आतंकवाद' को प्रेरणा अराजकवाद से मिली थी। १९०८ में खुदीराम बसु ने मुजफ्फरपुर (बिहार) में जिला जज को मारने के लिए बम का प्रयोग किया और अन्त में उन्हें फांसी दे दी गई। दमन और अत्याचार के विरोध में राजनैतिक हत्या भी राष्ट्रीय नैतिकता में समाविष्ट थी। श्यामजी कृष्ण वर्मा और विनायकराव सावरकर गुप्त षड्यन्त्र का संगठन करने लगे। 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट', 'युगान्तर' और 'सन्ध्या' आदि पत्र हिंसावाद के प्रेरक-प्रचारक थे। क्रांतिकारियों ने जहाँ-तहाँ अंग्रेजों को बम फेंक कर मारा। बम डालना साधारण बात हो गई। १९१०-११ में बंगाल, महाराष्ट्र, मध्यभारत (ग्वालियर) में क्रान्तिकारी षड्यन्त्र विस्फोट हुए। सरकार को नष्ट करने के लिए इस देश में भी वैसी ही गुप्त सभाएँ संघटित हुईं, जैसी इटली और रूस में हुई थीं। ये सभाएँ विदेश में भी जाकर विप्लव के बीज बोती थीं।

बंगाल और महाराष्ट्र की भाँति पंजाब में लाला हरदयाल ने सशस्त्र क्रान्तिकारी दल संगठित किया जो अमेरिका में गदर पार्टी कहलाया। बाद में यूरोपीय महासमर के समय इटली-जर्मनी से इसका गठबन्धन हो गया। राजा महेन्द्रप्रताप ने भी इटली में काम किया और रूस की राज्यक्रांति के बाद यहाँ के साम्यवादियों का सम्बन्ध रूस के बोल्शेविकों से हो गया। +

१६०८ में मुजफ्फरपुर के धड़ाके का समर्थन करने में ही लोकमान्य तिलक को ८ वर्ष का राजदण्ड दिया गया था। कालापानी, आजन्म जेल आदि राज दण्ड उस समय साधारण बातें हो गई थीं। उन्होंने लिखा था—"सरकार की शक्ति बमों से नहीं टूट सकती। पर बम से सरकार का ध्यान उस अंधेर खाते की तरफ खींचा जा सकता है जो उसकी सैनिक शक्ति के मद के कारण उपस्थित है।" ऐसी स्थिति में इसकी समर्थक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में आ नहीं सकती थीं। हाँ, इस भावना के कई लोकगीत अवश्य बन गये और गाये गये।

यह स्मरणीय है कि कांग्रेस के मंच से भी इन हत्याओं और आतंकवादी प्रवृत्तियों का समर्थन नहीं हुआ, वरन् भर्त्सना ही हुई। राजशासन ने इन्हें दबाने के लिए १६०६ में एक कानून बनाया और कई नेता निर्वासित किये गये। आतंकवादी दल की प्रवृत्तियाँ कहीं प्रकट और कहीं गुप्त रूप से भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में निरन्तर चलती रही हैं। वायसराय पर बम, अलीपुर षड्यन्त्र, काकोरी षड्यन्त्र, मैनपुरी षड्यन्त्र जैसे अनेक षडयन्त्रों का सम्बन्ध आतंकवादी दलों से है। इस युग में षड्यन्त्र तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन इतने हुए कि इन्हीं आतंकवादी प्रवृत्तियों को दबाने के लिए सरकार ने 'रौलट एक्ट' को १६१६ में जन्म दिया। आतंकवाद की धारा में आगे कई ज्योतिष्क-पिंड चमके—भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, योगेश चटर्जी; परन्तु इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आलोच्य काल से नहीं है। आतंकवादियों की देश-भक्ति की उत्कटता सर्वोपरि थी। इनका मत था—"हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए।...फिरंगी की कृपा से मिले अधिकारों पर हम थूकेंगे; हम अपनी मुक्ति स्वयम् पायेंगे।"

(४) सम्प्रदायवाद

—फू ट के बी ज—

प्रारम्भ में तो कांग्रेस से मुसलमानों ने दूर रहने में ही भला समझा। वे अपने बीते युगों की स्मृति में उन्मत्त और विक्षुब्ध थे। सरकार का उन पर अनुग्रह न था। मुसलमानों की इस निराशा की स्थिति में जाग्रति लानेवाले पहले व्यक्ति सर सैयद अहमद खाँ थे जिन्होंने उन्हें सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से उद्बुद्ध किया और मुसलमानों को अंग्रेज़ी राज्य के भक्त रहने में ही श्रेय-मार्ग दिखाया।

पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में मुसलमान "राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ इसलिए नहीं थे कि वह एक ऐसी संस्था थी जिसमें हिन्दुओं की प्रधानता थी ; बल्कि इसलिए कि उनकी दृष्टि से वह बहुत उग्र थी। यद्यपि उन दिनों कांग्रेस अत्यन्त सौम्य विचारों की संस्था थी।"[1]

कांग्रेस के इने-गिने मुसलमान नेताओं का फिर भी यही मत था कि "लोगों का विचार है कि सब या लगभग सब भारतीय मुसलमान कांग्रेस के आन्दोलन के विरुद्ध हैं ; यह सच नहीं है। सच बात तो यह है कि इनमें से अधिकांश यह जानता भी नहीं कि कांग्रेस-आन्दोलन क्या है ?"

'फूट डालो और राज्य करो' (Divide et empera) की कूट-नीति के पालन के लिए अंग्रेजी राजशासन कुख्यात है। शासन-सुधारों का दंम भरने वाले मिण्टो के संकेत से ही सरकार-परस्त मुस्लिम रईसों ने 'भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति के भाव बढ़ाने के लिए' 'मुस्लिम लीग' को जन्म दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस केवल हिन्दू-हितों की ही प्रतिनिधि न थी, अतः मुस्लिम-हित-रक्षा के लिए लीग का बीजारोपण कराना विच्छेदक वृत्ति का ही एक चिह्न है। १९०६ में आग़ाखाँ के नेतृत्व में मुसलमान अमीरों ने माँग की कि यदि देश के निर्वाचित प्रतिनिधियों को कुछ अधिकार देने हों तो मुसलमानों को अलग प्रतिनिधि चुनने दिया जाय। शासन-सुधार आने से पूर्व ही विभाजन की भूमिका प्रस्तुत हो गई !

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि मुस्लिम लीग प्रथम दस वर्षों में कांग्रेस के विरोध में नहीं खड़ी हुई और उसने वैधानिक सुधार की योजना में कांग्रेस से मिल-जुलकर ही कार्य किया, परन्तु अंग्रेज सरकार उससे प्रच्छन्न मेल रखती रही।

राजशासन ने १९०९ में जिन सुधारों की घोषणा की, उसमें मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन-प्रणाली का प्राधिकार (Privilege) दिया गया। राज-कारण में धार्मिक सम्प्रदायों को महत्ता देने से विभाजक प्रवृत्तियों का प्रसार होता है। अंग्रेजों की इस कूट-नीति से भारतीय जीवन की अविच्छिन्न, अखण्ड एकता में एक खाई पड़ गई। कौन जानता था कि भविष्य में विभेद की यह खाड़ी बढ़ते-बढ़ते एक सागर बन जायगी ?

१९१३ में मुसलिम लीग ने भी अपना लक्ष्य 'स्वशासन' ही घोषित किया और १९१६ में तो वह कांग्रेस के साथ हो गई। इसका कारण था

१. 'हिन्दुस्तान की कहानी' : जवाहरलाल नेहरू

खिलाफत आंदोलन

वस्तुत: मुसलमानों में भी इस समय असन्तोष और क्षोभ था एक धार्मिक प्रश्न को लेकर। तुर्की का सुलतान उनका 'खलीफा' था और इस युद्ध में वह इंग्लैंड के विरुद्ध-पक्ष में था। फलत: मुसलमान अंग्रेज सरकार के विरोध में जाने लगे। १ इन्हीं कारणों से १९१६ की कांग्रेस ने लखनऊ में हिन्दू-मुसलमानों में एकता का दृश्य देखा। सौम्य और उदारदलीय नेता भी यहीं मिले।

इस राष्ट्रीय एकता से भारतीय स्वतन्त्रता-आंदोलन को बड़ी गति मिली। स्वराज्य की स्थापना के लिए एक सम्मिलित योजना बनी। एक बार फिर आन्दोलन और दमन की कहानी चली। परन्तु दमन के ईंधन से आन्दोलन की ज्वाला और भी भड़की। १९१७ में अंग्रेज सरकार ने भारतीय उत्तेजना को शान्त करने के लिए 'भारत में उत्तरदायी शासन की क्रमिक प्राप्ति' की नीति की घोषणा की। इस घोषणा से एक बार स्वर्णिम आशाओं का इन्द्रजाल सामने प्रस्तुत हो गया। सौम्यदलीय नेताओं ने इस पर हर्ष प्रकट किया। परन्तु इस बार कांग्रेस उग्र दल के प्रभाव में थी। अत: सौम्य दल पृथक् हो गया।

कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

२० वर्षों की इस राष्ट्रीय गति-विधि में भारतीय राजनीति की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ कविता पर प्रभाव की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

१९१० में जार्ज पंचम का राजत्व आरम्भ हुआ, इधर लार्ड हार्डिंज वायसराय बने। १९११ में राज्यारोहण के उपलक्ष्य में दिल्ली में विशाल राज-दरबार हुआ जिसे सम्राट्-सम्राज्ञी ने भी अलंकृत किया। भिन्न-भिन्न राज्यों के राजा-महाराजा भी अपने 'सम्राट्' की अभ्यर्थना के लिए दिल्ली में समवेत हुए; केवल मेवाड़ के महाराणा फ़तहसिंह कवि (केसरीसिंह) की प्राणोत्पादक कविता की 'चेतावनी' + पाकर अपनी स्पेशल लेकर लौट पड़े।

दरबार में सम्राट् ने कई राजकीय घोषणाएँ कीं। इनमें महत्त्वपूर्ण है

---

*न लैसंस हथियार का है न जोर कि टरकी के दुश्मन से जाकर लड़ें।
तहे दिल से हम कोसते हैं मगर कि इटली की तोपों में कीड़े पड़ें।
—अकबर

+राजस्थान के प्रसिद्ध डिंगल कवि केसरीसिंह बारहट के तेरह सोरठे जो 'चेतावनी का चूंगट्या' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

बंग-भंग का प्रतिषेध। इसे जनता ने आन्दोलन की विजय माना और सार्वजनिक उत्साह की वृद्धि हुई।

बम-प्रहार

१९१२ में जब लार्ड हार्डिंज नई राजधानी दिल्ली में हाथी पर सवार होकर प्रवेश कर रहे थे तो आतंकवादियों ने उनपर फूल के स्थान पर 'बम' फेंका। इससे बड़े लाट तो बच गये, पर उनका अंगरक्षक मारा गया। यह घटना कहती है कि ब्रिटिश शासन-तन्त्र के प्रति अभी विप्लववादी वर्ग कितना असन्तुष्ट था !

इस बम की प्रतिक्रिया भी विचित्र हुई। राज-भक्त नेताओं ने इसपर खेद-प्रकाश किया, शिक्षित वर्ग ने इसे चिन्तनीय माना, पत्र-पत्रिकाओं ने इसकी निन्दा की और कांग्रेस ने तो दुःख-सूचक प्रस्ताव स्वीकृत किया। कारण यह था कि कांग्रेस में सौम्य दल का प्रभुत्व था। सरकार ने सामान्यतया सौम्य दल से मेल-जोल रक्खा, परन्तु उग्र दल के नेतागण कठोर कारागार और निर्वासन के दण्ड भोगते रहे।

इस प्रकार उस समय की भारतीय राजनीति राजभक्ति और राजद्रोह के झूले में झूलती थी। कविताएँ भी राजद्रोहात्मक न हो सकीं क्योंकि कुल मिलाकर मौण्टफोर्ड सुधारों के कारण सरकार और नेताओं के सम्बन्ध अच्छे चलते रहे। यद्यपि पूर्ण सन्तोष इससे भी नहीं हुआ; क्योंकि प्रेस एक्ट अभी तक चला आ रहा था। इससे विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा थी। और इसके विरोध की गूँज पत्र-पत्रिकाओं में सुनाई देती थी।

इस उत्तरार्द्ध की कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो विदेश में घटित होने पर भी भारतीय भूमि पर होनेवाली प्रतिक्रिया के लिए उत्तरदायी हैं।

(१) दक्षिणी अफ्रीका का सत्याग्रह

पहिली घटना है दक्षिणी अफ्रीका के ट्रान्सवाल प्रान्त में प्रवासी भारतीयों पर होनेवाले असभ्यतापूर्ण और अमानुषिक अत्याचारों के विरोध में भारत-पुत्र मोहनदास करमचन्द गांधी के द्वारा सरकार से निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा 'सत्याग्रह'। इसमें गांधीजी को विजय मिली और स्वदेश में जादू का-सा प्रभाव हुआ। संपूर्ण देश में सत्याग्रह-नीति के प्रति विस्मय का भाव जाग्रत हुआ और उसके आविष्कर्त्ता के प्रति श्रद्धा की भावना। वह उसका अभिनन्दन-अभिवन्दन करने के लिए आकुल हो उठा और उस भावी युग की प्रतीक्षा

करने लगा जब उसके नेतृत्व में भारत को भी ऐसा ही सत्याग्रह का अवसर मिलेगा। जनता के मन में भाव-क्रांति का श्रीगणेश दिखाई दिया। सत्य और अहिंसा के तत्व राष्ट्रीयता के साथ अभिन्न हो गये।

(२) प्रथम यूरोपीय महासमर

दूसरी घटना है १९१४ में यूरोप की भूमि पर महासमर का विस्फोट। इस युद्ध में वायसराय के द्वारा इंग्लैंड की ओर से लड़ने के लिए पहिले की भाँति पुष्कल भारतीय सेना भेजी गई। राजा-महाराजा, धनपति, भूमिपति और किसान सभी वर्गों ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी। इधर सौम्यदलीय कांग्रेस ने राजभक्ति का उल्लेख करते हुए पुन: अपनी स्वशासन की मांग दुहराई। यह राजनीतिक वातावरण की शांति का परिचायक था।

कुल १३ लाख व्यक्ति, जिनमें आठ लाख सैनिक देशी अफसर और सिपाही थे, युद्ध में लड़ने को भेजे गये और वहाँ उन्होंने बड़ी वीरता प्रदर्शित की। एक जर्मन विद्वान् के शब्दों में "फ्रांस की खन्दकों में जो बालू के बोरे थे, वे भारतीय जूट (पाट) के थे, उनके पीछे से जो सैनिक गोलियाँ दागते थे वे भारतीय थे।" 'युद्ध के वातावरण में भारत में एक बड़ी कसमसाहट थी। जातीय गीतों की धूम थी।'

(३) रूस की क्रांति

१९१७ के नवम्बर मास में रूस ज़ारशाही को हटाकर एक जनतन्त्र के रूप में उठ खड़ा हुआ। रूसी किसानों-मजदूरों की वह मुक्ति भारत में भी मज़दूर-किसानों के लिए प्रेरणादायी हो गई।

राष्ट्रीयता का दूसरा ज्वार

हमने देखा था कि स्वदेशी आन्दोलन के प्रथम ज्वार के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय जीवन का समुद्र शान्त और गम्भीर हो चला था। लोकमान्य तिलक ६ वर्ष तक मांडले जेल में रहकर स्वदेश लौटें उसके पहिले उसमें वेग आना सम्भव नहीं हो सका। तिलक ने आते ही राष्ट्रीय दल का संगठन किया। १९१५ से २० तक होमरूल लीग (स्वराज्य संघ) के नेता तिलक के नेतृत्व में राष्ट्र में अद्भुत विराट् हलचल होती हुई दिखाई देती थी। रोष की भावना भीतर दबी हुई थी। अब उसमें फिर एक ज्वार का उद्वेलन आनेवाला था १९१९ में। इसकी कहानी संक्षेप में यह है—

यूरोप में युद्ध चल रहा था, इधर भारत में राजशासन की ओर से दमन और शमन की द्वैध नीति चरितार्थ हो रही थी।

गांधी का प्रवेश

१९१५ में कर्मवीर गांधी अफ्रीका के विजयी सेनानी के रूप में स्वदेश लौटे। देश ने हृदय से उनका अभिनन्दन किया। उनकी नूतन राजनैतिक रणनीति 'सत्याग्रह' की कीर्ति तो देश भर में गूँज रही थी परन्तु उसको कार्यान्वित नहीं किया गया था। गांधी जी गुरु गोखले की इच्छानुसार पहिले राजनीति से तटस्थ ही रहे। फीरोजशाह मेहता ने भी कहा—भारतवर्ष दक्षिणी अफ्रीका नहीं है।

गांधी को सत्याग्रह के प्रथम प्रयोग का अवसर मिला १६ के अन्त में, जब फिजी की गिरमिट प्रथा को बन्द करने के लिए उन्होंने सरकार को व्यक्तिगत सत्याग्रह की चुनौती दी और १७ में वायसराय ने घोषणा की कि यह प्रथा बन्द कर दी गई। सत्याग्रह की पहली विजय हुई।

१७ के मध्य में गांधी ने सत्याग्रह का दूसरा प्रयोग चम्पारन के नील क्षेत्रों में किया। गांधी की सत्याग्रह-नीति से ही उन किसानों का पक्ष विजयी हुआ। बिहार में गांधी मानो देवदूत हो गये।

१९१८ में गुजरात के खेड़ा और अहमदाबाद के अकाल-पीड़ित कृषकों और श्रमिकों के कष्टों को दूर करने के लिए भी उन्होंने सत्याग्रह-नीति का ही सफल प्रयोग किया। इससे भारतवासियों के विचार-जगत् में एक अद्भुत क्रांति हुई। किसी ने समझा कि ब्रिटिश राज को भी झुका देने की शक्ति गांधी जी के पास है, किसी ने समझा कि यह हमारे उद्धार का एक ऐसा साधन है जो भारत भूमि में उग और फूल-फल सकता है। निःशस्त्र निर्बल जनता के हाथ में यह सबल आत्मिक अस्त्र देकर गांधी ने एक नये युग का सूत्रपात किया।

महायुद्ध में जब भारत व्यापक सहयोग की नीति से चल रहा था अंग्रेजी सरकार ने आतंकवादी प्रवृत्तियों को दबाने के लिए रौलट कानून बनाने की राजनैतिक भूल की। गांधी जी ने तुरन्त चेतावनी दी कि यदि ये बीजक (बिल) कानून के रूप में आये तो वे सत्याग्रह का शंखनाद कर देंगे। यह सत्याग्रह असहयोग के रूप में आनेवाला था। उनका विश्वास था कि स्वराज्य का जन्म सत्याग्रह से ही होगा। गांधीजी का प्रभाव अब कांग्रेस पर हो गया था।

गांधी के सत्याग्रह की धूम के दिनों में हिन्दी कविता में उदात्त उत्साह और जीवन है, जिससे उत्कट राष्ट्रवाद की प्रेरणा और प्राणोत्सर्ग की स्फूर्ति

उद्बुद्ध होती है। स्पष्ट शब्दों में असहयोग और सत्याग्रह उपस्थित हो गया।

उधर यूरोप में युद्ध समाप्त हुआ और इधर भारत में उसके उपहार-स्वरूप सुधारों के बदले यह काला कानून मिला। शासन-तन्त्र के सुधारों के पहिले यह वज्राघात राष्ट्र के लिए असह्य हो गया। गांधी जी ने सत्याग्रह का आह्वान किया और राष्ट्र ने गांधी के आह्वान पर अपने आपको समर्पित कर दिया। पहिले ३० मार्च और फिर ६ अप्रैल इसके प्रारम्भ की तिथि नियत की गई। देश भर में विद्रोह का ज्वार आ गया। हिन्दुओं और मुसलमानों ने एकप्राण होकर इसमें भाग लिया। यह जाग्रति १९०६ के स्वदेशी आन्दोलन से भी कई गुनी थी। देश भर में सर्वत्र हड़तालें हुईं। देशवासियों ने अपने आत्मिक बल से संगीनों पर विजय पाई।

राजसत्ता ने फौजी कानून, सभाबन्दी आदि के रूप में दमन प्रारम्भ कर दिया था। गांधी जी दिल्ली-पंजाब की ओर जा रहे थे कि उन्हें रोककर बम्बई पहुँचा दिया गया। ६ अप्रैल को देश के नगर-नगर में हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा जुलूस आदि की धूम मची हुई थी।

अमृतसर में भी ज्वाला सुलग रही थी। वहाँ नव वर्ष के नूतन दिवस (१३ अप्रैल) को एक सार्वजनिक सभा जलियाँवाला बाग में हुई। २० हजार व्यक्तियों की भीड़ पर गोली चली। ४०० हिन्दू-मुसलमान स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध हत हुए और १५०० आहत! जलियाँवाला बाग के इस भयंकर नरमेध को देखकर मानवता ने अपना लज्जित मस्तक झुका लिया। ऐसे शत सहस्र निरीह आबालवृद्ध भारतीयों के रक्त से रञ्जित भारत का नवीन शासन विधान (१९१९) हमें मिला।

अंग्रेज सरकार के लिए यह नगण्य घटना रही होगी परन्तु राष्ट्र के इतिहास में वह एक ज्वलन्त अध्याय बन गई है।

कविता में भी यह जलियाँवाला बाग अमर है। आबालवृद्ध जनसमूह का बलिदान एक अनुष्ठान है, ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक का सप्ताह एक पुण्य पर्व है और जलियाँवाला बाग एक तीर्थ है।

गांधी-युग का सूत्रपात

रौलट बिलों के विरोध करने का सार्वजनिक निर्देशन गांधीजी ने ही दिया था। देश के सर्वोच्च नेता लोकमान्य विलायत में ही थे कि गांधी जी ने भारतीय जनता की मनोभावना का उचित प्रतिनिधित्व और नेतृत्व करते

हुए राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन का संकल्प कर लिया। तिलक ने लौट-कर समर्थन के स्वर में कहा—मुझे खेद इतना ही है कि जब गांधीजी ने सत्याग्रह किया तो उसमें सम्मिलित होने के लिए मैं यहाँ न था।

इस प्रकार गांधी के नेतृत्व में सीधे संघर्ष के युग का श्रीगणेश हुआ। इस घटना के साथ साथ हम उस सीमारेखा पर आ जाते हैं जिसके आगे असह-योग का विराट जन-आन्दोलन संचालित हुआ।

गांधी की अहिंसा-नीति और सत्याग्रह का पूर्व प्रभाव तो हिन्दी कविता पर १९१५--१६ से ही पड़ने लगा है। राजनीति के क्षेत्र में भी यह प्रभाव पड़ने लगा था। सन् १९०९ की कांग्रेस को उनका यह संदेश था—

"निःशस्त्र प्रतिकार भारत की कई बुराइयों का एक रामबाण उपाय है। हमारी संस्कृति के अनुरूप यही एक शस्त्र हमारे पास है। हमारे देश और जाति को आधुनिक सभ्यता से बहुत कम सीखना है, क्योंकि उसका आधार घोर से घोर हिंसा पर है जो कि मानव में दैवी गुणों के अभाव को सूचित करती है और जो स्वयं आत्मविनाश की ओर दौड़ रही है।"

वस्तुतः सत्याग्रह का मंत्र देश के अनेक नेताओं को मिल गया था और वे राजनीतिक सभाओं में समय-समय पर उसका उद्घोष करते थे। प्रयाग में महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में लो० तिलक का स्वराज्य पर भाषण हुआ और उसमें उन्होंने 'सत्याग्रह' अथवा 'निःशस्त्र प्रतिकार' के विषय में कहा था—

"जो कानून-कायदे न्याय व नीति के विरुद्ध हों उनका हम पालन नहीं कर सकते। निःशस्त्र प्रतिकार साधन है, साध्य नहीं। हमारी लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में कृत्रिम व अन्यायी कानून या परिस्थिति बाधक हो उसका प्रतिरोध करना निःशस्त्र प्रतिकार है। निःशस्त्र प्रतिकार नितान्त वैध है।"

यह विचित्र संयोग की बात है कि इससे पूर्व गांधीजी स्वदेश में भी चम्पारन में सत्याग्रह का सफल प्रयोग कर चुके थे।

लोकमान्य ने गांधीजी के जीवन-चरित (मराठी) की प्रस्तावना में लिखा था—

"जो देशभक्त वैध रीति से सुधार करना चाहते हैं उनके मार्ग में कई कठिनाइयाँ आती हैं। मन सन्तप्त रहता है, सुधार की उत्कट इच्छा होती है कानून भंग करना अटपटा लगता है, लेकिन कोई उपाय नहीं दीख पड़ता।

ऐसी ही कठिनाइयों में गांधी को निःशस्त्र प्रतिकार का, विरोध का, उनकी भाषा में सत्याग्रह का मार्ग सूझा है और इस पर चलते हुए उन्होंने बहुत कष्ट सहे हैं। इसीलिए अब यह शास्त्र-पूत हो गया है।" (मार्च, १९१८)

गांधी के परोक्ष प्रभाव से और तिलक आदि के अप्रत्यक्ष प्रभाव से भारतीय राजनीति धीरे-धीरे सत्याग्रह के पथ पर अग्रसर हो रही थी। यदि 'सत्याग्रह' राष्ट्रीय व्यापकता के साथ कार्यान्वित नहीं किया जा सका तो इसका स्पष्ट कारण यह था कि सरकार ने समझौते की नीति प्रारंभ कर दी थी। उसकी घोषणा होगई कि 'हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिलेगा लेकिन वह किश्तों में दिया जायँगा। पहिली किश्त महायुद्ध के बाद मिलेगी। शेष किश्तें कब दी जायंगी इसका निर्णय पार्लमेण्ट समय समय पर करेगी. और पहली किश्त की योजना बनाने के लिए तथा भारत का लोकमत जानने के लिए भारत-मंत्री मांटेग्यू हिन्दुस्तान आयेंगे।' क्षुब्ध वातावरण शांत हो गया और स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उत्साह भारतीय जनता के मानस में सत्याग्रह के उत्साह और पौरुष की मंगलीकृत भावना के रूप में प्रतिफलित हुआ। कविता पर इसकी स्पष्ट मुद्रा दिखाई देती है।

हण्टर कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित होते ही गांधीजी ने राष्ट्र की भावी राजनीति का निश्चय कर लिया और वे भारत को निःशस्त्र क्रांति की दीक्षा देने के लिए युग के नेता लोकमान्य के पास दीक्षित होने पहुँचे। लोकमान्य ने कहा—'यदि जनता आपकी रण-रीति को ग्रहण कर ले, तो मैं आपके साथ ही हूँ।' और गांधीजी ने तुरन्त ही निःशस्त्र क्रांति (असहयोग-आंदोलन) की रण-रीति चलाने का संकल्प कर लिया। इस प्रकार गांधी का युग आरम्भ हुआ।

१९२० से ही भारतीय राष्ट्रसभा ने भी अपना पुराना ध्येय (वैध मार्गों से औपनिवेशिक स्वराज) बदलकर 'उचित और शांतिमय साधनों से स्वराज्य प्राप्ति' कर लिया। 'बहिष्कार' से जो संघर्ष आरम्भ हुआ था वह अधिक उग्र और आध्यात्मिक होकर 'असहयोग' रूप में परिणत हुआ।

असहयोग का सूत्रपात १ अगस्त १९२० को हुआ और उसी दिन लोकमान्य का महाप्रयाण हो गया।

गांधी ने जिस 'सत्याग्रह' का भारत-भूमि में प्रारम्भ किया वही भिन्न-भिन्न रूपों में १९४१ तक चलता रहा है। गांधी ही सत्याग्रह के स्रष्टा और

द्रष्टा थे। इसी के द्वारा भारत ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की और संसार की राजनीति में अभूतपूर्व अध्याय जोड़ा।

गांधीजी ने प्रत्यक्ष रूप से १९१६ काशी विश्वविद्यालय की वक्तृता में नया तत्त्वज्ञान भारत को दिया था। यह तत्त्वज्ञान भारतीय संस्कृति के सत्य और अहिंसा तत्त्व पर आधारित था। दूसरे शब्दों में—सत्य और अहिंसा की संस्कृति राजनीति का प्राण बनकर आ गई। इस समय अहिंसावादी राजनीति से सम्बन्धित जो राष्ट्रीय भावना की कविताएँ लिखी गईं उनमें गांधी जी के सत्य-व्रत और अहिंसा-नीति की अभिन्न अनुप्रेरणा है।

गांधी-सत्याग्रह से प्रतिरोध का एक नया विधि-विधान तो मिला ही, एक मृतप्राय राष्ट्र में अभूतपूर्व शक्ति का संचार भी हुआ। भारत की शारीरिक दुर्बलता को आत्मा का बल मिल गया।

महासमर के समय तक भारत अंग्रेजों के प्रति उदार और सहायक था। अंग्रेजों की ओर से शासन-सुधार और स्वराज की मृग-मरीचिका दिखाई जाने के कारण भारत विद्रोह की ओर न जा सका। परन्तु महायुद्ध के समाप्त होते ही उस पर वज्राघात हुआ—नये-नये प्रतिबन्ध, नये-नये काले कानून और सबके ऊपर जलियाँवाला बाग का नरमेध। फल यह हुआ कि भारत में क्रान्ति की भावना जाग उठी। राजनीति ने उग्ररूप धारण कर लिया। गांधी के नेतृत्व में देश को अहिंसक प्रतिरोध और सत्याग्रह का मार्ग मिला, जिनमें अहिंसावाद की विचार-धारा का प्रभाव रहा। यह अहिंसा भारत की सांस्कृतिक निधि थी। शरीरबल से अधिक आत्मबल पर भारत का आग्रह हुआ। राजनीति आरामकुर्सियों से हटकर जन पथ, कर्म पथ पर आ टिकी। सत्ता जनसाधारण के हाथ में पहचानी गई। भारत की कोई सार्वदेशिक समस्या उच्च स्तर को ही ध्यान में रखकर सुलझाई नहीं जा सकती, कोटि कोटि जनता को साथ लिये बिना भारत को राजनीतिक मुक्ति नहीं मिल सकती—यह स्पष्ट हो गया। जनता के युग का सूत्रपात हुआ।

किसान और मजदूर में विराट् शक्ति निहित है क्योंकि वे भारतीय जन के शरीर हैं, यह गांधी-युग में पहिचाना गया है। साथ ही यह चेतना भी इस युग में आई है कि राजनीतिक उद्धार के अवलम्ब के लिए भारत का सामाजिक संस्कार भी आवश्यक है। सामाजिक कायाकल्प ही राजनीतिक मुक्ति की भित्ति है—यह प्रतीति इस काल की कविताओं में भी प्रतिबिम्बित होती है।

ग : सामाजिक स्थिति

सुधार और प्रगति

(आर्थिक दशा)

यह इतिहास का सत्य है कि पहिले भारत विदेशियों के हाथ बिक गया, फिर वह उसके द्वारा शासित होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना का उद्देश्य ही भारत के तैयार माल को यूरोप में बेचना था, परन्तु उद्योगपति पूँजीवादियों ने इस क्रम को उलट दिया और भारत को बाजार बना दिया। इसमें कोई अतिरंजन न था कि 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में भारतवर्ष गिरवी था। ब्रिटिश सरकार ने उसे दाम देकर छुड़ा लिया।' अंग्रेजी राज भारत के घोर आर्थिक शोषण का ही दूसरा पार्श्व है। भारतीय विद्रोह के पश्चात्, भारतेन्दु के शब्दों में—

अँगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

धन के विदेश चले जाने की कहानी एक अंग्रेज ने ही यों कही है—"हमारी पद्धति एक स्पंज के समान हैं जो गंगा तट से सब अच्छी चीजों को चूसकर टैम्स तट पर ला निचोड़ती है।"

पं० नेहरू के शब्दों में—"ब्रिटिश राज में जो हिंसा, धन-लोलुपता, पक्षपात और अनीति है उसका अनुमान लगाना कठिन है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिन्दुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में सम्मिलित हो गया 'लूट' है।"*

इस आर्थिक शोषण का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान की अर्थनीति अकाल और दुर्भिक्ष की कहानी बन गई। १७७० (बंगाल-बिहार) और फिर १८९६-९७ और १९०० ई० में होने वाले दुर्भिक्षों से भारतीय जनता निस्सत्व होती गई तथा निरन्तर भूखों मरते-मरते बेचारे भारतीय किसान-मजदूर को भूख की बहुत कुछ आदत बन गई। भारतीय जनता की यह सब कंगाली और दरिद्रता अंग्रेजी अर्थतंत्र का कुफल थी। देश में अब चारों ओर ऐसे मजदूर थे जो गोरों की खेती के दास हो गये। बंगाल-बिहार में नील की खेती भारतीय किसानों के शोषण की कहानी है।

---

* 'डिस्कवरी आव इण्डिया' : जवाहरलाल नेहरू

इसी के साथ एक विपत्ति और थी। अंग्रेज लोग भारत से प्रतिज्ञा-बद्ध मजदूर पकड़कर अपने दूसरे उपनिवेशों में उद्योगों में काम लेने के लिए ले जाते थे। भूखों मरते बेकारों को सब्ज़ बाग़ दिखाकर भरती करानेवाले आरकाटी पाँच साल के समझौते पर अँगूठा लगवाकर उन्हें ले जाते थे। ये मजदूर 'कुली' कहलाते थे, जो दास (गुलाम) का ही नया नाम था।

१८वीं, १९वीं शताब्दी में यह सब बड़े वेग से हुआ और २०वीं शताब्दी में इसके विरोध में हलचल हुई। बंग-भंग के पश्चात् जो 'स्वदेशी आंदोलन' चला उसमें 'विदेशी बहिष्कार' का आन्दोलन आर्थिक विद्रोह ही कहा जायगा।

कृषकों की संख्या का अनुपात ५२ प्रतिशत से ७३ प्रतिशत हो गया। किसान सबसे अधिक पीड़ित और शोषित वर्ग था। किसान जो भारत का अन्नदाता है, उस किसान को 'पृथ्वीतल का सबसे अधिक दरिद्र और दुखी प्राणी' बनना पड़ा!

गाँवों की दशा दयनीय हो गई। जिन गाँवों में भारत का सच्चा स्वराज केन्द्रित था और जो पूर्णतया समृद्ध थे, वे सब पीड़ा से कराहने लगे। जमींदारी प्रथा ने उन्हें बर्बाद ही कर दिया। ग्राम-जनपदों की संयुक्त और सहयोगपूर्ण जीवन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

उद्योग-धन्धों और शिल्प कला के ह्रास की परम्परा अभी चल ही रही थी; क्योंकि भारत के उद्योग-हीन बनाने से ही इंग्लैंड का उद्योगवाद पालित-पोषित हो सकता था। "यदि ऐसा न होता तो मेंचेस्टर की मिलें शुरू में ही बन्द हो जातीं और फिर भाप को ताकत से भी न चल सकतीं।"*

किसान के शोषण-पीड़न के विरुद्ध चम्पारन और खेड़ा में किसान-आंदोलनों का श्रीगणेश इसी काल में होता है और इससे पहले दक्षिण अफ्रीका में भी प्रवासी भारतीयों की ओर से शोषक सत्ता से गांधी के नेतृत्व में सीधा संघर्ष इसी काल में चलता है।

इन सब आर्थिक आंदोलनों को राजनीति ने अपना अंग बनाया है। राष्ट्रसभा ने राजनीति के आर्थिक पक्ष को उपेक्षित नहीं किया है और स्वदेशी आदि के कार्यक्रम सामने आये हैं। जीवन से इनका सीधा संबंध होने के कारण कविता में इस आर्थिक जीवन की पूरी प्रतिच्छाया आई है।

---

* 'इतिहास-प्रवेश' (जयचन्द्र विद्यालंकार)

नैतिक दशा

समाज के दुखी होते हुए भी यह स्पष्ट है कि २० वीं शताब्दी का समाज पहिले से सर्वथा परिवर्तित है। सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में तो स्पष्टतया युग-परिवर्तन था ही, उसका अन्ततः प्रभाव समाज की स्थिति पर पड़ा। १९वीं शताब्दी की जड़ता, रूढ़िवादिता और सन्तोषपूर्ण राजभक्ति नमस्कार करके जाती हुई दिखाई देती है। यह स्मरणीय है कि समाज में उच्च स्तर पहिले जाग्रत होता है, निम्न स्तर का बन्धन पीछे टूटता है।

२० वीं शताब्दी के भारत के सामाजिक शरीर को ऐसा शरीर कह सकते हैं कि जिसकी रुग्णता का बोध उसके मस्तिष्क को हो चुका है और शरीर भी अपने आप में विकल है। युग-युग की पराधीनता के रोग से जर्जर शरीर को स्वास्थ्य-साधन के लिए जो अथक साधना करनी पड़ती है, उसकी चेष्टाएँ अब सजग दिखाई देती हैं।

नैतिक जगत् में यद्यपि राष्ट्रीय अभ्युत्थान की चेतना सजग हो गई है, परन्तु व्यक्तिगत जड़ताओं का बन्धन बद्धमूल होकर स्वभाव बना हुआ है। अज्ञान, आलस्य, ईर्ष्या, दम्भ, दुराचार, फूट, विलास-वासना और व्यभिचार-अगणित बुराइयों का घर समाज है। उद्धार का लक्षण यही है कि समाज अपनी अधोगति के प्रति जागरूक सी है। चेतन मस्तिष्क जड़ शरीर को इस विषय में सदैव प्रबुद्ध करता रहता है। 'आर्य्यसमाज' ने इस दिशा में स्तुत्य कार्य किया है। उसका समाज-सुधार का विधायक कार्यक्रम इसीलिए सफल हो सका कि समाज जाग्रत था।

इस काल के नेता, विचारक और कवि समाज की रुग्णता-दुर्बलता को मिटाने के लिए अपनी लेखनी और वाणी द्वारा प्रबल प्रेरणा देते हैं। कभी वे समाज के यथार्थ का नग्न चित्र खींचते हैं और कभी उसके आदर्श का व्याख्यान करते हैं।

नैतिक उच्चता और उत्कर्ष ही समाज-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण का एक प्रबल स्तम्भ है यह चेतना इस काल में आ चुकी है। कविता में तो यह बड़े उच्च स्वर में मुखरित होती है। इसका अनुशीलन 'सामाजिक कविता-धारा' के अन्तर्गत हम करेंगे।

घ : कला और साहित्य

—'न वो त्था न'—

समाज की संस्कृति के अंगभूत कला और साहित्य का नवोत्थान इस काल में देश के सभी भागों में हुआ। यों तो साहित्य संस्कृति का ही एक पार्श्व है परन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध की दृष्टि से उसका आकलन पृथक् रूप से करना इष्ट हुआ। हिंदी का अपना क्षेत्र कई भारतीय भाषाओं से घिरा हुआ है। पूर्व में बंगाल जीवन के सभी क्षेत्रों में नवजागरण का प्रवेश-द्वार रहा और साहित्य में गुजरात भी बंगाल के साथ साथ जाग्रत हुआ। बंगाल पूरी एक अर्द्धशताब्दी से अन्य प्रान्तों से अग्रगामी रहा है, परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता है यह प्रगति मध्यदेश में फैलती जाती है और हिन्दी अपने साहित्य में अन्य समृद्ध देशी साहित्यों से स्पर्द्धा करने लगती है। आज वह इनमें से किसी से पीछे नहीं है, यदि उसे जनाश्रय के साथ साथ राजाश्रय भी प्राप्त होता, तो वह कभी की साहित्य-समृद्धि में बढ़ चुकी होती।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही उत्कर्ष और उन्नति के प्रभात-पवन के आघात से भारत के सभी भाषायी क्षेत्र अपनी अपनी अस्मिता लेकर जाग्रत हो गये थे। बंगाल और गुजरात, फिर महाराष्ट्र और मध्यदेश जागरण का यह क्रम है; मध्यदेश (उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य भारत) सबके पीछे उठता है। बंगाल में बंकिम, गुजरात में नर्मदाशंकर, महाराष्ट्र में चिपलूणकर और मध्यदेश में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हाली साहित्य के जागरण के अग्रदूत के रूप में आये।

आलोच्यकाल में कलाओं का भी अभ्युत्थान हुआ है। कला के नवोत्थान में दो प्रेरणाएँ थीं—

(१) प्राक्तन शास्त्रीय अभिरुचि।

(२) आधुनिकतम पाश्चात्य-कला का प्रभाव-संस्कार।

गायनाचार्य विष्णुपन्त दिगम्बर पलुसकर के द्वारा संगीत-कला का पुनरुज्जीवन हुआ। उन्होंने गायनकला को शास्त्रीय रूप दिया है और 'जैसे अंगरेजी में संगीत के अंकन की रीति है वैसा ही आपने हिंदी में अंकन रीति निकाली है।'*

---

*'सरस्वती' (अक्टूबर १९०७) के एक लेख से

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चित्रकला में राजा रविवर्मा ने अच्छी ख्याति अर्जित की। उन पर भी पाश्चात्य और भारतीय प्रभाव स्पष्ट हैं— चित्रविषय के लिए पुराण ने ही प्रेरणा दी और इस दिशा में वे अग्रणी हुए। 'रविवर्मा के पहले किसी भारतवासी शिल्पी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित-नायिका वा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का तैलचित्र नहीं बनाया था।' १

"आजकल के दिनों में चित्रविद्या रूप श्रेष्ठकला की ऐसी अवनति और दुर्गति हो रही है कि यदि रविवर्मा अपनी प्रतिभा से इसे फिर गौरव न दिलाते तो इसका पुनरुज्जीवन निस्संदेह बहुत धीरे-धीरे होता। यदि कभी भारतवर्षीय चित्रविद्या का इतिहास लिखा जाय, तो वे आधुनिक युग में इसके जन्मदाता कहलाकर पूजित होंगे।" २

२० वीं शताब्दी के इन दो दशकों में चित्रकला के पुनर्जागरण की दूसरी अवस्था थी—यूरोपीय कला के संस्पर्श से भारतीय कला को नव प्रतिष्ठा। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रसिद्ध चित्रकार हैवल के प्रभाव से उस प्राक्तन पौराणिक कला को नई रूप-रेखा दी और वे आधुनिक चित्रकला के जन्मदाता हुए।

राजा रवि वर्मा के चित्रों का प्रचार २० वीं शताब्दी के प्रथम दशक में भी रहा और वह हिन्दी कवियों के लिए प्रेरक हुआ।

सभी प्रबुद्ध देशों की एक राष्ट्रभाषा होती है और उस भाषा का साहित्य समृद्ध और समुन्नत होता है यह चेतना तो उत्तरापथ के शिक्षित जनों में है ही। उत्तरापथ में हिन्दी की एक मात्र प्रबल प्रतिद्वन्द्विनी 'उर्दू' भाषा रही।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में यद्यपि भारत की राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने की उच्चाकांक्षा बंगला ने भी की, परन्तु भारत के हृदय देश की भाषा होने के कारण हिन्दी का डंका स्वतः चारों ओर बजने लगा।

साहित्य के क्षेत्र में तो एक महान् साधना का युग इसे कहना उचित होगा। १९ वी शताब्दी उत्तरार्द्ध तक के नवोत्थान को प्रथम और २०वीं शताब्दी प्रथम दो दशकों के ज्ञान के जागरण को द्वितीय चरण कहा जा सकता है।

प्रथम चरण में मुद्रण के प्रवेश के साथ साथ उदन्तमार्तण्ड, बंगदूत, बनारस अखबार, बुद्धि प्रकाश, सुधाकर, हिन्दोस्तान; आर्य दर्पण, भारत मित्र, लोक मित्र, अलमोड़ा अखबार, हिन्दी दीप्ति प्रकाश, बिहार बन्धु, सदादर्श;

---

१ 'सरस्वती' : जनवरी १९०२

२ उपर्युक्त

भारत बन्धु, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, सज्जन कीर्ति सुधाकर; आनन्द कादम्बिनी देश हितैषी, शुभचिन्तक, सदाचार मार्तण्ड, पीयूष प्रवाह, बाला बोधिनी; भारतजीवन, भारतेन्दु, आर्य दर्पण, मित्र विलास, उचित वक्ता, सारसुधानिधि आदि राशि राशि पत्र-पत्रिकाएँ प्रकट होकर राष्ट्र-भारती हिन्दी के मध्यम से नवोत्थान का संदेश जनता को देने लगीं।

पश्चिमी सम्पर्क का प्रभाव एक और रूप में हिन्दी के हित में हुआ। राज्यकार्य के उपलक्ष्य से पश्चिम के ज्ञानपिपासु और सत्यान्वेषी विद्वानों और मनीषियों का परिचय भारत के प्राक्तन साहित्य-वैभव से हुआ। संस्कृत के काव्यों और नाटकों को देखकर उनकी आँखें खुल गईं और उन्हें अंग्रेजी भाषा में रूपान्तरित किया। शताब्दियों पूर्व रचित अभिज्ञान शाकुन्तल का इसी समय पहली बार (१७८८ ई०) अंग्रेजी में अनुवाद हुआ, जिससे उसे संसार के तीन सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान मिला।

इस प्रकार उन्नत अंग्रेज जाति के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर भारतीय गर्व और गौरव से अभिभूत हो उठे। उनमें आत्माभिमान की वृत्ति आई और उनकी हीनम्मन्यता (Inferiority Complex) दूर हो गई।

अंग्रेजों के द्वारा हिन्दी के कवियों और लेखकों का भी अनुशीलन हुआ और हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जाने का प्रयत्न हुआ। फ्रेडरिक पिनकॉट, ग्रियर्सन, हार्नली, ग्रीव्ज़, ग्राउस, ग्रिफ़िथ, थीबो आदि-आदि अनेक विदेशी विद्वानों ने हिन्दी में लिखा, पढ़ा और हिंदी की सेवा की प्रेरणा भी दी। 'खड़ी बोली का पद्य' नामक प्रचार-पुस्तिका की भूमिका पिनकॉट महाशय ने लिखी थी। यह इस बात का उदाहरण है।

यह निर्विवाद है कि भारत में साहित्य का नवोत्थान भारत में अंग्रेजी राज्य और उनकी भाषा तथा उनके साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप था। वेद, उपनिषद, दर्शन, पुराण के विधाता भारतवर्ष के ज्ञान का सूर्य यहाँ अस्त होकर पश्चिम में उदय हुआ था। यहाँ तमिस्रा का साम्राज्य था और यूरोप में विज्ञान का आलोक। पश्चिम के प्रत्यावर्तन से इस सोये हुए महा देश में फिर से जागरण की हलचल आई। अपना समस्त ज्ञान-कोष लेकर पश्चिम भारत में आ पहुँचा। बंगाल के साहित्यिक नवोत्थान की लहर पश्चिम दिशा में बढ़ी है और हिंदी का मूल प्रदेश जाग्रत हुआ है।

बंगभूमि के वातायन से वह आलोक हिन्दी के आंगन में आया तो इस आलोक में हिन्दी वाङ्मय ने भी आँखें खोलीं। हिन्दी के लेखक में शताब्दियों की दबी हुई ज्ञान की क्षुधा और बौद्धिक पिपासा जाग्रत हुई। उसके हृदय और मस्तिष्क नवीन भावलोक और विचार-क्षेत्र खोजने के लिए आकुल हो उठे। उनकी दृष्टि अपने और दूसरों के अतीत और वर्तमान की ओर गई और उनके भविष्य का मार्ग प्रस्तुत हुआ।

साहित्य के जागरण की प्रक्रिया जो आलोच्य काल से पहिले (१६ वीं शताब्दी) से ही गतिशील हो गई थी वही आलोच्यकाल (२० वीं शताब्दी) के प्राथमिक दशकों में विशेष रूप से क्रिया-शील रही। आगे की पंक्तियों में हम इसीको आकलित करना चाहते हैं। यहाँ हम अपनी दृष्टि को उन्हें शक्तियों तक सीमित रखेंगे जिनका विकास इस प्रबन्ध के आलोच्यकाल में हुआ है।

साहित्य के दो पक्ष हैं—(१) भाषा और लिपि और (२) साहित्याङ्ग। संक्षेप में इनकी गतिविधि का विकास इस प्रकार है।

—देशभाषा हिन्दी—

पूर्व-परिचय

१८३५ ई० बंगाल और पंजाब में फारसी भाषा दफ्तरों में थी। अंग्रेजी गवर्नमेंट ने इसको मिटाकर मराठी, गुजराती, बंगाली और उर्दू को इनके स्थान में किया।'१ "राज्य-कार्य में युक्तप्रांत में उर्दू जारी हो गई हिन्दी जारी नहीं हुई, इसका फल यह हुआ कि हिन्दी की बड़ी अवनति हुई।'२ यद्यपि सन् १८४४ ई० में जब टामसन साहब लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, सरकार ने हिन्दी भाषा का पढ़ना-पढ़ाना आरंभ किया।३ फिर भी अदालतों में हिन्दी के प्रवेश न करने से हिंदी की उतनी उन्नति नहीं हुई। उर्दू सरकारी दफ्तरों में जारी थी, उसी का प्रचार था।'४

हिन्दी का कचहरियों में प्रवेश

१९०० में संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में राज-काज में नागरी का व्यवहार मान्य हुआ। फलतः वेग से हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा, उर्दू से

१. मदनमोहन मालवीय का भाषण (प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन काशी अधिवेशन के सभापति पद से : १९१० ई०)

२-३-४. उपर्युक्त

हिन्दी बाजी मारने लगी। इस पर मुसलमानों ने हिन्दी के विरुद्ध आंदोलन आरम्भ कर दिया। परन्तु हिन्दी-भाषियों का उत्साह निरंतर बढ़ता ही गया।

आलोच्यकाल को हम हिन्दी के भाषा और नागरी के प्रचार, विकास, उत्थान और वृद्धि के एक विराट् आन्दोलन का युग कह सकते हैं।

भाषायी चेतना का स्फुरण कई संस्थाओं के रूप में हुआ। नागरी और हिंदी प्रचार और उद्धार के लिए काशी नागरी प्रचारिणी सभा (१८९३) सबसे आगे आई, फिर तो नागरी प्रचारिणी सभा (आरा), एक लिपि विस्तार परिषद् (कलकत्ता), भाषा संवर्द्धिनी सभा (अलीगढ़), हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्यसभा (प्रयाग) और नागरी प्रवर्द्धिनी सभा (प्रयाग) प्राण-पण से क्रियाशील हुईं। इसके अतिरिक्त छत्रपुर, इसलामपुर, जौनपुर, जालन्धर, मैनपुरी आदि नगरों में भी हिन्दी और नागरी के प्रचार के लिए सभायें काम करती थीं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'इन्दु', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि अनेक पत्रिकाएँ नागरी और हिन्दी की चेतना की प्रतीक थीं।

राष्ट्र और वाङ्मय का उत्थान समानान्तर और अन्योन्याश्रित रूप से होता है। यह चेतना इस काल के मनीषियों में मनोनिविष्ट थी—

"राष्ट्र के उत्कर्ष के साथ ही साथ वाङ्मय का भी उत्कर्ष होता है। वाङ्मय का उज्ज्वल और उन्नत स्वरूप ही राष्ट्र की उन्नति और उज्ज्वलता का कारण होगा। वाङ्मय से हमारे मनोविकार जाग्रत होंगे, हमारा अन्तःकरण उल्लसित होगा और हमारी विचार-शक्ति उद्दीपित होगी।"

यह स्मरण रहे कि स्वामी विवेकानन्द, महामना मदनमोहन मालवीय रामानन्द चट्टोपाध्याय, शारदाचरण मित्र जैसे दार्शनिक, नेता, सम्पादक और न्यायाधीश तक हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं।

स्वनामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित यह मंत्र-छन्द—

> निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
> बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।

तो निरन्तर हिन्दी-भक्तों को प्रेरणा देता रहा है।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के मुखपृष्ठ पर तो हिन्दी भाषा-प्रेम के उद्बोधक ये छन्द अंकित रहते थे, क्योंकि हिंदी भाषा और उसके साहित्य को प्रतिष्ठित और उन्नत देखने की आकांक्षा इस काल में सर्वोपरि थी :

करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जु सबको मूल।
विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देशन सों लै करहु भाषा माँहिं प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि यत्न।
राजकाज दरबार में फैलावहु यह रत्न।

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि

१९११ की नागरी-प्रचारिणी-सभा की रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने १९१० में सिक्कों पर नागरी अक्षरों को स्थान देने में कठिनाई प्रकट की थी।

नागरी लिपि की सर्वप्रियता तथा सार्वभौमता के पक्ष में उल्लेखनीय बात यह थी कि कलकत्ते की 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की ओर से समस्त संस्कृत-मूलक भारतीय भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखे जाने का आंदोलन किया जा रहा था। दिसम्बर १९१० के उसके अधिवेशन के सभापति जस्टिस कृष्ण स्वामी ऐयर ने कहा था—

"देश में एक नई जागृति और एकता का जातीय भाव फैल रहा है। पर जातीय एकता के भाव का तबतक सुफल नहीं हो सकता, जब तक कि हम एक भाषा और एक लिपि स्थापित करने का प्रयत्न न करें। × × एक जाति वा समाज बनाने के लिए एक भाषा और एक लिपि प्रधान सामग्रियाँ हैं।"[१]

भिन्न-भिन्न प्रांतों में साहित्यिक सम्पर्क विकसित करने की दिशा में यह प्रयत्न प्रशंसनीय था। विविध भारतीय भाषाओं के लिए एक राष्ट्रलिपि होने के प्रस्ताव के प्रस्तावक थे 'माडर्न रिव्यू' के संस्थापक-सम्पादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय! राष्ट्रलिपित्व का गौरवमय पद देवनागरी को ही दिया गया था। यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामी विवेकानन्द देवनागरी अक्षरों के बड़े प्रेमी थे। वे अपने बंगाली मित्रों से कहा करते थे कि बंगला की भाषा भी देवनागरी अक्षरों में लिखनी चाहिए। उन्होंने स्वयं कई पत्र ऐसे ही लिखे थे।"[२]

जो सभा सम्मेलन होते थे उन सब में हिन्दी-भाषा के बहुमुखी विकास और उत्कर्ष के प्रेरक भाषण और प्रस्ताव होते थे।

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग १५ सं० ७ : जनवरी १९११
२ सरस्वती : सितम्बर : १९०२ 'श्री स्वामी विवेकानन्द'

शिक्षा-संस्थाओं में हिन्दी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में तो पग पग पर बाधाएँ आईं और हिन्दी-भक्त महाप्राण नेताओं कर्मठ व्यक्तित्वों का प्राण पण न लगा होता तो आज हिन्दी की न जाने कैसी दयनीय स्थिति हुई होती। सर सैयद अहमद जैसे अंग्रेजों के भक्त ने हिन्दी को गंवारी बोली कह दिया। उर्दू को सरकार का पूरा प्रश्रय मिला परन्तु हिन्दी उपेक्षित हुई गार्सां द तासी ने कहा—हिंदी की हैसियत भी एक बोली की सी रहगई है। हिन्दी के साथ सर्वत्र सौतेली पुत्री का सा ही व्यवहार किया जाता था। सरकारी क्षेत्रों में हिन्दी भाषा को भाषा ही स्वीकार नहीं किया जाता था। वह 'हिन्दुस्तानी' नाम से सम्बोधित होती थी। 'हिन्दी भाषा को यह कहना कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं अनुचित है।' मालवीय जी के ये शब्द उस काल में हिन्दी भाषा की वस्तुस्थिति की कहानी स्वयं कहते हैं।

हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में देखने की चेतना तो इस शताब्दी के कुछ पहले से ही दयानन्द आदि के मानस में उद्‌बुद्ध हो चुकी थी। १९१० में काशी में साहित्य-सम्मेलन में हिंदी-प्रेमी निमंत्रित किये गये थे कि 'इन बातों पर विचार करें कि हिन्दी की उन्नति किस प्रकार से हो सकती है उसका साहित्य कैसे हो सकता है उसके प्रचार में सुगमता कैसे हो सकती है वह राष्ट्र भाषा कैसे बन सकती है और उसके द्वारा देश में विद्या का प्रचार कैसे हो सकता है।'*

यह स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में साहित्य और भाषा की समृद्धि की दृष्टि से बंगाली और मराठी भाषा का स्थान हिन्दी से पहिले था। मध्यदेश की इस भाषा (हिन्दी) से पाश्चात्य सभ्यता और ज्ञान का संस्पर्श इन दोनों भाषाओं को पहिले मिला है।

बंग देश में बंगीय और महाराष्ट्र में महाराष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलन स्थापित हो चुके थे। मध्य देश में उर्दू प्रेमी भी अपनी भाषा की उन्नति के उपाय सोचने के लिए सभायें करते थे, परन्तु 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की स्थापना नहीं हुई थी। यदि हिन्दी किसी संस्था के बल पर संजीवित थी तो वह थी नागरी प्रचारिणी सभा (स्थापित १८९३ ई०)।

इसी सभा के तत्त्वावधान में काशी में अक्टूबर १९१० में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का पहिला अधिवेशन स्वनामधन्य महामना मदनमोहन मालवीय के

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १५ अक्टूबर १९१०

सभापतित्व में हुआ। अगले ही वर्ष में प्रयाग में यह वट रोपा गया जो आज अखिल भारत पर छत्रछाया कर रहा है।

यह संकेत किया जा चुका है कि स्वतः-सिद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोध-सरकार की ओर से हुआ था। हिन्दी-भाषा-भाषियों में इस काल में इतनी प्रबल जाग्रति और प्रखर चेतना है कि उसने सामूहिक आन्दोलन का सा स्वरूप ले लिया है—हिंदी के लेखकों ने, संपादकों ने, पत्र-पत्रिकाओं ने, सभा-संस्थाओं ने इसमें भाग लिया।

इस काल की पत्रिकाओं के पन्ने पलटते हुए इस तथ्य की ओर हठात् ध्यान आकृष्ट हो जाता है कि यह भाषायी चेतना उत्तरापथ के सभी हिंदी साहित्यिकों में है और उसमें आन्दोलन की सी शक्ति और प्रेरणा है।

इस काल में हिन्दी के जो आन्दोलन चले उनके निम्नांकित लक्ष्य थे—

(१) हिंदी राजकार्य की भाषा हो जाय। राजमुद्राओं, टिकटों और अन्य राजकीय आलेखों में नागरी लिपि का प्रयोग हो।

(२) हिंदी शिक्षालयों में शिक्षा का माध्यम बने।

(३) देश की संस्कृतमूलक सभी भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि ही प्रयुक्त हो।

साहित्यिक नवोत्थान : ज्ञान का जागरण

साहित्य में जो नवोत्थान हुआ, उसमें ज्ञान का जागरण हुआ है। ज्ञान के इस जागरण की तीन दिशायें हैं—

(१) प्राक्तन वरिष्ठ (Classical) साहित्य का अनुशीलन (२) पश्चिमी साहित्य का प्रभाव (३) आधुनिक भारतीय साहित्य से स्पर्द्धा।

(१) प्राक्तन् साहित्य का अनुशीलन

युग की यह व्यापक प्रवृत्ति थी कि हमारी दृष्टि अपने अतीत की ओर गई। सांस्कृतिक चेतना के उस काल में यह स्वाभाविक ही था कि भारत के ही प्राचीन संस्कृत वाङ्मय ने भारतीय प्रतिभाओं को आकृष्ट किया। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द सांस्कृतिक जगत् में अतीत की भी प्रतिष्ठा करनेवाले थे। भारतीय सम्पर्क में जब विदेशी मनीषियों का ध्यान भारतीय वाङ्मय की ओर गया तो ज्ञान के उन अन्वेषकों ने उसका अध्ययन-अनुशीलन किया। भारत के सरस्वती-पुत्रों ने भी इन्हीं की प्रेरणा से अपने प्राचीन (संस्कृत) काव्यों की महिमा जानी।

यह कार्य १६ वीं शती में चल पड़ा था परंतु वर्तमान शताब्दी में भी चलता रहा। पिछली शताब्दी में राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लाला-सीताराम भूप आदि के द्वारा कालिदास, भवभूति, शूद्रक, श्रीहर्ष, क्षेमेश्वर और विशाखदत्त के नाटक अनुवादित हुए थे। यह परम्परा इस काल में भी चली परन्तु आलोच्यकाल में मेघदूत, कुमार संभव, रघुवंश, ऋतु संहार, गङ्गालहरी जैसी काव्यकृतियों के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।' इनका भाव संस्कार हिन्दी कविता पर पड़ा है।

(२) पश्चिमी साहित्य का प्रभाव

पश्चिमी साहित्य का प्रभाव पश्चिमी शिक्षा के द्वारा आया। मैकाले महोदय की शिक्षा-योजना भारत में फूल-फल रही थी। अंग्रेज़ी शिक्षा का अभ्युत्थान चल रहा था। कलकत्ता, मद्रास, लाहौर, इलाहाबाद में विश्वविद्यालय भी खुल चुके थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के नेताओं ने भी अपनी अपनी जाति की उन्नति के लिए आलोच्यकाल में शिक्षा प्रचार का बीड़ा उठाया। मुसलमानों के नेता सर सैयद अहमद खां ने दिल्ली तथा अलीगढ़ में उच्च विद्यालय स्थापित किये। अलीगढ़ ने आगे जाकर मुस-लिम यूनिवर्सिटी का रूप धारण किया। इसी प्रकार काशी में मालवीय जी के प्रयत्नों से हिन्दू विश्वविद्यालय खुला। ये जनता की ओर से किये गये प्रयत्न थे।

अस्तु, अंग्रेजी के अध्ययन से हिन्दी-भाषियों का श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों से परिचय हुआ और प्रारम्भ में अनुवादों से हिंदी का कोष सम्पन्न हुआ और पीछे अंग्रेजी वाङ्मय के प्रबल प्रभाव से हिन्दी के भाव-जगत् का विस्तार हुआ। नये-नये काव्यरूप, नये-छन्द, नयी कथाएं, नये विषय मिले। श्रीधर पाठक गोल्ड-स्मिथ को हिन्दी में ला चुके थे, उनके 'एकान्तवासी योगी' ने हिंदी में अनेक कथाकाव्यों को प्रभावित किया। एडविन आर्नल्ड के काव्य तथा शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद तथा लाँगफेलो, ग्रे, पोप, बायरन, स्कॉट आदि आदि अनेक कवियों की स्फुट रचनाओं के रूपान्तर में हिंदी में विपुल परिमाण में हुए। अंग्रेजी विचारों का पूरा संचार हिंदी कविता हुआ। पश्चिम के 'बुद्धि-वाद' का प्रभाव आया—ब्राइट, बर्क, पिट, मिल, स्पैंसर, बेकन, रस्किन टाल्स-टाय के विचार साहित्य में प्रसारित हुए। 'जनवाद' की भावना की प्रतिष्ठा हुई। विचार स्वातंत्र्य आया, देशभक्ति और स्वतंत्रता की उत्कटता आई।

(३) आधुनिक भारतीय साहित्य से स्पर्द्धा

भारतीय वाङ्मय में समृद्धि की दृष्टि से वंग भाषा सबसे आगे थी,× जिसका कारण (अंग्रेजी साहित्य का प्रथम संस्पर्श) स्पष्ट ही है। अंग्रेजी समृद्धि और सम्पन्नता ने वंग साहित्यकारों की प्रतिभा के लिए नव नूतन दिशायें दिखाईं और इनका प्रभाव हिन्दी वाङ्मय में भी दिखाई देने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र आदि मूर्धन्य लेखकों के द्वारा बंगला के कई नाटकों, उपन्यासों का हिन्दी रूपान्तर होचुका था। आलोच्यकाल में भी उपन्यासों के जितने अनुवाद बंगला से हुए हैं उतने दूसरी भाषा से नहीं हुए, इस पर बंगला गर्व कर सकती है। बंकिमचन्द्र के प्राय: सभी उपन्यास इधर आ गये। रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र तथा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक और उपन्यास तथा माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीनचन्द्र सेन और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यकृतियाँ हिन्दी में रूपान्तरित होकर बीसवीं शताब्दी में आईं।

बंगला के प्रसिद्ध पयार छन्द का प्रयोग भारतेन्दु ने किया था। इस शताब्दी में प्रसाद ने उनका पदानुसरण किया। अंग्रेज़ी का अतुकांत छन्द (Blank Verse) बंगला के मार्ग से ही होकर हिन्दी में आया—यह भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

ज्ञान के जागरण की इन त्रिविध दिशाओं के विहंगमावलोकन के आधार पर यह समझ लेना एक बड़ी भ्रांति होगी कि फिर हिन्दी साहित्य में 'अपना' क्या है ?

हिन्दी साहित्य में जो नई दृष्टि है वह नितान्त नवीन है। साहित्य पर युग की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों का किस प्रकार प्रकट और प्रच्छन्न प्रभाव पड़ा है यह तो हमें देखना ही होगा और जो सत्य है उसे अस्वीकार करना असत्य होगा। रवीन्द्रनाथ के निर्माण में जो कुछ भी प्रच्छन्न शक्तियाँ रही हों उनका आकलन करने के उपरान्त भी यह तो उच्च स्वर से घोषित करना पड़ेगा कि उनमें एकान्त मौलिकता थी। यह एक उदाहरण है। हिन्दी जगत् में भी इसी प्रकार के प्रभाव-संश्लिष्ट वातावरण में कुछ अभूत-पूर्व व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपने वर्चस्व से हिन्दी को नवीन जीवन दिया। १९ वीं शताब्दी में ऐसे वरेण्य सरस्वती-पुत्र थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बीसवीं शताब्दी में हिन्दी-साहित्य के सूत्रधार थे महावीरप्रसाद द्विवेदी।

× बंगलादिक भाषायें यद्यपि बनी इसी से मिलकर।
पर देखो साहित्य बंग का है कितना उन्नति पर।
—द्वारिका प्रसाद गुप्त

ङ : साहित्य की प्रेरक युग-प्रवृत्तियाँ

आलोच्य काल की कविता पर प्रभाव-मुद्रा देनेवाली सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और साहित्य-कला की शक्तियों और स्थितियों-परिस्थितियों का अवलोकन करने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक रह जाता है कि इस युग में कौन-कौन सी प्रवृत्तियाँ मानव जीवन के विविध कक्षों को प्रभावित करती हैं जिनका प्रच्छन्न-प्रकट प्रभाव इस युग की कविता में लक्षित होता है।

ये प्रवृत्तियाँ वस्तुतः दृष्टिकोण हैं, जो मानव की कृतियों में प्रेरक वृत्तियों का कार्य करते हैं।

(१) बुद्धिवाद

'सांस्कृतिक जीवन' के अनुशीलन में 'बुद्धिवाद' की प्रवृत्ति सबसे प्रमुख दिखाई देती है। अन्धश्रद्धा और मूढ़ विश्वासों ने ही रूढ़ियों का आविष्कार किया और जीवन को जड़ता से बाँध दिया था। ब्राह्म समाज, आर्यसमाज आदि युग की बौद्धिक चेतना के ही प्रतीक थे। इनके द्वारा जनता को बुद्धिवादी दृष्टि प्राप्त हुई। गतानुगतिकता पर निर्मम प्रहार हुआ और गति और प्रगति का मार्ग खुला। सत्यान्वेष की वृत्ति प्रवृत्ति बन गई। व्यक्ति में ज्ञान की प्रेरणा से सत् के अन्वेषण और जिज्ञासा की वृत्ति आती है, वही बुद्धिवाद कही जाती है। जब व्यक्ति अपने आस-पास, बाहर-भीतर एक विशेष परीक्षक की-सी दृष्टि लेकर जीवन के सब कक्ष जांचने-परखने लगता है और शुद्ध-अशुद्ध का, उचित-अनुचित का विवेक करने लगता है तथा शुद्ध और उचित का पक्ष ग्रहण करता है, तब बुद्धिवाद का मार्ग प्रशस्त होता दिखाई देने लगता है। आर्य समाज और ब्राह्म समाज ने यत्किंचित् बुद्धिवादिता का जो बीज समाज को दिया, वह इस काल में पनप कर पल्लवित और पुष्पित हुआ।

उक्त दोनों समाजों तथा रवीन्द्र और गांधी ने अपने-अपने बौद्धिक अध्यात्म का जो सन्देश भारतीय समाज को दिया वह पूर्णतया कविता में भी प्रतिभासित हुआ है। ईश्वर के ईश्वरत्व और 'धर्म' के उच्चत्व में शंका की जाने लगी; 'अवतारवाद' का निषेध हुआ, और भक्ति के रूढ़िवादी (आचारपरक) रूप का उत्पाटन होकर उसके स्थान पर आध्या-

त्मिक रति की प्रतिष्ठा हुई। वैराग्य और 'तपस्या' के स्थान पर श्रम-पूजा और कर्मयोग की भावना प्रतिष्ठित हुई।

वेदान्त के अद्वैत-दर्शन ने मानव को दिव्यता दी, वह दिवोन्मुख हुआ और मानव का ही दैवीकरण हुआ। × इसी प्रकार देवोपम माने-जानेवाले राम-कृष्ण आदि अवतारों का मानवीकरण भी इसी बुद्धिवादी प्रेरणा से हुआ।

बुद्धिवाद के रंग में धार्मिक और आध्यात्मिक लोक से लेकर सामाजिक क्षेत्र तक जीवन के सभी अंग-प्रत्यंग रँगे हुए दिखाई देते हैं। यहाँ यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि बुद्धिवाद 'आदर्शवाद' का विरोधी नहीं होता। बुद्धिवाद आदर्श को अपनी कसौटी पर परखता है और तब मिथ्या आदर्श को खोटा स्वर्ण कहकर बहिष्कृत कर देता है। इस काल का आदर्शवाद बुद्धिवाद द्वारा परीक्षित और प्रमाणित है। अतीत का वही आदर्श उसे ग्रहीत हुआ जो शंकातीत था। मानव का अपार्थिव और अलौकिक अतिमानव क्रिया-व्यापार इस कविता ने यदि दिखाया है तो आलङ्कारिक दृष्टि से, यथार्थता अथवा यथातथ्यता के रूप में नहीं। सत्याग्रही वीर देश को छिंगुनी पर तान सकेगा, परन्तु बालक अथवा किशोर कृष्ण गोवर्द्धन को छिंगुनी पर नहीं उठा सकेंगे। गद्य की भाषा जिस प्रकार खड़ी बोली थी उसी प्रकार पद्य की भी भाषा वही हो इसी धारणा से प्रेरित होकर खड़ी बोली कविता का आंदोलन चला, जो हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है और वह बुद्धिवाद का ही एक लक्षण था।

(२) आदर्शवाद

इस युग की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति आदर्शवाद है। कविता में यह अत्यंत मुखर होती है। यह स्वाभाविक ही था—स्वयं आचार्य द्विवेदी ब्राह्मण कुलोद्भूत संस्कृत-सुशिक्षित होने के कारण जीवन की भाँति मानस-सृष्टि साहित्य में भी 'आदर्श' के उपासक थे। एक उदात्तचेता मनुष्य 'सत्' तत्त्व के प्रति एक उत्कट आकर्षण से अभिभुत होता है और उदात्त और मंगलकारी भावों और विचारों का प्राबल्य और प्राधान्य साहित्य और विशेषत: कविता में प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता है। यहीं 'आदर्शवाद' का द्वार उन्मुक्त होता है।

× "मानव में ईश्वर का दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है।" —विवेकानन्द

'आदर्शवाद' में यथार्थवाद आधारभूमि के रूप में प्रस्तुत रहता है और कभी-कभी वह यथार्थ का आधार भी छोड़ देता है। 'आदर्श' पर दृष्टि रहते हुए यथार्थ का भी अंकन 'आदर्शवाद' है, किन्तु यथार्थ पर ही लक्ष रहते हुए आदर्श का विद्रूप 'यथार्थवाद' ही है। यह भेद स्पष्ट हो जाना आवश्यक है।

राष्ट्र के जीवन की भूमिका में 'आदर्शवाद' एक अनिवार्य संघटना (phenomenon) थी। पिछली शताब्दी से राष्ट्र में जीवन का सर्वांगीण जागरण हो रहा था। जाति, समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण का कोलाहल था। इस नवनिर्माण में पुरातन का विध्वंस तो निहित था ही। इस विचार-दृष्टि से देखने से कविता के आदर्शवाद का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। समाज को कवि राष्ट्र-भवन की भित्ति मानते हैं। अतः वे उसकी दुर्बलता को दुलराते नहीं; उसपर वे चिकित्सक की सी निर्मम दृष्टि डालते हैं। अपनी लेखनी के मुख से उन्होंने सामाजिक-नैतिक रूढ़ियों, अशिक्षा, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक द्वेष, स्वाभिमान-भ्रंश, अनाचार, धर्मान्धता, संकीर्णता, आलस्य, विलासिता, अश्लीलता—आदि-आदि सभी असत् संस्कारों की विगर्हणा की है और समाज में उदात्त और सात्विक जीवन के आदर्श का उद्घोष किया है। यह विशेष द्रष्टव्य है कि अतीत का सांस्कृतिक चरमोत्कर्ष ही इस आदर्श का लक्ष्य रहा। प्राचीन गौरव, अतीत की महिमा वीरों की पूजा-अर्चा के साथ ही नैतिक-सामाजिक-राजनीतिक 'सत्' का उद्बोधन और भावी का स्वप्न, इस काल की कला और कविता में दिखाई देता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, वस्तु-जगत के यथार्थ से कवि ने आँख नहीं हटा ली है। आर्थिक जीवन की दीनता-हीनता-अकिंचनता के प्रति कवि की दृष्टि आर्द्र है। सामाजिक क्षेत्र में 'आर्यसमाज' और राजनीतिक क्षेत्र में 'राष्ट्रसभा' ने निरन्तर पीड़ित वर्ग की ओर ध्यान दिलाया है, पीड़ित वर्ग के प्रति 'उच्चवर्ग' की मानवीयता जगाने के लिए कवियों ने प्रायः यथार्थ चित्रण की रीति अपनाई है। इसे 'निषेधात्मक आदर्शवाद' कहा जा सकता है। विधायक आदर्शवाद में उदात्त संदेशात्मक या इससे निम्न आदेशात्मक-उपदेशात्मक कोटि की कविताओं का समावेश है।

विशेष उल्लेखनीय है कि 'प्रेम' जैसे कुछ सूक्ष्म किंतु चिरन्तन तत्वों के पतन पर क्षुब्ध होकर कवियों ने उनका भी आदर्शीकरण अपनी कविता में दिखाया। यह निर्विवाद है कि इस आदर्शवाद की दिशा विनाश से निर्माण की ओर, अन्धकार से आलोक की ओर और असत् से सत् की ओर है।

(३) जनवाद और (४) मानववाद

इस काल की दो प्रवृत्तियाँ 'जनवाद' और 'मानववाद' भी हैं। 'बुद्धिवाद' और 'आदर्शवाद' की ही शाखायें 'जनवाद' और 'मानववाद' हैं। जनवाद में प्रेरणा सामयिक, राजनीतिक, आर्थिक चेतना की है और मानववाद में शाश्वत सांस्कृतिक चिन्ता के पुनरुत्थान की। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं फिर भी दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

व्यक्ति जब 'समता' के सिद्धान्त को समाज के स्थूल आधार पर घटित और चरितार्थ करने का उपक्रम करता है तब व्यक्तिवाद के स्थान पर जनवाद की प्रतिष्ठा होती है। तब व्यक्ति की दृष्टि व्यष्टि ('स्व') में सीमित न होकर समष्टि (सर्व) में व्याप्त हो जाती है।

और जब व्यक्ति की श्रद्धा और बुद्धि हृदय को प्रत्येक दूसरे व्यक्ति में 'आत्म' की अनुभूति कराने लगती है तो 'मानववाद' की भावना का जन्म होता है। मानव मात्र में एक ही सत् और चित् तत्त्व का अधिष्ठान है, एक ही मूलभूत तत्त्व ओतप्रोत है—यह विचार-धारा मानववाद को जन्म देती है। प्रच्छन्न रूप से मानव-मानव के प्रेम के मूल में अद्वैत दर्शन के बीज भी हैं। विवेकानन्द ने अद्वैत दर्शन का ही व्यावहारिक रूप 'मानववाद' में देखा और उसे कर्म में परिणत करते हुए मानव-सेवा का पाठ सिखाया।

राजनीति या समाजनीति की भौतिक भाषा में जो 'जनवाद' है वही धर्म-नीति या दर्शन-नीति की आध्यात्मिक भाषा में 'मानववाद' है। इसलिए ये बाह्यत: भिन्न होकर भी अन्तत: अभिन्न ही हैं। जनवाद केवल 'अधिकार' तक सीमित है अत: उससे मानववाद का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। यह सम्भव हो सकता है कि 'जनवाद' के साथ 'मानववाद' न हो, पर यह सम्भव नहीं है कि 'मानववाद' में 'जनवाद' न व्याप्त हो। राजनीति के उत्थान-पतन में उच्चवर्ग से मध्यवर्ग और मध्यवर्ग से निम्नवर्ग में सत्ता केंद्रित होने से जनवाद की प्रतिष्ठा हुई। व्यक्ति व्यक्ति की समता की भावना ने समाज में नये युग का सूत्रपात किया।

जीवन के सभी क्षेत्रों में यह भावना प्रतिफलित हुई :

धार्मिक क्षेत्र में : सर्व-धर्म-समभाव में
नैतिक क्षेत्र में : स्त्री-पुरुष के सम-भाव में
आर्थिक क्षेत्र में : दीनों-अकिंचनों के प्रति सहानुभूति में
राजनीतिक क्षेत्र में : जनता का पक्ष-ग्रहण में

साहित्यिक क्षेत्र में : जनता को कविता का विषय बनाने में।

जनता-जनार्दन को अब तक की हिन्दी कविता ने उपेक्षित किया था। यह तो ठीक है कि परोक्ष रूप से जन जीवन की समस्याएँ कवि को प्रभावित करती थीं परन्तु कवि की दृष्टि जन-देवता की ओर नहीं थी। उसका आराध्य या तो ईश्वर रहा था या राजा रहा था, जनता नहीं। जनता के दुख-सुख हास-अश्रु और जय-पराजय को तो वाणी इसी युग के कवि ने दी।

१९ वीं शताब्दी के साहित्य-नेता भारतेन्दु प्रथम जनवादी कवि थे। वे सर्वांश में जनवादी गायक थे यह कहना मेरा उद्देश्य नहीं है। उनकी कविता में जनता के जीवन की अनेक झांकियाँ मिलीं, उनका यथार्थ दर्शन हुआ। उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि भी ऐसी ही थी।

२० वीं शती में आकर तो कवि सर्वजनहिताय ही लिखने लगा है, उनका अपना सुख-दुख जनता के सुख-दुख के साथ एकरूप हो गया है। सामाजिक कविता को देखने पर पहली छाप यही पड़ती है।

'ब्राह्मसमाज' और वेदान्त के प्रकट-प्रच्छन्न प्रभावों में मानववाद का अन्तर्भाव हो जाता है। "मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है" यह वेदान्त का स्वर है और मानव-प्रेम ही ईश्वर-प्रेम है—यह मंत्र मानववाद का ही मंत्र है। यह मानव का मानव से अर्थात् विश्व से बन्धन ही 'मुक्ति' है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता में यह चिन्ता-धारा प्रवाहित की और हिन्दी के कवियों ने भी उसमें अवगाहन किया। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' (पूर्वार्द्ध)—आलोच्य काल के दो मूर्द्धन्य काव्यों में मानव-सेवा और मानव-प्रेम ही ईश्वर-प्रेम के रूप में लक्षित किया गया है। गांधी का भी 'अहिंसावाद' इसमें मिल गया और वह कई काव्यों में मुद्रित हुआ।

(५) राष्ट्रवाद

(राष्ट्र के उत्थान और प्रगति के संयोजक तत्वों का समीकरण राष्ट्रवाद है।)भूमि, भूमिवासी जन और जन-संस्कृति का समुच्चय 'राष्ट्र' है। व्यक्ति के भाव, विचार और क्रिया-व्यापार द्वारा राष्ट्र के हित, कल्याण और मंगल की भावना 'राष्ट्रवाद' है। यों तो राष्ट्रवाद प्रत्येक राष्ट्र का सर्वोपरि आदर्श है, परन्तु परतन्त्रता का काल होने के कारण आलोच्यकाल में यह वृत्ति विशेषत: प्रस्फुट हुई है।)

राष्ट्रवाद के दो मुख्य रूप हैं। इसका पहिला रूप है शाश्वत और दूसरा सामयिक। शाश्वत रूप को हम राष्ट्रवाद का सांस्कृतिक पक्ष कह सकते हैं; उसमें राष्ट्र के नैतिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश है।

सामयिक रूप को हम राष्ट्रवाद का 'ऐतिहासिक' पक्ष कह सकते हैं। राष्ट्र-प्रगति की सिद्धि की दिशा में समाज के भौतिक तत्त्वों का विकास इस 'सामयिक' रूप के अन्तर्गत है।

'सामयिक' राष्ट्रवाद को हम यथार्थपरक राष्ट्रवाद भी कह सकते हैं। राष्ट्र की तथ्यात्मक परिस्थितियों में राष्ट्र-धर्म का निर्वाह इसमें सर्वोपरि होता है। इस काल के पूर्वार्द्ध में हिन्दू अथवा मुसलिम जाति का उद्बोधन शाश्वत रूप की दृष्टि से संकीर्ण होते हुए भी सामयिक रूप की दृष्टि से राष्ट्रवाद ही कहा जायगा।

इसके विपरीत शाश्वत राष्ट्रवाद आदर्शपरक राष्ट्रवाद ही है। राष्ट्र के सत्य-रूप को लक्षित करते हुए राष्ट्रधर्म का निर्वाह इसमें प्रमुख होता है।

आलोच्य काल की कविता में दोनों प्रकार के राष्ट्रवाद की मुद्रा है।

(६) स्वच्छन्दवाद

आलोच्य काल की अन्यतम प्रवृत्ति है 'स्वच्छन्दवाद'। साहित्य में इस शब्द के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं अतः इसके आशय का कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

'स्वच्छन्द-वाद' से हमारा आशय मनुष्य की उस सहज वृत्ति से है जो बन्धन का तिरस्कार करती है। यह मुक्त आत्मा की एक चेष्टा है जो नीति में, रीति में, आचार-विचार में, कला में, कविता में अभिव्यक्त होती है। यदि वह प्रवृत्ति नीति-निरपेक्ष (non-moral) है, तब तो वह आदर्शवाद की विरोधी नहीं; किन्तु यदि यह नीति-सापेक्ष है तो निस्सन्देह आदर्शवाद से उस अंश तक हटी हुई कही जा सकती है।

जीवन में गतानुगति का विरोध स्वच्छन्दवाद का एक मुख्य लक्षण हैं। स्वच्छन्दवाद से भी अच्छा शब्द निर्बन्धवाद होता, परन्तु पूर्व शब्द प्रायः प्रचलित हुआ होने के कारण ही लिया गया है। किसी सामयिक आदर्श से च्युत होकर ही, या युग की आवश्यकता की पूर्ति में असमर्थ रहने पर ही कोई तत्त्व गतानुगतिक या अपरिवर्त्तनवादी कहा जाता है। ऐसी गतानुगतिकता का तो विरोध प्रत्येक स्वतन्त्रचेता मानव का धर्म हो सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वच्छन्द-वाद की प्रवृत्ति आदर्शवाद की सर्वदा और सर्वथा विरोधी नहीं होती। थोड़ा बदलकर यों कह सकते हैं कि यथार्थ-परक आदर्शवाद का ही दूसरा नाम स्वच्छन्दवाद है। यह व्यक्तिवाद का ही एक रूप है। यह वस्तुत: एक सापेक्षिक नामकरण है क्योंकि जो तत्व आज 'स्वच्छन्दवाद' का लक्षण है, वही सम्भव है, कल आदर्श का रूप धारण करले या यथार्थ की स्थिति में आ जाये।

'स्वच्छन्दवाद' का सम्बन्ध बुद्धिवाद से भी देखा जा सकता है। जब आदर्श का तत्त्व हमारी बुद्धि से प्रशस्ति नहीं पाता, तब हम उसका, अपनी बुद्धि की प्रेरणा से ही, प्रत्याख्यान करते हैं परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि कभी-कभी हम अपने सहज़ स्वभाव से भी आदर्श का प्रत्याख्यान कर सकते हैं और पीछे बुद्धि को उसका अनुमोदन करने के लिये नियोजित करते हैं। अतएव बुद्धिवाद से उसका सर्वथा सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता।

देखना यह है कि किस रूप में निर्बन्धवाद या स्वच्छन्दवाद की प्रवृत्ति कविता में दिखाई देती है। छन्द-विधान से लेकर भाव-विधान तक यह प्रवृत्ति प्रस्फुट हुई है। अतुकान्त से लेकर मुक्त (स्वच्छन्द) छन्द तक काव्य-शिल्प में, देव के मानवीकरण से लेकर मानव के देवीकरण तक, प्रेम के आदर्शीकरण से लेकर यथार्थीकरण तक, प्रकृति के चेतनीकरण से लेकर मानवीकरण तक काव्य-कला में इसी स्वच्छन्दवाद के दर्शन इस काल में होते हैं।

क : काव्योत्थान का प्रथम चरण

साहित्य में नवोत्थान की परम्परा भारतीय विद्रोह (१८५७) से आरम्भ हो गई थी। भारतीय नवजागरण साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हो गया था। बहिरंग दृष्टि से प्राचीन संस्कार में बद्धमूल होकर भी अन्तरंग दृष्टि से नवीन जीवन के संचार द्वारा प्राचीन कविता में नवीनता या आधुनिकता का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथों हुआ था।

भारतेन्दु-काल का मूल्यांकन

एक शब्द में कहा जाए तो हिन्दी कविता का 'भाव-कल्प' ही भारतेंदु-काल की देन है। भारतेन्दु और उनके कवि-मण्डल ने 'भाव' की क्रांति के द्वारा ही युगान्तर किया था। यह 'भाव-कल्प' पूर्णतया अतीत की परम्परा से विच्छिन्न न हो सका। रीतिकालीन भाषा-परम्परा भारतेन्दु में थी; उनमें 'भक्तिकालीन' भाव-परम्परा का भी नवोत्थान था; परंतु इसके साथ ही वे नवयुग की कविता के अग्रदूत भी थे। यह नवयुग कविता में 'क्रांतियुग' है।

अपने 'हिन्दी कविता का क्रान्तियुग' में प्रस्तुत लेखक लिख चुका है—

"शताब्दियों से हिन्दी कविता भक्ति या 'शृंगार' के रंग में रँगी चली आ रही थी केवल चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की कड़ियों में जकड़ी हुई हिन्दी कविता को भारतेन्दु ने सर्व प्रथम विलास-भवन और लीला-कुंजों से बाहर लाकर लोक-जीवन के राजपथ पर खड़ा कर दिया। हिन्दी-कविता में भारतेन्दु ने सर्व प्रथम समाज के वक्षस्थल की धड़कन को सुनाया। आर्थिक जीवन में महँगी और अकाल, टैक्स और धन का विदेश-प्रवाह, धार्मिक-क्षेत्र में बहुदेव-

पूजा और मतमतान्तर के झगड़े, सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाति के टंटे और खान-पान के पचड़े और बाल विवाह, नैतिक क्षेत्र में पारस्परिक कलह और विरोध, उद्यमहीनता और आलस्य, भाषा-भूषा-भेष की विस्मृति तथा राजनीतिक क्षेत्र में पराधीनता और दासता, जीवन के ये भिन्न-भिन्न स्वर उनकी वेणु से प्रसूत होने लगे थे। अपनी कहमुकरनियों में, अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक में आई हुई कविताओं में, अपनी राजप्रशस्तियों में, अपनी होलियों और लोक गीतों में भी भारतेन्दु इन विषयों को नहीं भूले हैं। राजसी सभ्यता और राजभक्ति के संस्कार में पालित-पोषित होकर भी भारतेन्दु का स्वर जनता का स्वर है—यह हमें गर्व के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। काव्य में यह रंग-परिवर्तन हिन्दी ने पहली बार देखा। ब्रजभाषा में यह 'विषय' की क्रांति थी। शताब्दियों से रुग्ण हिंदी कविता-कामिनी को यह संजीवनी मिली।" +

जीवन और कविता का युग-युग का टूटा सम्बंध पुनः स्थापित हुआ। काव्य का स्वर बदला, भाव बदला, रंग बदला। हिंदी कविता की इसी भाव-क्रान्ति के विधायक थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

'वीर गाथा' और 'भक्ति' तथा 'रीति' में बद्ध कविता की सापेक्षिक तुलना में १६ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध से (अर्थात् विक्रम की बीसवीं शताब्दी से) कविता में यह अन्तरंग 'क्रान्ति' की प्रवृत्ति प्रस्फुट हो गई थी। भारतेन्दु इसके स्रष्टा थे और उनके सहयोगी साहित्यकार उसके पोषक। इसी लिए उसे क्रान्ति का प्रथम चरण कहा जा सकता है।

क्रांति के इस प्रथम चरण में भारतेन्दु-मण्डल के तत्त्वावधान में हिन्दी कविता में उस महान् काया-कल्प की भूमिका प्रस्तुत हो गई जो वस्तुतः प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है। कविता में अन्तरंग क्रान्ति पर ही बहिरंग क्रान्ति आधारित होती है।

हिन्दी कविता के इतिहास का अनुशीलन बताता है कि अन्तरंग का परिवर्तन (भाव और विषय का विकास) प्रायः युग के साथ स्वतः होता जाता है। परन्तु कविता के 'बहिरंग' (भाषा, छंद इत्यादि) का आमूल परिवर्तन एक महान क्रांति ही है। शताब्दियों से सर्वस्वीकृत सर्वप्रचलित काव्यभाषा को उसके संपूर्ण अलंकरण-उपकरणों के साथ अतीत की

\+ "हिंदी कविता का क्रान्ति-युग" : प्रथम संस्करण : १९४७ : पृष्ठ २६।

वस्तु बनाकर एक अप्रयुक्त अपरिमार्जित भाषा को उसकी जगह मूर्द्धाभिषिक्त करा देना एक महान् निर्माण से कम नहीं है। यह बीसवीं शताब्दी में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के द्वारा हुआ।

वहिरंग की क्रांति की सम्भावनाओं का भी अन्वेषण भारतेन्दु-काल (१९ वीं शताब्दी) में हुआ अवश्य था परंतु असफलता में ही इन प्रयत्नों का प्रतिफलन हुआ था। फिर भी इन्हीं असफलताओं में हमें भावी विजय के बीज मिले। श्रीधर पाठक जैसे सिद्ध कवि की कविता में भविष्य की नई कविता 'भ्रूण' रूप में थी उसी में खड़ी बोली की कविता के 'जन्म' की आशा होने लगी थी।

ख : क्रान्ति का द्वितीय चरण

द्वि वे दी - का ल

भारतेन्दु यदि हिन्दी के आकाश के इन्दु थे तो आचार्य द्विवेदी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य-गगन के उदयादित्य थे। भारतेन्दु-मण्डल ने भावकल्प के द्वारा कविता में एक परिवर्तन की सृष्टि की, परन्तु आलोच्य काल (१९०१ से २० ई०) तो वस्तुतः नवीन हिन्दी (जिसे 'खड़ी बोली' के नाम से अभिहित किया गया है) की कविता के 'जन्म' और 'विकास' का काल ही है। इस नवीन हिन्दी कविता ने इसी काल में शैशव और बाल्य, कौमार्य और कैशोर्य की अवस्थाएँ पार कीं और यौवन के सिंहद्वार पर चरण-निक्षेप किया।

हिन्दी कविता का नया जन्म बीसवीं शताब्दी (ई०) से ही हुआ। वाह्य दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी से हिन्दी की कविता ने एक प्रान्त-भाषा का जीर्ण वस्त्र उतारकर लोक भाषा राष्ट्रभाषा का परिधान पहन लिया और अपना वाह्य रूप-परिवर्तन कर लिया। जहाँ तक 'कविता'कला का सम्बन्ध है,'भाषा' बदल देना जीर्ण वस्त्र उतार फेंकने के समान सरल नहीं है। 'भाषा' केवल विचार-वस्त्र[1] ही नहीं; वह वस्तुतः भाव का

[1] Language—the dress of thought.

कलवेर है — शरीर है। इसलिए कविता में भाषा का बदलना नया शरीर-धारण करना—कायाकल्प —है। यही नहीं, यदि भाव को प्राण मानें तो वह पुनर्जन्म है। अस्तु; कविता ने अपना 'रूप' (वहिरंग) तो निस्सन्देह बदला ही, परन्तु 'रंग' (अन्तरंग) की उत्क्रान्ति न हुई हो यह बात नहीं है। ये दोनों आन्तरिक और बाह्य क्रान्तियाँ युगपद् होकर चलीं।

१९ वीं शताब्दी के साहित्यिक नेता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चेतना नव-जागरण से अभिभूत अवश्य थी परन्तु प्राक्तन (पुरातन) संस्कार-परम्परा में पले हुए व्यक्तित्व से सम्पूर्ण काया-कल्प की आशा नहीं की जा सकती थी। अन्तरंग में नवीनता लाकर उनके युग ने कविता को जीवन की कविता तो बना दिया, परन्तु उसका माध्यम व्रज-वाणी ही बनी रही।

चिर-प्रतिष्ठित व्रज-रानी को सिंहासन से उतारकर राष्ट्र की लोकभाषा को ही कविता की भाषा बना देना - महामहनीय अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान का परम पुण्य और श्रेय प्रस्तुत साहित्यिक युग के अधिनायक - सूत्रधार महाप्राण महावीरप्रसाद द्विवेदी को है। भारतेंदु और द्विवेदी ये दो व्यक्तित्व आधुनिक हिन्दी-कविता के शङ्कर और भगीरथ हैं। जिस क्रांति की गंगा में हम अवगाहन कर रहे हैं उसका अवतरण तो शंकर के मस्तक पर (कैलास पर नहीं, काशी में) हुआ, परन्तु अवतरण होने के उपरान्त उसे दिशा दिखाने वाले भगीरथ ही थे। गंगा उनकी पदानुसारिणी होकर ही 'भागीरथी' हुई।

'द्रष्टा' और 'अधिनायक'

जिस भाषायी क्रांति की इतनी चर्चा हुई है उसके 'द्रष्टा' और 'अधिनायक' दोनों महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस महाचेता ने अपने उद्बुद्ध देश के काव्य-विधान का 'दर्शन' किया और वाणी और विचार के दो माध्यमों, 'गद्य' और 'पद्य' , में भाषा की विषमता (विभिन्नता) को मिटाकर उनकी आधारभूत एकता (अभिन्नता) का संकल्प-उपक्रम किया। विकल्प के लिए यहाँ अवसर और अवकाश न था। गद्य और पद्य की भाषा का विभेद कभी न कभी मिटने वाला ही था और भारती के इस भगीरथ ने उस अभेद को लाने की जो महा साधना की उसी में उसका कर्तृत्व है और इसी भगीरथ-प्रयत्न की सफलता में आचार्य द्विवेदी को आलोच्य युग का द्रष्टा मानना पड़ेगा।

द्रष्टा रहते हुए वे कवियों के नेता (नायक) बने। अपने कर्तृत्व के प्रारम्भ से ही वे जागरूक होकर उस साधना में लगे और अपनी 'तपस्या' के बल पर सिद्धि-

प्राप्त हुए। उन्होंने नायकत्व किया, कवियों को खड़ी बोली की कविता का गुरुवत् पाठ दिया और अन्त में 'आचार्य' के रूप में उनको दिग्दर्शन भी दिया। भारतेन्दु की भाँति वे केवल नायक ही न रह गये, अधिनायक भी बन गये। सरस्वती की इस नई पुत्री 'कविता' का लालन, पालन, पोषण और सम्वर्द्धन करते हुए उसे एक समर्थ सशक्त वस्तु बनाकर वे अवभृथस्नात हुए।

साहित्य-कला-जगत में नवोत्थान के परिचय में संकेत में यह कहा जा चुका है कि आधुनिक नव जागरण की एक साहित्यिक प्रवृत्ति थी काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना। नागरी-प्रचार और हिन्दी सेवा के पावन उद्देश्य ने उसे जन्म दिया था। इसी की पोष्य पुत्री 'सरस्वती' पत्रिका (स्थापित १६००) ने हिन्दी वाङ्मय की अभूतपूर्व सेवा की। इसी 'सरस्वती' के सूत्र-धार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-सरस्वती के भी सूत्रधार हुए। 'सरस्वती' उस समय के हिन्दी जगत् की सर्वोच्च पत्रिका थी। आधुनिक हिन्दी के युगप्रवर्तक लेखक और आचार्य, सम्पादक-प्रवर आचार्य द्विवेदी की लौह-लेखनी से निर्मित इसका कलेवर आज भी पत्र-पत्रिकाओं के लिए आदर्श हो सकता है। 'सरस्वती' ने पत्रिका ही नहीं 'संस्था' बनकर जो साधना की, वह आज स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उसी साधना की सिद्धि आज का समग्र हिन्दी साहित्य है, इसमें कोई अतिरंजन नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के साथ-साथ साहित्यिक क्षितिज पर इस सूर्य (द्विवेदी) का अरुणोदय हुआ और तुरन्त इस उदयादित्य ने आलोक-वृत्त का निर्माण किया। आचार्यश्री ने केन्द्र में रहकर अपने वृत्त के ज्योतिष्क पिण्डों को पोषण और प्रकाश दिया और वाङ्मय के सभी कक्ष विविध प्रतिभाओं से उद्भासित हो उठे।

आधुनिक हिंदी कविता और कवियों पर तो उनका पितृऋण और गुरुऋण है। इस क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी का कर्तृत्व 'न भूतो न भविष्यति' है। 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना के लेखकों[1] (श्यामसुन्दरदास और कृष्णदास) के ये शब्द इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं—

---

[1] हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (नन्ददुलारे बाजपेयी) के प्रकाशन (१९९९ वि०) से विदित हुआ कि 'प्रस्तावना' के वास्तविक लेखक बाजपेयी जी थे।

"आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-सम्पत्ति सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त हस्त से वितरित की जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं।"

(द्वि० अ० ग्र० : प्रकाशित वैशाख १९९०)

हिन्दी-कविता के इस नवनिर्माण के युग में द्विवेदीजी का कर्तृत्व सर्वोपरि और सर्वप्रधान और फिर भी सर्वव्यापी है। यदि भारतेन्दु-काल तक की (१९वीं शताब्दी तक की) हिन्दी कविता पर विस्मृति का एक आवरण डाल दें तो जिसे सर्वांशत: 'नवीन कविता' कहा जायगा उसके निर्माण और विकास का श्रेय द्विवेदी तथा 'द्विवेदी-काल' को देना होगा।

कवि द्विवेदी ने पहिले श्रीधर पाठक की भाँति खड़ी बोली के माध्यम से कविता की सृष्टि की और अपनी क्षमताओं का निरीक्षण-परीक्षण किया। साथ ही अपनी मान्यताओं द्वारा उन्होंने उस क्रांति की दिशा की ओर इंगित किया कि जो आवश्यक ही नहीं अनिवार्य थी। कविता का माध्यम एक अप्रयुक्त भाषा को बनाने पर जो कठिनाइयाँ आनेवाली थीं उनका स्वाद उन्हें आ गया था, अतः उन्होंने दूसरा कार्य काव्य-रीति का प्रतिपादन किया। कविता के लिए विषय और छन्द, तथा अर्थ का विधान भी उन्होंने दिया। यह परोक्ष नेतृत्व शीघ्र ही प्रत्यक्ष नेतृत्व में परिणत हुआ और 'सरस्वती' में उन्होंने 'नई कविता का युग' आरम्भ कर दिया।

उनके नेतृत्व में कविता ने अपनी सभी स्थितियाँ और अवस्थाएँ देखीं। प्रारंभ में वह चामत्कारिक और इतिवृत्तात्मक रही, फिर वह उपदेशात्मक हुई और अंत में भावात्मक कोटि में उसकी चरम परिणति हुई। प्रारम्भ में वह अरमणीय (विरस) रही, परन्तु प्रसाद-पूर्ण; फिर वह उपदेश-प्रवण रही परन्तु सन्देश-पूर्ण। समय के चिकित्सक ने अभ्यास से ये अवस्थायें समाप्त कर दीं और नई प्रतिभा और कला का भी आविर्भाव दिखाई दिया।

हिन्दी के मूर्द्धन्य कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'महावीर' के 'प्रसाद' को स्वीकार किया है। सर्वश्री कामताप्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पांडेय, लक्ष्मीधर बाजपेयी, गोपालशरण सिंह जैसे कवि उन्हीं के वरदान से बढ़े। सिद्ध कवि श्रीयुत श्रीधर पाठक, श्री हरिऔध, श्री देवीप्रसाद पूर्ण तथा पं० नाथूराम शंकर शर्मा और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार भी

उनसे प्रभावित हुए ही। उनसे परोक्ष प्रभाव ग्रहण करनेवाले कवियों में हैं सर्व श्री गिरिधर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रामनरेश त्रिपाठी और बदरीनाथ भट्ट। जो कवि उनके सीधे प्रभाव में न आ सके उनमें केवल श्री जयशंकरप्रसाद, श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री भगवानदीन के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त सर्वश्री माधव शुक्ल, हरिभाऊ उपाध्याय, भगवन्नारायण भार्गव, राय कृष्णदास, देवीप्रसाद गुप्त, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय 'मयंक', द्वारकाप्रसाद गुप्त, कृष्णचैतन्य गोस्वामी, पारसनाथसिंह, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, केशव प्रसाद मिश्र, नवीन, गोविंदवल्लभ पंत, गोविंददास, सैयद अमीर अली मीर, राष्ट्रीय पथिक आदि आदि कई कवियों ने हिन्दी की इस नई कविता किशोरी के शृंगार में योग दिया।

द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता के इस पुनर्जन्म में जो कार्य किया है वह मसिबिन्दुओं में अंकित नहीं हो सकता। उनके दिशा-निर्देशन में हमें मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि प्राप्त हुए जिनकी कविताओं ने भावी युग के कवियों को प्रेरित किया। कवि सुमित्रानन्दन पन्त, जो द्विवेदी युग के सान्ध्य तारक थे, मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं से सम्मोहित होकर ही कवि-पथ पर प्रधावित हुए। द्विवेदीजी की 'सरस्वती' का एक-एक अंक मानों हिन्दी कविता की प्रगति और उन्नति, वृद्धि और विकास का प्रमाण पत्र था। उसके साथ-साथ ही हिन्दी कविता गतिशील हुई है। द्विवेदीजी की यही सबसे बड़ी साधना है! इसी लिए इस साधना-काल को हम 'द्विवेदी-काल' से भिन्न दूसरा नाम दे ही नहीं सकते।

द्विवेदी जी की 'सरस्वती' कविता की प्रगति की सच्ची प्रतिनिधि थी। 'सरस्वती' से स्पर्द्धा करने के लिए 'इन्दु' का उदय हुआ, पर कहाँ 'सरस्वती' कहाँ 'इन्दु'? 'मर्यादा' के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मर्यादापुरुष द्विवेदी की 'सरस्वती' की मर्यादा उदात्त-उच्च है; 'मर्यादा' की अपनी मर्यादा थी। यह उल्लेखनीय है कि एक ही मास और वर्ष के 'सरस्वती' के अंकों के साथ 'इन्दु', 'मर्यादा, 'प्रताप', 'प्रभा' जैसे अच्छे पत्रों के अंकों को मिलाकर देखने से दोनों का साहित्यिक वैषम्य दर्पण की भाँति प्रत्यक्ष हो जाता है।

भारतेन्दुकालीन कविता में जीवन का संस्पर्श दिखाई देता है परन्तु जैसे अभी उसमें पूर्वजन्म के संस्कार शेष हैं। जातीय चेतना की भूमिका में देखें तो भारतेन्दु काल (१६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) की कविता में वर्तमान से असन्तोष है; परन्तु दृष्टि अतीत की ही ओर है। २० वीं शताब्दी

की कविता में भी वर्तमान से असन्तोष है परन्तु दृष्टि भविष्य की ओर है। उसमें जागरण का स्पन्दन है, इसमें सृजन और निर्माण की चेतना है। उसमें मूर्च्छना से जागरण का स्पन्दन है; इसमें एक ओज, एक शक्ति एक गति है।

भारतेन्दु-काल की कविता अपने सामयिक जीवन की आर्थिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक भूमि को स्पर्श कर चुकी है परंतु द्विवेदी काल की कविता तो जीवन की भूमि पर चल रही है, उसमें जी रही है। यह भी कह सकते हैं कि राष्ट्रीय जागरण के राजपथ पर वह चल रही है। कल्पना कीजिए कि विगतकाल के कवि राज-भक्ति को अपने लिए गौरवास्पद मानते थे! राज राजेश्वरी विक्टोरिया महारानी के 'उदय अस्त लौं राज' को देखकर उनको आत्मग्लानि नहीं, हर्ष और उल्लास होता था!! किंतु आलोच्य काल के कवियों की यह भ्रान्ति भोले बालक के अज्ञान की भांति दूर हो गई है। भारतेन्दु काल की कविता अतीतोन्मुख थी, द्विवेदी काल की भविष्योन्मुख। भारत के सांस्कृतिक-राजनीतिक नव जागरण की पूर्ण प्रतिच्छवि और प्रतिध्वनि इस २० वीं शताब्दी की कविता में देखी और सुनी जा सकती है।

द्विवेदी काल के कवि समाज को राष्ट्रभवन की भित्ति मानते हैं अतः उसकी दुर्बलता को दुलराते नहीं, उसपर चिकित्सक की निर्मम दृष्टि डालते हैं। वर्तमान का कृष्ण पक्ष उनकी पुतलियों में प्रतिक्षण है। समाज की सब दुर्बलताओं, रूढ़ियों, कुरीतियों जैसे अशिक्षा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक विद्वेष, जातीय जड़ता, स्वाभिमान-भ्रंश, पश्चिमी सभ्यता में सांस्कृतिक गतिरोध नैतिक अनीति, धार्मिक अन्धाचरण आदि आदि की उन्होंने विगर्हणा की है और उदात्त जीवन के आदर्श का उद्बोधन किया है। आर्थिक जीवन की दीनता, हीनता, अकिंचनता के प्रति कवियों की दृष्टि आर्द्र है; पीड़ित-शोषित के प्रति मानवीय करुणा जगाने के लिए यथार्थ चित्रण भी कवियों ने किया है।

द्विवेदी काल में सभी काव्य-विधाओं तथा काव्य-रूपों का प्रयोग हुआ है। मुक्तक प्रबन्धों से लेकर प्रबन्ध-काव्यों और गीतिकाव्यों तक की उच्चता इस काल की कविता-निधि ने देखी।

ग : क्रान्ति की साधना

रूपरेखा

किसी एक काल के अनन्तर दूसरे काल का किस समय उदय और आविर्भाव हो जाता है यह कहना सदैव दुष्कर होता है। रात्रि के आने के पहिले सन्ध्या में उसकी श्यामल छाया झलकने लगती है और दिन के आने के पहले उषा में उसका उज्ज्वल आभास। नवीन काल भी इसी प्रकार आने से पहले अपनी छिपी शक्तियों को संचालित करने लगता है तथा प्राचीन काल अपनी शक्तियों को समाप्त करते हुए नवीन की बाहुओं में पर्यवसित हो जाता है। अतः दो कालों के बीच में सीमा-रेखा उसी प्रकार नहीं खींची जा सकती, जिस प्रकार दिन के रात्रि में और रात्रि के दिन में होनेवाले पर्यवसान को स्थूल विभाजक-रेखा द्वारा नहीं बताया जा सकता।

हम हिन्दी कविता के जिस युगान्तर का अध्ययन-अनुशीलन कर रहे हैं उसका स्पष्ट आभास १९०१ के मध्य से प्रकट हुआ। १९०० के जनवरी मास में 'नागरी प्रचारिणी सभा' के अनुमोदन से प्रयाग में 'सरस्वती' प्रतिष्ठित हुई और तभी से आचार्य द्विवेदी अपनी कृतियों से, एक लेखक होते हुए भी, कवियों के मनोलोक को प्रभावित करने लगे थे। संचालन-सूत्र तो उनके हाथ में १९०३ में आया परन्तु इसके पूर्व ही जैसे भावी का स्वप्न उन्होंने देख लिया था।

द्विवेदी जी का जाग्रत-स्वप्न

'सरस्वती' के १९०१ ई० के जून के अंक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हे कविते !' के रूप में हिन्दी कविता की दयनीय दशा की ओर इंगित किया था।—

> सुरम्यरूपे रस-राशि-रंजिते !
> विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
> अलौकिकानन्दविधायिनी महा
> कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?

श्री द्विवेदी की दृष्टि संस्कृत के सभी कृती कवियों (जैसे कालिदास, दंडी, माघ, भारवि) के श्रेष्ठ काव्यों की ओर थीः

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।

केवल तुकान्त, केवल यमकच्छटा, सानुप्रास पदावली आदि आदि बाह्याभरणों के प्रति उनके विचार अच्छे न थे—

सदा समस्या सबको नई नई!
सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ!
तुझे उन्हीं में अनुरक्त मान वे,
विरक्त होते नहिं हा रसज्ञता!

ब्रजभाषा का मृदुल-मसृण आवरण कविता के लिए वे 'सुभुक्त' मान चुके थे—स्पष्ट शब्दों में उसे फटा-पुराना, जीर्ण-शीर्ण ही कह सकते हैं। द्विवेदी जी को यह विश्वास था कि ब्रजभाषा की यह चोली पहिनना आधुनिका कविता को रुचिकर न होगा, इसीलिये वे उसे अभी न आने के लिए आग्रह कर रहे थे—

अभी मिलेगा ब्रजमण्डलान्त का,
सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए हे भवभूति-भाविते!
अभी यहाँ हे कविते! न आ, न आ।

यह कवियों के मानस में क्रान्ति का बीजवपन था। 'सरस्वती' जैसी पत्रिका में प्रकाशित इस कविता ने तत्कालीन कवियों के मानसजगत् में क्रान्ति की एक चिनगारी जगा दी होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

: १ : क्रांति के इंगित और पदचिह्न

खड़ी बोली में हिंदी कविता की साधना के सूत्रधार द्विवेदी जी ने, जैसे अन्तःप्रेरणा से, कवियों को एक दूसरा निर्देशन दिया और वह था "कवि कर्त्तव्य" का इंगित। अधिक समय नहीं बीता कि (श्री श्यामसुन्दरदास के उत्तराधिकारी के रूप में सन् १९०३ में) 'सरस्वती' के सम्पादक की आसन्दी पर समय ने द्विवेदीजी को ही प्रतिष्ठित होते देखा।

जुलाई १९०१ में "सरस्वती" के पृष्ठों में द्विवेदीजी का यह आचार्योचित निर्देशन 'कवि-कर्त्तव्य' के रूप में आया । यह 'कवि-कर्त्तव्य' वस्तुतः द्विवेदी जी के भावी सूत्र-संचालन काल में हिन्दी काव्यनीति की घोषणा (Manifesto) है । इसमें हिन्दी कविता की भावी दो दशाब्दियों की साधना की एक बीज-योजना है। हिन्दी समालोचना-समीक्षा के इतिहास में भी इसका स्थान अमिट रहेगा ।

गतानुगतिकता पर घोर प्रहार करके प्रगति का पथ दिखानेवाले 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक इस लेख में हिन्दी कवियों को कविता के अन्तरंग और वाह्य उपकरणों के सम्बन्ध में आदेश-निर्देश हैं । 'छन्द' और 'भाषा' कविता के वाह्य उपादान हैं, स्थूल । और 'विषय' और 'अर्थ' आन्तरिक उपादान हैं, सूक्ष्म । पहले दो यदि अस्थि-जाल और कलेवर हैं तो दूसरे दो उसके हृदय और प्राण हैं। आइए, हम संक्षेप में उन आदेश-निर्देशों का निदर्शन करें—

(१) छन्द

'छन्द' के संबंध में आचार्य द्विवेदी ने निर्देश किया था कि—

(१) 'सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करनी चाहिए'

इसके समर्थन में उन्होंने लिखा—

"जैसे समय-विशेष में राग-विशेष के गाये जाने से चित्त अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता के आस्वादन करनेवालों को अधिक आनन्द मिलता है।"

(२) छन्द-विधान में नवीनता लानी चाहिए।

"दोहा-चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और-और छन्द भी वे लिखा करें । हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जावें। हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ-साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किये गये वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी हिन्दी में प्रचार किया जाय । इन वृत्तों में से द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसंत-तिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार भाषा में होने से भाषा-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी।......

आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के से एक विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है। अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिएँ।"

(३) किसी एक छंद में ही काव्य रचना का विशेष कौशल लाना चाहिए।

जैसे "तुलसीदास ने चौपाई और बिहारीलाल ने दोहा लिखकर ही इतनी कीर्ति सम्पादन की है।' × × भारवि का वंशस्थ, रत्नाकर की वसंत तिलका, भवभूति और जगन्नाथराय की शिखरिणी, कालिदास की मन्दाक्रांता और राजशेखर का शार्दूलविक्रीड़ित इस विषय में प्रमाण हैं।"

(४) "पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भी भाषा में लिखे जाने चाहियें"

"इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अँग्रेज़ी और बंगला में विद्यमान हैं तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायें। × × × संस्कृत का सारा कविता-साहित्य इस तुकबंदी के बखेड़े से बहिर्गत है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें, तो सफलता की पूरी-पूरी आशा है। अनुप्रास-युक्त पादान्त सुनते सुनते हमारे कान इस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं। इसलिये अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती, बिना तुकवाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी होने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। × × अनुप्रासों के ढूँढने का प्रयास उठाने में समर्थक शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है जिससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुकरता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ को व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भाषा में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है। संस्कृत में प्रयोग किये गये शिखरिणी, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनमें अनुप्रास का न होना भाषा-काव्य के रसिकों को बहुत ही कम खटकेगा। पहले पहल इन्हीं वृत्तों का प्रयोग होना चाहिए।"

आचार्य द्विवेदीजी जानते थे कि

"किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम भंग होते देख प्राचीनों के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नवीन संशोधन के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टा और दोषोद्भावना करने लगते हैं।" इसलिए इस नवीन पथ का विरोध भी होगा "परन्तु कुछ दिनों में प्रतिपक्षियों को इस नवीन सूचना की

उपयोगिता स्वीकार करके अपने मत को उन्हें अवश्यमेव भ्रांतिमूलक मानना पड़ेगा। इसका हमको दृढ़ विश्वास है।"

(२) भाषा

आचार्यश्री के सामने युग-युग से चली आ रही ब्रजभाषा की काव्य-राशि थी परन्तु कविता के इस "सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही" को वे अब बदला हुआ देखना चाहते थे। वे स्वयं तो (१) सरल प्रसाद-पूर्ण (२) व्याकरण सम्मत शुद्ध और (३) सभ्यजन प्रयुक्त, गद्य-व्यवहृत खड़ी बोली में कविता लिखने लगे थे ही, वे चाहते थे कि भावी युग के सभी कवि इसी त्रिविध आदर्श के भाषा-विन्यास का परिपालन करें।

उन्होंने भाषा के विषय में कवियों के लिए ये क्रांतिकारी निर्देश दिये—

(१) भाषा सरल-सुबोध होनी चाहिए।

"कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ कर अर्थ को हृदयङ्गम कर सके" क्योंकि "पद्य को पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द आता है और पढ़ने में जी लगता है परन्तु जिस काव्य का भावार्थ क्लिष्टता से समझ में आता है, उसके आकलन में जी नहीं लगता और बार-बार अर्थ का विचार करते करते विरक्ति हो जाती है। × × कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के काव्य सरलता के आकर हैं; परम विद्वान् होकर भी इन्होंने सरलता को ही विशेष मान दिया है। इसीलिए इनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्व-साधारण की समझ के बाहर होता है वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये।"

(२) भाषा व्याकरण-समस्त अर्थात् शुद्ध होनी चाहिए।

शब्दों का रूप (ब्रजभाषा की भाँति) बिगाड़ने की 'निरंकुशता' न होनी चाहिए। भाषा में प्रोक्ति (मुहाविरों) की शुद्धता का विचार रहना चाहिए क्योंकि "मुहाविरा ही भाषा का जीव है।"

(३) शब्द-प्रयोग रसानुरूप होना चाहिए।

विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए।

"किसी-किसी स्थल विशेष पर रूक्षाक्षर वाले शब्द अच्छे लगते हैं परन्तु

और सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों ही का प्रयोग में लाना उचित है। शब्दों के चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए।"

(४) "गद्य और पद्य की भाषा पृथक् पृथक् न होनी चाहिए।"

"सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।"

युग-द्रष्टा आचार्य ने भविष्यवाणी की थी—

"किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रज भाषा की कविता को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि क्रम क्रम से वे गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें। क्योंकि बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।"

(३) अर्थ

कविता के अन्तरंग के अन्वेषण में जिस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं', पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' और आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' के निष्कर्ष निकाले थे, बीसवीं शताब्दी के इस समीक्षक ने इस शृंखला की ही एक कड़ी बनाते हुए कहा था—

'अर्थ-सौरस्य ही कविता का जीव है'

दूसरे शब्दों में—जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता ही नहीं।

तीसरे शब्दों में "रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।"[१]

'अर्थ-सौरस्य' की योजना की कुंजी भी उन्होंने दी थी—

(१) कवि का भाव-तादात्म्य

"कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए।"

---

[१] "सकड़ों अलंकारों से अलंकृत होकर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर अधिरूढ़ होकर भी और सब प्रकार सौष्ठव को धारण करके भी, रसरूपी अभिषेक के बिना कोई भी प्रबन्ध काव्याधिराज पदवी को नहीं पहुँचता।"

(२) कवि की सहज-स्फुरित अभिव्यक्ति

"अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए।" × × × बलात् किसी अर्थ को लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जावे उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।"

(३) अर्थगौरवपूर्ण पदावली

'तन्वी' शब्द के विशेष व्यंजित अर्थ (कृशांगी) का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था—'अर्थ सौरस्य के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, ऐसे ही ऐसे शक्तिमान् शब्द प्रयोग करने चाहिएँ।'

(४) विषय

आचार्य द्विवेदी का एक और क्रान्तिकारी निर्देश था—कविता के 'विषय' (theme) के विषय में—

"कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए।"

रीतियुगीन रूढ़िग्रस्त काव्य-विषय के विरोध में उन्होंने कहा—

"यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्य्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्य्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश; अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।"

'इन विषयों को छोड़कर स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन' करने को 'केवल अविचार और अन्ध-परम्परा' मानते हुए उन्होंने समझाया—

"यदि 'मेघनादवध' अथवा 'यशवन्तराव महाकाव्य' वे नहीं लिख सकते, तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव और निर्जीव पदार्थों को चुन कर उन्हीं पर छोटी छोटी कविता करनी चाहिए।"

रीति-काव्य की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा—

"हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिए कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार के ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार-रस और नायिका-निरूपण बहुत हो चुका।"

(२) समस्या-पूर्ति में प्रतिभा-नियोजित करने के स्थान पर "अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुनकर कवियों को, यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी-छोटी स्वतंत्र कविता करनी चाहिए।"

(३) संस्कृत और अंग्रेज़ी काव्यों का हिन्दी में अनुवाद करने का साहस करने से पहले योग्यता सम्पादन करनी चाहिए।

द्रष्टा गुरु ने ये क्रान्ति-कारी मन्त्र 'कवि-कर्त्तव्य' द्वारा दिये और हिंदी कविता में बहिरंग अर्थात् 'रूप' की और अन्तरंग अर्थात् 'रंग' की महाक्रांति के अनुष्ठान का समारम्भ कर दिया।

: २ : 'रूप' की क्रान्ति

(१) नूतन भाषा-विधान

साहित्य का माध्यम लोक-(प्रचलित) भाषा ही होनी चाहिए यह एक उन्नत और उद्बुद्ध राष्ट्र की मान्यता होती है। भाषा-तत्व के सिद्धान्तों के अनुसार ज्यों-ज्यों लोकभाषा का परिवर्तन (जिसे वस्तुतः विकास कहना चाहिए) होता जाता है, त्यों-त्यों साहित्य भी उस परिवर्तन को वरण करता रहता है। जब प्राचीन युग में प्रयुक्त और एक देशांग में सीमित कोई 'भाषा' (बोली) साहित्य में प्रयुक्त होते-होते जड़ीभूत रह जाती है तो नवीन जीवित भाषा की आवश्यकता की पुकार होने लगती है।

इसी नियम से उत्तरापथ में प्राकृत-अपभ्रंश और ब्रज, अवधी, डिंगल आदि भाषाओं में साहित्य-सृष्टि हुई और परिवर्तन अथवा विकास के इसी नियम का अब आग्रह था कि लोकभाषा (खड़ी बोली हिन्दी) ही साहित्य का माध्यम बने।

'खड़ी बोली' प्रचार की दृष्टि से नवीन होते हुए भी प्रयोग की दृष्टि से प्राचीन रही है।

— खड़ी बोली की परम्परा —

हिंदी के अतिदीर्घकालीन इतिहास में खड़ी बोली कविता की परम्परा का आरम्भ अमीर खुसरो की पहेलियों में मिलता है :

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।

कबीर ने भी इसी खड़ी होती हुई हिन्दी में गाया था :

कद्दू काट मृदंग बनाया, नीबू काट मजीरा।
सात तरोई मंगल गावे, नाचे बालम खीरा॥

रहीम की भाषा में भी उसी उदीयमती खड़ी बोली की कलित-ललित आभा मिलती है :

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

भूषण की भेरी में भी खड़ी बोली का क्षीण स्वर सुनाई देता है—

पंचहजारिन बीच खड़ा किया, मैं उसका कुछ भेद न पाया।
'भूषन' यों कहि औरंगजेब उजीरन सों बेहिसाब रिसाया॥
कम्मर की न कटारी दई इसलाम ने गोसलखाना बचाया।
जोर सिवा करता अनरत्थ भली भई हत्थ हत्यार न आया॥

और ताज नामक मुसलमान कवयित्री का यह कवित्त तो जैसे आधुनिक ही हो—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं॥
देवपूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी।
तजे कलमा कुरान साडे गुनन गहूंगी मैं॥
साँवला सलोना सिर ताज सिर कुल्ले दिये।
तेरे नेहदाग में निदाग हो दहूंगी मैं॥

नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै।
ताँड़ नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूंगी मैं॥

भिन्न-भिन्न युगों से चुनकर लिये हुए ये अवतरण इस बात के परिचायक हैं कि खड़ी बोली कोई स्वप्निल भाषा नहीं थी, वह लोक-प्रचलित भाषा थी किन्तु काव्य-रूढ़ि के अनुसार केवल मथुरा-आगरा के केन्द्र के आसपास वाली भूमि की ब्रजभाषा हिन्दी कविता में स्वीकृत और मान्य भाषा थी। दक्षिण में रायगढ़ तक भूषण द्वारा वह पहुँची थी, यह हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व का भी प्रमाण है। शताब्दियों से प्रयुक्त यह ब्रजभाषा मँजते-मँजते मूल ब्रज भाषा से अत्यन्त दूर पहुँच चुकी थी, फिर भी यह चेतना किसी को नहीं हुई कि एक काव्य-निर्मित भाषा को छोड़कर देशव्यापी प्रकृत भाषा, खड़ी बोली हिंदी को कविता का माध्यम बनाया जाना चाहिए। क्रांति-युग के साहित्यिक अग्रदूत भारतेन्दु में ही वह चेतना, एक कामना के रूप में, उनकी जीवन-संध्या में जाग्रत हो सकी।

— आन्दोलन की भूमिका —

१६ वीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में खड़ी बोली में कविता लिखे जाने की एक लहर उठी थी।

"भारत-मित्र" पत्र के सम्पादक को लिखे हुए इस पत्र से भारतेन्दु के प्रयत्न का एक आभास हमें मिल जाता है—

"प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य-सौंदर्य बन सकता है। इस सम्बंध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे वैसा परिश्रम किया जायगा।"

('भारत-मित्र:' १ सितम्बर १८८१)

भारतेदु लोक-रुचि जानने के इच्छुक थे—"लोग विशेष इच्छा करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूगा।" और प्रचलित साधुभाषा में वह कविता यह थी—

बरषा सिर पर आगई, हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमर गण झूमि॥
करके याद कुटुम्ब की, फिरे विदेशी लोग।
बिछड़े प्रीतमवालियों के सिर छाया सोग।

खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥

(गीत)

गरमी के आगम दिखलाये, रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने।
ठंडा पानी लगा सुहाने, आलस फिर आई॥
सरस सुगंध सिरस फूलों की कोसों तक छाई।
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले।"

इसी प्रकार आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'खड़ी बोली में (फारसी छंद में)'[1] उन्होंने 'दशरथ-विलाप' कविता लिखी—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे ?
किधर तुम छोड़कर मुझको सिधारे!
बुढ़ापे में य दुख भी देखना था,
इसी के देखने को मैं बचा था।

मृत्यु के एक वर्ष पहिले ही उन्होंने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में और भी कवितायें और गीत लिखकर अन्तिम प्रयत्न करते हुए लिखा था—'साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।' फिर लिखा—'तुझ पर काल अचानक टूटेगा' और अन्त में तो 'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर.........' आदि में उन्होंने कूच का डंका ही बजा दिया। उक्त अवतरणों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन रचनाओं का भाव तथा भाषा-विन्यास भारतेन्दु की कलित-कोमल लेखनी के अनुरूप नहीं हो सका और न इन कविताओं (विशेषतया गीतों) में हिन्दी की प्रचलित शैली ही है।

संभवत: भारतेन्दु जैसे प्रतिभाशाली कवि इसमें सफल हो जाते परन्तु मृत्यु की कराल छाया ने उन्हें अकाल में ही ग्रस्त कर लिया। खड़ी बोली का कविता में आने लगना इस बात का प्रमाण तो था ही कि वह भाषा गद्य की भाषा थी और अब वह पद्य में भी आने का आग्रह कर रही थी। भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र गिरिधरदास (गिरिधारन) के एक पद में खड़ी बोली का क्षीण आभास है—

चोरी मही दही की ना करना घर घर घूमना हो लाल।
परनारिन सों नेह लगाना,
सुन्दर गीत मनोहर गाना।
यमुना तट ग्वालों को लेके जा भूलना हो लाल।[x]

इसके पहले से जो मुसलमान कवियों द्वारा खड़ी बोली की कविता की क्षीण परम्परा चली आ रही थी, उसका उल्लेख किया जा चुका है।

जब तब खड़ी बोली में पद्य लिखे जाते रहते थे। भारतेन्दु ने शास्त्रीय गहराई के साथ प्रस्तुत प्रश्न पर सोचा था—

"तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ, इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घमात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है।"★

आगे जाकर तो इस प्रश्न ने आन्दोलन का रूप ले लिया और उस समय के मुख्य पत्र 'हिन्दोस्थान (कालाकांकर) तथा 'भारत मित्र' (काशी) ने इसमें भाग लिया था।

इसी बीच सिद्ध कवि श्रीधर पाठक ने एक सृजनात्मक समारम्भ किया जिससे काव्य में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा होने के लिए निश्चित आधार बनता दिखाई दिया। वह प्रयत्न था गोल्डस्मिथ नामक अंग्रेज कवि के काव्य 'हरमिट' (Hermit) का हिन्दी खड़ी बोली में अनुवाद (१८८६)। यह 'एकान्तवासी योगी' अनुवाद मौलिक की भांति सुन्दर और सफल है। इससे खड़ी बोली के पृष्ठपोषकों को बल मिला।

खड़ी बोली कविता-आन्दोलन का सूत्रपात

बिहार के श्री अयोध्याप्रसाद खत्री अब आन्दोलन के पताकावाहक थे। उन्होंने १८८७ ई० में कुछ चुनी-गिनी खड़ी बोली कविताओं का एक संग्रह—'खड़ी बोली का पद्य' प्रकाशित किया और खड़ी बोली

---

[x] 'हरिश्चन्द्र : ब्रजरत्न पृ० : ५७

★भारतमित्र : १ सितम्बर १८८१ ई०

को काव्यभाषा का माध्यम स्वीकृत करने का एक नारा लगाया। अयोध्याप्रसादजी ने जो 'खड़ी बोली का आंदोलन' का झण्डा उठाया था उसमें 'एकान्तवासी योगी' का वही स्थान था जो आज राष्ट्रीय झण्डे में चक्र का है।

यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र खड़ी बोली में कविता करने के इच्छुक थे; परन्तु एक विनम्र प्रयोगी की भाँति उन्होंने अपनी असफलता का विज्ञापन किया था—"मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरी चितानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।" बस भारतेन्दु के भक्त राधाचरण गोस्वामी ने 'खड़ी बोली का पद्य' को लेकर विरोध का सूत्रपात किया। उनके लेख के कतिपय अवतरण इस प्रकार हैं:—

'आजकल हमारे कई भाइयों ने इस बात का आंदोलन आरम्भ किया है कि जैसी हिंदी में गद्य लिखा जाता है वैसी ही हिन्दी में पद्य भी लिखा जाया करे। अब इस प्रकार की भाषा में छंद-रचना करने में कई आपत्ति हैं।

(१) भाषा के कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता, तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़कर उर्दू के बैत, शैर ग़ज़ल आदि का अनुकरण करना पड़ता है; तब फ़ारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता।

(२) ब्रजभाषा के इतने बड़े अमूल्य रत्न-भंडार को छोड़कर नये कंकड़-पत्थर चुनना हिन्दी के लिए कुछ सौभाग्य की बात नहीं, वरंच इस ब्रज-भाषा के भंडार को निकाल देने से फिर हिंदी में क्या गौरव की सामग्री रह जायगी? और आगे के अंक में भी उन्होंने कहा—

(३) 'यदि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाय। इधर गद्य में सरकारी पुस्तकों में फ़ारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में भी फ़ारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निबटा'❀

'एकांतवासी योगी' के द्वारा खड़ी बोली कविता के पुरस्कर्त्ता पं० श्रीधर पाठक ने गोस्वामीजी की उक्त तर्कनाओं का प्रतिवाद किया:

❀ हिन्दोस्तान (काला कांकर): १५ जनवरी १८८८ ई०

(१) घनाक्षरी, सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छन्द ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है।

(२) 'खड़ी' बोली में कई कारणों से कविता की विशेष आवश्यकता है?

× ×"खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतवर्ष के सब कण्ठों में थोड़ी बहुत समझी जाती है। योरोपियन इसे यहां की 'लिंग्वा फ्रैंका' (Lingua Franca) कहते हैं।"

"ब्रजभाषा को कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अनेकों अन्य बातों में उन्नति की समाई है पर अवसर नहीं; ब्रजभाषा की कविता को अब यदि अवसान नहीं तो विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं, उसका बहुत-सा काम खड़ी हिंदी में आजकल बहुत अच्छी तरह निकल सकता है।"

(३) × × ×"खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी। जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताब क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके। × × × हिंदी के गद्य या पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है सरकार पर नहीं।"

इस प्रकार वाद-विवाद तीव्र और उग्र हो गया था। ब्रजभाषा के समर्थक प्रतापनारायण मिश्र ने तो गतानुगतिक विचार का ही परिचय दिया—

"कवियों की निरंकुशता भी आकर खड़ी बोली में नहीं रह सकती। जो भाषा कवियों की मानी हुई संस्कृत के समान ब्रजभाषा के नियमों में हो ही नहीं सकती वह कवियों के आदर की अधिकारी कैसे हो सकती है?" हैं। उन्हें, अपितु, इस बात पर अहंकार था कि

"दूसरे देशों वाले केवल एक ही भाषा से गद्य-पद्य दोनों का काम चलाते हमारे यहाँ एक गद्य की भाषा है, एक पद्य की।"

गद्य और पद्य की दो भिन्न भाषाएँ होना प्रतापनारायण मिश्र के लिए 'अहंकार' (गर्व) का विषय था, परन्तु श्रीधर पाठक के लिए लज्जा का—

"गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"

और 'कवियों की निरंकुशता' के विषय में पाठक जी का मन्तव्य था—

"कवियों की निरंकुशता क्या शब्दों को सत्यानाश में मिलाने में होती है ? निरंकुशता कथन की रीति से संबन्ध रखती है।"

इसलिए उन्होंने चुनौती देकर कह दिया था—

"यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिंदी कविता के उपयुक्त नहीं है।"

पाठक जी का यह दावा उनके 'एकान्तवासी योगी' (अनुवाद काव्य) आदि के आधार पर था और उसमें सचमुच बल था। ब्रजभाषा का पक्ष निर्बल था। उसके पास केवल मुख-विरोध था, परन्तु खड़ी बोली (लोकभाषा) पक्ष के पास रचनात्मक अनुरोध था। पाठक जी विरोध करते थे, परन्तु लोकभाषा की कविता का सुन्दर रूप भी प्रस्तुत करते जाते थे। कुछ और कवियों द्वारा* स्फुट रूप से खड़ी बोली में संतोषजनक कवितायें लिखी जाने लगीं। यह विवाद अंत में शांत हो गया और एक शांत क्रांति का सूत्रपात हुआ।

इस क्रांति के सूत्रधार थे महावीरप्रसाद द्विवेदी। उन्होंने जिस समय ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली को कविता के लिए अपनाया, उस समय श्रीधर पाठक 'एकांतवासी योगी' (अनुवाद) और 'जगत सचाई सार' द्वारा खड़ी बोली कविता का उदीयमान रूप प्रस्तुत कर चुके थे—

ध्यान लगाके जो देखो तुम सृष्टी की सुघराई को
बात बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को
ये सब भाँति-भाँति के पक्षी ये सब रंग रंग के फूल।
ये बन की लहलही लता नव ललित ललित शोभा की मूल।
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौरों की गुञ्ज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की पुञ्ज।

*आप्तवाक्य के समान आचार्य शुक्ल का यह कथन हमें मान्य है कि 'चंपारण के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान और वैद्य पं० चन्द्र शेखर धर मिश्र ने संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य उन्हीं दिनों लिखे थे।' (हिं०सा० का इतिहास : २००० : पृष्ठ ५२१)

'एकांतवासी योगी' से भी अधिक ललित पदावली 'जगत सचाईसार' में मिलती है। यह स्पष्ट है कि 'एकांतवासी योगी' के

(१) करके कृपा बतादो मुझ को 'कहाँ जले है वह आगी !

(२) बलिहारौं तन मन धन उस पर वारौं काम करोर।

(३) प्राण पियारे की गुण गाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।

के 'कहाँ जले है वह आगी ? जैसे प्रयोगों में ब्रजभाषा का पुट विद्यमान है। 'सचाई सार' में भी—

ध्यान लगाकर जो देखो तुम सृष्टी की सुघराई को।

और "श्रान्त पथिक" में भी। इसके अतिरिक्त उसमें लय-दोष (गतिभंग) भी है—

नृपति शूर विद्वान आदि कोई भी मान नहीं पावेगा।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यदि खड़ी बोली की भाषा-प्रकृति का पाठक जी को पूर्ण परिचय होता तो वह यों लिख सकते थे—

नृपति शूर विद्वान् आदि कोई भी मान न पावेगा।"

अन्य उदाहरण—

कहीं पै जलमय, कहीं रेतमय, कहीं धूप कहीं छाया है। (जगत सचाईसार)

चन्द्रमा में कलंक की भांति ही ये त्रुटियाँ अभिनन्दनीय थीं।

"कहां जले है वह आगी" के रूप की शुद्धता-अशुद्धता को लेकर उस काल के साहित्य-जगत में एक वितण्डा उठ खड़ा हुआ था। उसका निष्कर्ष भी यही था कि खड़ी बोली के शुद्ध रूप का आग्रह कविता में होना आवश्यक है।

दूसरी ओर द्विवेदी जी भी खड़ी बोली कविता का सृजन कर रहे थे। द्विवेदी जी की पहिली खड़ी बोली की कविता 'बलीवर्द' थी—

यदि च देखना चाहे कोई मूर्तिमान अद्भुत अभिमान;
बलीवर्द ! वह रूप तुम्हारा देखै मत्त मतंग समान !
अहो भाल कन्धा विशाल वर शैल शिखर सम शीश महान्;
भूमि-भंग-कर अहो शृङ्गयुत अति उत्तुङ्ग अङ्ग बलवान !

(श्री वेंकटेश्वर समाचार : १६ अक्टूबर १६००)

उन्होंने 'किरातार्जुनीय' (भारवि) काव्य के अनुवाद के द्वारा भी खड़ी बोली का सुष्ठु रूप प्रस्तुत किया था—

रत्न खचित सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे;
नृपमुकुटों के सुमन रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खण्डित कुशयुत बन भीतर
अहह ! नग्न फिरते रहते हैं वे ही तेरे पद मृदुतर।

(सरस्वती : नवम्बर १९००)

द्विवेदी जी की भाषा में निश्चित ही पाठक जी की भाषा से अधिक खड़ी बोली का पौरुष है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसमें ब्रज-भाषा की 'कोमलता' दिखाई ही नहीं पड़ती; यह भी, परन्तु, निश्चित है कि आजकल की खड़ी बोली में ब्रज के ये प्रयोग अभिनंदित नहीं होंगे—

(१) वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय पाय पराभव भरते हैं।

(२) कुलजा गुण गरिमा वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।

और न संस्कृत के ये सिक्के ही चलेंगे—

(१) चन्दन चर्चित गात भीम जो रथ ही पर चलता था तत्र।

(२) नृप मुकुटों के सुमन-रजःकण......

(३) ....वीरोचित कोदण्ड विहाय।

'ब्रज' का प्रभाव शताब्दियों की प्रचलित परम्परा की मुद्रा के रूप में और 'संस्कृत' का प्रभाव पांडित्य-संस्कार के रूप में ही क्षम्य होना चाहिए। साधु-शिष्ट अनुवाद होतेहुए भी कवि द्विवेदी कितना प्रार्थी है—

मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञकृत यह उसका जघन्य अनुवाद।
अनुशीलन कर हे रसज्ञजन करिए मेरे क्षमा प्रमाद॥

ब्रजभाषा के चक्र-व्यूह में इस प्रकार का सफल अनुवाद कर देना भावी कवियों के लिए निश्चित रूप से दिशा-निर्देशक हुआ।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली में जो मौलिक अन्तर है वह क्रिया-पदों, संज्ञा-सर्वनाम की विभक्तियों तथा कुछ शब्द-रूपों से ही प्रकट होता है। छन्द का बड़ा सम्बन्ध भाषा-रूप से है। इसी को प्रायोगिक रूप से समझकर भारतेंदु ने कहा था—'न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ...' और गोस्वामी जी ने कहा था—'भाषा के कवित्त-सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़कर उर्दू के बेत, शेर, गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है।'

प्रारम्भ में खड़ी बोली का प्रयोग उर्दू के छन्दों में ही दिखाई दिया। कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देने लगी कि यदि खड़ी बोली का प्रयोग करना हो तो हिंदी के अपने छंदों को अछूता रखकर उर्दू के छंदों का ग्रहण करो। यह प्रवृत्ति भारतेन्दु काल में १६ वीं शताब्दी के अन्त तक दिखाई दी।

१६०० की काशी की एक घटना छंद और भाषा के अभिन्न संबंध पर अच्छा प्रकाश डालती है। प्रसिद्ध कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय के द्वारा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन-प्रवेश पर सुनाई हुई कविता की भाषा हिन्दी होकर भी उर्दू के पुटवाली इसीलिए मानी गई कि उसकी छन्द-शैली उर्दू की थी—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी। इत्यादि

छन्द का यह उर्दू परिधान स्वीकार कर लेने पर हिन्दी कहीं उर्दू शैली की कविता की ओर न ढल जाय—इस आशंका से कदाचित् पीड़ित होकर भी द्विवेदी जी ने संस्कृत काव्य में चिरप्रयुक्त वर्णिक छन्दों को अपनाने का मार्ग दिखाया। इन वर्णिक छंदों पर हिंदी का पैतृक अधिकार भी था और इन में ढली हुई कविता का रूप उर्दू से नितान्त भिन्न भी रहा।

गद्य और पद्य की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर सदैव रहता है और रहेगा। कविता में जो कल्पना और भावना (भावुकता) का आधार है, वही उसे गद्य से भिन्न कर देता है। इसीलिए कल्पना-भावनाहीन कविता गद्यवत् है और कल्पना-भावना-प्रवण गद्य गद्य-काव्य है।

एक ही भाषा को गद्य और पद्य का माध्यम बनाने का अर्थ भली भांति समझ लेना चाहिए। जहाँतक शब्द-रूप और प्रयोग का सम्बन्ध है कविता और गद्य की भाषा में अभेद है परंतु जहाँ उनके अर्थ और अभिव्यक्ति की शैली का सम्बन्ध है कविता और गद्य की भाषा में भेद भी है। अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ ने लिखा था—

"यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई 'मौलिक' अन्तर न तो है और न हो सकता है।"

इसी प्रकार शब्द-विन्यास के सम्बन्ध में उसने लिखा था—

"प्रत्येक अच्छी कविता के अधिकांश की भाषा चाहे वह कितनी ही उच्च कोटि की क्यों न हो—छन्द-विधान को छोड़कर किसी भी रूप में सुन्दर गद्य

से भिन्न नहीं हो सकती। इतना ही नहीं; श्रेष्ठतम कविताओं के मधुरतम अंशों की भाषा तो सुललित गद्य की भाषा के अनुरूप ही होगी।"

वर्ड्सवर्थ की प्रारम्भिक कविताओं में, जिनके वर्ण्य सामान्य जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों में से चुने गये थे, उसकी भाषा गद्य के निकट रही थी। कारण यह था कि वह वर्णनात्मक विषयों के अनुकूल थी। वे कविताएँ अधिक ऊँची भी नहीं जा सकीं। ठीक ऐसी ही दशा इस काल की खड़ी बोली की प्रारम्भिक कविताओं की हुई।

द्विवेदी जी के निम्नलिखित दो आदेश—कविता के 'गुण' और 'शब्द-विन्यास' से सम्बन्धित थे—

(१) कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिये जिसे सब कोई सहज में समझ कर अर्थ को हृदयंगम कर सकें।

(२) भाषा व्याकरण-सम्मत और शुद्ध होनी चाहिए। शब्दों के रूप बिगाड़ने की निरंकुशता न होनी चाहिए।

कविता में भाव की सुबोधता को 'प्रसाद गुण' कहा जाता है। प्रसाद गुण एक सापेक्ष धर्म है। प्रासादिकता लोक-मानस के बोध-स्तर पर अवलम्बित है। प्रारंभ में प्रासादिकता का अर्थ हो सकता है गद्यात्मकता। धीरे धीरे, लोक के बोधस्तर में उन्नति होने के साथ-साथ प्रासादिकता का अर्थ होता है आलंकारिकता, व्यंजना आदि।

व्याकरण-सम्मत और शुद्ध भाषा लिखने का आग्रह द्विवेदी-युग के कवियों को रहा है। वे भाषा-सम्बन्धी किसी शिथिलता को आचार्य द्वारा अभिनन्दित नहीं देख सकते थे। प्रारंभ में कविता में ब्रजवाणी का पुट दिखाई दिया, परंतु यह स्थिति शीघ्र ही मिट गई, क्योंकि आचार्य द्विवेदी ने स्वयं भाषा-संस्कार का मंगल कार्य आरंभ कर दिया था। उनके हाथों से खड़ी बोली हिन्दी की वास्तविक आभा कविता में आई। वर्णिक छन्दों से पदावली में ओज आने लगा। ब्रजभाषा के पुट से छन्द में जो सहज कोमलता आजाती थी वह उनके इस प्रयत्न से धीरे-धीरे तिरोहित होने लगी और कविता में पौरुष आने लगा। दोनों प्रकार की ध्वनियाँ कुछ दिनों तक सुनाई दीं—एक में उर्दू शैली का पुट था, दूसरे में संस्कृत की मुद्रा थी—

(१) चाँद वो सूरज गगन में घूमते हैं रात-दिन।
तेज वो तमसे दिशा होती है उजली वो मलिन।

वायु बहती है घटा उठती है जलती है अगिन।
फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन।

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

(२) पृथ्वी समुद्र सरिता नग नाग सृष्टि।
मांगल्यमूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि।

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

पौरुष का जो मानदण्ड आचार्य ने स्थापित किया, मानों उससे होड़ लगाते हुए शिष्य मैथिलीशरण ने

सद्यः काटा लिया है सिर निज कर में कंठ में मुंडमाला।
जिह्वा लम्बायमाना अतिशय मुख से, है जटाजूट काला।
दिग्वस्त्रा, खड्गहस्ता, अरुणितलतिका चौभुजी मूर्तिवाली
भीमा भीतार्तिहारी सुविमलवरदा जै शवारूढ़ काली॥

और हरिऔध ने

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दुबिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थीं।

जैसी क्लिष्ट पंक्तियाँ लिखीं।

इस कर्कश ध्वनि-प्रतिध्वनि से हिन्दी के कवि और पाठक की श्रुतियाँ धीरे-धीरे इतनी अभ्यस्त हो गईं कि ब्रजभाषा की कविता की कोमलता वे भूल चलीं और नव प्रतिक्रिया हुई तो नवनीत-कोमल भाषा में नई कविता प्रकट हुई : ऐसी कविता जिसमें शब्दजाल नहीं बुना गया था, जिसमें अनूठी भाव-व्यंजना और चित्रात्मकता थी।

(२) अभिनव छन्द-विधान

(पीठिका)

अभिनव छन्द-विधान की कहानी कहने के लिए प्राचीन छन्द की कल्पना करनी होगी। यदि हिन्दी कविता के विभिन्न युगों का विहंगावलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि वीरगाथा युग में भुजंगी, पद्धरी, रोला, दोहा, छप्पय की, भक्ति-युग में गेय पदों की और रीति-युग में सवैया, कवित्त, दोहा और सोरठा की प्रधानता और बहुलता थी।

भारतेन्दु से क्रान्ति-युग का श्रीगणेश हुआ। वे ब्रजभाषा में कवित्त, सवैया, दोहा, कुण्डलिया और गेय पदों में राशि-राशि रचना करते हुए भी नवीन छन्द के प्रयोग में प्रयत्नशील रहते थे।

जिस समय उन्होंने लेखनी उठाई थी बंगला में नये-नये छन्द प्रयुक्त हो रहे थे। 'पयार' वहाँ का चौपाई की भाँति प्रचलित छन्द है। उसे भारतेन्दु ने ग्रहण किया था। फारसी की बहरों और गज़लों की पद्धति पर उन्होंने 'दशरथ-विलाप' आदि कवितायें खड़ी बोली में लिखी थीं। इनका छंद विधान उर्दू कविता का था।

गेय पदों में उन्होंने सूर और तुलसी की पद-शैली को ही नहीं अपनाया वरन् गीतकाव्य के कोश में चित्र-विचित्र राग-रागिनियों से पूर्ण ठुमरी, खिमटा, पंजाबी प्यार, ख्याल, लावनी, होली, कबीर, कजली जैसे लोकगीतों का दान उन्होंने (और प्रेमघनजी ने) दिया था। भारतेन्दु-मण्डल के कवियों की यह प्रवृत्ति उनकी स्वच्छन्दवादी रुचि को सूचित करती है।

भारतेन्दु–काल की सन्ध्या अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी (ई०) के अंतिम चरण में एक नई प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ था। वह थी संस्कृत वृत्तों (वर्णिक छंदों) का नवोत्थान।

यह स्मरणीय है कि आचार्य केशवदास के पश्चात् यह परम्परा टूट सी गई थी। कवित्त-सवैयों की धूम-धाम में इन छन्दों की ध्वनि मानों दब चुकी थी। कवि गण भूल से गये थे कि हिन्दी की कविता में संस्कृत काव्य में प्रयुक्त छन्दों का भी प्रयोग हो सकता है।

भारतेन्दु-काल के कवियों के द्वारा भी यद्यपि नये भाव-विधानवाली कविता का श्रीगणेश हुआ, परन्तु न तो उनसे भाषा का कलवेर बदल पाया और न हिन्दी छन्द-क्षेत्र के बाहर ही वे पाँव रख सके।

संस्कृत काव्य की निधि पर मुग्ध संस्कृत के विद्वान् श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके छन्द-प्रबन्ध से सम्मोहित हुए और उन्होंने ब्रजभाषा में संस्कृत के कई वशिष्ठ काव्यों का वर्णिक छन्दों में रूपान्तर किया। वे क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

(१) महिम्नस्तोत्र (पुष्पदंताचार्य गंधर्वराज के शिव महिम्नस्तोत्र का अनुवाद)
(१८८५ : प्र०१५ जनवरी १८९१)

(२) विहार-वाटिका (जयदेव के गीत गोविंद के आशय पर),
१५ फरवरी १८९० ई०

(३) ऋतु-तरंगिणी (ऋतुसंहार आदि की छाया पर) १ फरवरी १८९१ ई०

(४) श्रीगंगा-लहरी (जगन्नाथ राय की 'पीयूष लहरी' का अनुवाद)
१ जुलाई १८९१ ई०

(५) देवी-स्तुति-शतक (स्वतन्त्र रचना) : २२ जनवरी १८९२ ई० ।

इनके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत भाषा में भी (गणात्मक छन्दों में ही) कई स्फुट कवितायें (जैसे शिवाष्टक, प्रभात वर्णनम्, अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः कान्यकुब्जलीलामृतम् , समाचार-पत्र-सम्पादक-स्तवः , सूर्यग्रहणम् , मेघमाला प्रति चन्द्रिकोक्तिः, कथमहं नास्तिकः) उन्हीं दिनों लिखीं, जो 'काव्य मन्जूषा' में सङ्कलित हैं। इसी 'काव्य-मंजूषा' में संकलित नागरी ! तेरी यह दशा !!' (जून १८९८ : नागरी प्रचारिणी पत्रिका), 'बाल-विधवा-विलाप' (७ अक्टूबर १८९८ : भारत मित्र), 'आशा', 'प्रार्थना' (७ अप्रिल, १८९९ : श्रीवेंकटेश्वर समाचार), 'नागरी का विनय-पत्र' (१५ मई १८९९ : भारत-जीवन), 'मेघोपालम्भ' (४ सितम्बर १९९९ : हिन्दी बंगवासी), 'शरत्सायङ्काल' (१३ नवम्बर, १८९९ भारत-मित्र), 'श्रीधर सप्तक' (२५-दिसम्बर १८९९), 'अयोध्या का विलाप' (मार्च १९००: सुदर्शन), 'मांसाहारी को हंटर (१९ नवम्बर १९०० : हिन्दी बंगवासी) कविताएँ यद्यपि ब्रजभाषा में ही थीं परन्तु वे संस्कृत काव्य के गणात्मक छन्दों में ही लिखी गई थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी पर संस्कृत काव्य के छन्द-प्रबन्ध का सम्मोहन बड़ा गहरा था।

संस्कृत काव्य के इस सांस्कारिक सम्मोहन का स्पष्ट केत 'ऋतु-तरंगिणी' की भूमिका में है —

"संस्कृत षट्काव्य की मनमोहनी और सर्वगुण-सम्पन्न-पद्य रचना ने मेरे मन को परम उत्साहित करके निज भाषा में गणात्मक छन्दों की योजना करने में असीम उत्तेजन दिया। प्रथम ही मैंने 'बिहार-वाटिका' नामक १०० गणात्मक छन्दों की पुस्तक श्रीमत्कविवर जयदेव प्रणीत "गीत गोविन्द" के आशय पर लिखकर········ के प्रबन्ध से प्रकाशित किया और अब इस 'ऋतु-तरंगिणी' को लिखकर रसज्ञ जनों की सेवा में अर्पण करने का द्वितीय प्रसंग आया देख चित्त में समाधान पाय पुस्तक को यंत्रस्थ करने में जहां तक हो सकी है शीघ्रता की है।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यहाँ इनसे भी पहिले उन्हीं के किये हुए 'महिम्न स्तोत्र' के अनुवाद का उल्लेख द्विवेदी जी ने नहीं किया है, जिसकी रचना और प्रकाशन की तिथियाँ दोनों 'ऋतु-तरंगिणी' से पूर्व की हैं। अस्तु.

संस्कृत काव्य के इस सांस्कारिक सम्मोहन के साथ-साथ तत्कालीन मराठी काव्य-परम्परा का भी द्विवेदी जी पर तात्कालिक प्रभाव पड़ा था। यह स्मरणीय है कि इन वर्षों में द्विवेदी जी रेलवे-विभाग की सेवार्थ बम्बई, नागपुर, हुशङ्गाबाद जैसे महाराष्ट्र-प्रदेश में रहते थे अत: उक्त प्रभाव पड़ना सहज-स्वाभाविक ही था। मराठी भाषा में वर्ण वृत्तों में कविता-निधि प्रस्तुत की जा रही थी, इससे द्विवेदी जी में भी स्पर्द्धाभाव जाग्रत हुआ था। उन्होंने लिखा भी है—

"महाराष्ट्रभाषा देवनागरी से अच्छी दशा में है। इस भाषा के प्रसिद्ध काव्यों के निरीक्षण से यह विदित होता है कि उसमें गणवृत्त बड़े विस्तार से प्रयुक्त हैं। इस समय में इस भाषा के कवियों में विरले ही ऐसे हैं जो मात्रा छन्दों का प्रयोग करते हैं।"

('ऋतु-तरंगिणी' की भूमिका)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में एक संकेत किया है कि—'मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले पहल मिश्र जी ने ही लिखे।' आचार्य शुक्ल का इंगित प्रसिद्ध विद्वान् पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र की ओर है।

राजा लक्ष्मणसिंह ने भी अपने नाटकानुवादों में यत्र-तत्र वर्णिक छन्द दिये थे और वे ब्रज बोली में थे। ये स्फुट प्रयत्न ही कहे जा सकते हैं। आयोजित प्रयत्न तो द्विवेदी जी ने ही किये।

'महिम्न स्तोत्र' की भूमिका में स्वयं कवि ने अपने द्वारा प्रयुक्त किये हुए छन्दों और मूल के छन्दों की तुलनात्मक सारिणी दी है। इसमें तथा 'विहार-वाटिका' और 'ऋतुतरंगिणी' आदि अन्य काव्यों में द्विवेदी जी ने संस्कृत के प्राय: सभी प्रसिद्ध गणवृत्तों का प्रयोग किया है—शिखरिणी, भुजंग प्रयात, नाराच, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीड़ित, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, चामर, वसन्ततिलका, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा। 'देवी-स्तुति-शतक' में आद्योपान्त 'वसन्ततिलका' वृत्त का ही प्रयोग है। इन्हीं वृत्तों का प्रयोग संस्कृत कविताओं में हुआ है। द्विवेदी जी ने इस

प्रकार मराठी भाषा के काव्य की स्पर्द्धा में संस्कृत काव्य-परम्परा का सम्पूर्ण छन्द-विधान हिन्दी कविता में पुनः प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार इस दिशा में भी द्विवेदी जी का ही अग्रगामित्व असंदिग्ध है।

व्रजभाषा में राशि-राशि वर्णिक छन्द लिखकर द्विवेदी जी ने नवीन शताब्दी के प्रथम वर्ष के साथ "हे कविते!' से खड़ी बोली में भी छन्द-विधान की परम्परा चलाई। 'हे कविते!' में कवि का पूर्ण कर्तृत्व प्रकट हो गया है। संस्कृत वर्णिक छन्द का प्रयोग, खड़ी बोली का माध्यम और कविता के स्वरूप में नवीन क्रान्ति का संकेत—तीनों का दर्शन उसमें है। फिर तो खड़ी बोली में ही 'सेवावृत्ति की विगर्हणा, 'ईश्वर की महिमा', 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना', 'विचार करने योग्य बातें' आदि के द्वारा वर्णिक छन्द-परम्परा के लिए मार्ग ही खोल दिया।

इस वर्णिक छन्द-परम्परा का पालन इस युग के सभी कवियों ने किया। राय देवीप्रसाद पूर्ण, सीताराम भूप, कन्हैयालाल पोद्दार आदि कवि कालिदास, भारवि आदि कृती कवियों के काव्यांशों को हिंदी कविता में रूपान्तरित करते थे और कभी कभी तो मूल काव्य के वृत्त में ही अनुवाद भी होता था। वर्ण-वृत्त की मधुरिमा अपनी मोहिनी हिंदी के कवि पर डाल रही थी और 'चींटी से लेकर परमेश्वर तक' के विषयों पर वर्णवृत्त निछावर होने लगे थे। हिंदी काव्य-आकाश में द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रांता, शिखरिणी, वसंततिलका और इंद्रवज्रा की वैजयंतियाँ उड़ने लगीं और उनके आगे दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैया और लावनियों का सारा शृंगार हतप्रभ हो गया। भाषा को खड़ी करने का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य इन वर्णिक छन्दों ने किया।

—अन्त्यानुप्रास का बंधन—

यहाँ एक बात का उल्लेख किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। संस्कृत काव्य में छन्द को अन्त्यानुप्रास (अर्थात् तुकः rime) से मुक्ति थी। हिन्दी के कवियों को अन्त्यानुप्रास से चिरन्तन मोह रहता आया है। इस मोह को भी तोड़कर यदि संस्कृत के वृत्तों की ओर ये कविगण बढ़ते तो यह स्वच्छन्दवादी वृत्ति द्विगुणित अभिनन्दनीय हो जाती।

स्वयं मुक्ति की दिशा दिखानेवाले द्विवेदी जी को अन्त्यानुप्रास के मोह ने जकड़े रक्खा और उन्होंने हिन्दी में प्रयुक्त इन संस्कृत वृत्तों को अन्त्यानुप्रास के आग्रह के साथ स्थापित किया। यह स्मरणीय है कि केशवदास जी ने भी

'रामचंद्रिका' में वर्णवृत्तों में अन्त्यानुप्रास का बन्धन रक्खा था। इस काल के सभी कवियों ने प्रायः अन्त्यानुप्रास-युक्त गण-वृत्तों का प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गिरिधर शर्मा आदि ने राशि-राशि रचनायें ऐसे वर्णिक छन्दों में कीं जिनमें अन्त्यानुप्रास का बन्धन अक्षुण्ण है।

इस बन्धन का पूर्ण उच्छेद करते हुए संस्कृत वृत्त-प्रणाली का पूर्ण परिपालन अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने ही किया। अतुकान्त (अन्त्यानुप्रासहीन) गणवृत्तों में उनका 'प्रियप्रवास' महाकाव्य इस युग की एक महान देन है। अतुकांत हिन्दी कविता का वह दीपस्तंभ है। गणवृत्तों के इस महाकाव्य को हिन्दी जगत् ने सिर आँखों पर रक्खा और कवि को 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया। 'प्रियप्रवास' की इस छन्द-रीति पर ही द्विवेदीकाल के दूसरे प्रसिद्ध कवि रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' के कुछ सर्गों की रचना की।

कवि श्री नाथूराम 'शंकर' ने बन्धन में ही छन्द का चमत्कार सिद्ध किया। गणात्मक छन्दों (जैसे द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि) में तो गण के आग्रह से वर्ण-गणना और वर्ण-क्रम सम रहते हैं; परन्तु मात्रिक छन्द (जैसे दोहा, रोला, चौपाई, हरिगीतिका आदि) इस वर्णिक बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं। फिर भी इस कवि ने अपनी 'पद्य-रचना की विशेषता' दिखाई और मात्रिक छन्दों में भी —

(१) वर्ण-संख्या की तथा

(२) दलानुसारी, चरणानुसारी वर्णसंख्या की समानता का कठोर नियम-पालन किया। अनेक मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों के संयोजन से उन्होंने नये-नये छन्दों और गीतों की सृष्टि की: जैसे भुजंगप्रयात का 'मिलिंद पाद' (जिसमें भुजंगप्रयात के चार चरण न होकर छः चरण रहें)।

'शंकर' में छन्द-रचना की अद्भुत प्रतिभा थी। 'अनुराग-रत्न' (रचना-काल १९६८ वि० = १९११ ई०) के भूमिकोद्भास में कवि ने 'पद्य रचना की विशेषता' का इंगित करते हुए लिखा था—

> अक्षर तुल्य वर्ण वृत्तों में सहित गणों के आवेंगे।
> मुक्तक छन्द मात्रिकों में भी, वर्ण बराबर पावेंगे।

देखो पद प्रत्येक पद्य के, सकल विधान प्रधान।
समता से दल, खण्डों में भी गुरु लघु गिनो समान॥

वर्णवृत्तों में, गण के कारण, अक्षर-संख्या की समानता निश्चित है ही, परन्तु मात्रिक छन्दों में भी, जिनमें मात्रा-संख्या की स्वतन्त्रता है. कवि ने वर्ण-संख्या की समानता का कठिन बन्धन स्वीकार किया है और इसे अपनी पद्य-रचना की विशेषता माना है। वस्तुतः कवि शंकर ने सर्वत्र इस कठोर नियम का निर्वाह किया है। कुछ अवतरण लीजिए।

(सोरठा) मंगलमूल महेश (८) दूर अमंगल को करे (९)
ब्रह्म विवेक दिनेश (८) मोह महातम को हरे (९)

(दोहा) खेल चुका खोटे खरे (८), निपट खोखले खेल (८)
आज मोह माया तजी (८), शंकर से कर मेल (८)

(षट्पदी छन्द)

प्रकटे भौतिक लोक (८) मेघ तड़िता ग्रह तारे (९)
झील, नदी, नद, सिंधु (८) देश वन भूधर भारे (९)
तन स्वेदज उद्भिज्ज (८) जरायुज अण्डज सारे (९)
अमित अनेकाकार (८) चराचर जीव निहारे (९)
नव द्रव्यों के अति योग से (१०) उपजा सब संसार है (९)
इस अस्थिर के अस्तित्व का (१०) शंकर तू करतार है (९)

स्पष्ट है कि यदि कवि को इस षट्पदी के अंतिम चरण में ९ वर्ण लाने का आग्रह न होता तो वह 'करतार' न लिखकर 'कर्त्तार' लिखता ! यहाँतक कि भजन (गीत) में भी कवि ने यही बन्धन निभाया है—

जिस अविनाशी से डरते हैं
भूत, देव, जड़ चेतन सारे !

जिसके डर से अम्बर बोले (११)
उग्र मन्द गति मारुत डोले (११)
पावक जले प्रवाहित पानी (११)
युगल वेग वसुधा ने धारे (११)
जि० अ० उ० भू० दे० ज० चे० सारे

(अनुराग-रत्न)

द्विवेदी जी ने उस काल में प्रचलित कुछ उर्दू छन्दों में लिखी गई कविताओं का भी अभिनन्दन ही किया था। उर्दू छन्द-शैली का मार्ग भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र बता चुके थे—

(१) वह नाथ अपनी दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो,
वह जो कौल भक्तों से था किया तुम्हें याद हो कि न याद हो।

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

(२) बसो मूर्खते देवि, आर्यों के जी में,
तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे?
अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा,
हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे कैसे?

(प्रतापनारायण मिश्र)

उसीकी ओर द्विवेदीजी का इंगित था। हरिऔधजी ने १६०० ई० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के भवन-प्रवेशोत्सव पर चेतावनी में कहा था—

चार डग हमने भरे तो क्या किया,
है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
काम जो हैं आज के दिन तक हुए,
हैं न होने के बराबर वे सभी।

पाठक देखेंगे कि तुकान्त का युग्म पहिले-दूसरे और तीसरे-चौथे का न होकर दूसरे-चौथे का ही है। हिन्दी-पिंगल में यह छन्द 'पीयूषवर्षी' है। हरिऔध जी ने इस शैली को बनाये रक्खा। वे उर्दू-शैली से प्रभावित होकर हिन्दी में चौपदे, चौतुके, छपदे, छतुके आदि भी लिखते रहे और उनकी अपनी कलम का हिन्दी में विशेष स्थान है। बोलचाल की भाषा में 'चुमते चौपदे, 'चोखे चौपदे' और 'बोलचाल' जैसे ग्रन्थों की रचना इस काल में होती रही किन्तु संकलन, प्रकाशन बहुत पीछे हुआ है। उर्दू में हाली के 'मुसद्दसों' (षट्पदियों) की धूम थी अतः हिन्दी में उसका भी प्रभाव स्वाभाविक था। कवि हरिऔध के अतिरिक्त गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माखनलाल चतुर्वेदी, भगवानदीन आदि ने 'सरस्वती' और 'मर्यादा' में हिन्दी के ही मात्रिक छन्दों के चरणों से षट्पदियाँ बनाईं।

पं० बदरीनाथ भट्ट ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया। उन्होंने कुछ कविताएँ (जैसे 'जातीय सेवक' 'मर्यादा: सितम्बर १९११) उर्दू शैली में ही लिखीं और उन्हें मुसद्दस नाम भी दिया।

आचार्य द्विवेदी ने अतुकांत छन्द की कल्पना करते समय वर्णवृत्त के आगे की कल्पना नहीं की थी—

"संस्कृत में प्रयोग किये गये शिखरिणी, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदिवृत्त ऐसे हैं जिनमें अनुप्रास का न होना काव्यरसिकों को बहुत ही कम खटकेगा। पहले पहल इन्हीं वृत्तों का प्रयोग होना चाहिए।"

आलोच्य काल में अमित्र छन्द का विधान छन्द-विन्यास में एक प्रकार की क्रांति है।

'अमित्र' छन्द

मुक्ति जाग्रत मानवता की एक कामना है। 'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।'[1] वह मनुष्य की स्वाधीन चेतना का एक लक्षण है। कविवर निराला ने मुक्त काव्य को मूल प्रकृति की समता दी है—

"मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता। किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति दोनों ही सुन्दर हैं पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है यह बतलाना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप, वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल है।"[2]

छन्द के बन्धन तीन हैं—

(१) परिमाण (वर्ण, गण या मात्रा की माप से)।
(२) अन्त्यानुप्रास (तुकान्त)
(३) लय (गण, वर्ण या मात्रा के भेद से)

मुक्त छंद के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो उसकी प्राचीनता के लिए वेद तक जाना होगा। वेद का गायत्री मन्त्र ब्रह्म की ही भाँति मुक्त

१. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' : 'परिमल' की भूमिका
२ उपर्युक्त

में बंग-काव्य में सबसे पहले भिन्नतुकान्त कविता की प्रतिष्ठा माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा हुई। उनका 'मेघनादवध' काव्य इसका एक महान् उदाहरण है।

बंगला में इसे 'अमित्र काव्य' या अमित्राक्षर छंद की संज्ञा दी गई थी।

छन्द वर्णिक भी होते हैं और मात्रिक भी। वर्णिक में भी दो उपभेद हैं—गणाश्रित, वर्णाश्रित। तुकान्त (अत्यानुप्रास) से रहित गणात्मक छन्द को हम गणवृत्त कहेंगे और वर्णात्मक छन्द को वर्ण-वृत्त।

(१) अमित्र गणात्मक : गणवृत्त

जिन्हें हम वर्णवृत्त मानते हैं वे वस्तुत: गणवृत्त हैं क्योंकि इनमें गणों का बन्धन है।

गणवृत्त में संस्कृत के विशाल काव्य-महाकाव्य रचे गये हैं। जहाँ इनमें गण का कठोरतम बन्धन विद्यमान है वहाँ अत्यानुप्रास से सर्वथा मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति की यह विचित्र सन्धि है। कदाचित बन्धन की कठोरता में ही मुक्ति की यह प्रवृत्ति अभिनन्दनीय हुई होगी। रीति युग में केशवदास ने इन गण वृत्तों का पुनरुत्थान किया। परन्तु उसमें 'तुक' का बंधन था अतः वे वृत्त न रहे।

नवयुग में राजा लक्ष्मणसिंह ने नाटकानुवादों में कहीं कहीं गणवृत्त लिखे और द्विवेदी जी ने संस्कृत काव्य के इन गणवृत्तों का पुनरुत्थान किया। परन्तु इनमें भी अंत्यानुप्रास का बन्धन है। कहा जा चुका है कि द्रुतविलम्बित, शिखरिणी वंशस्थ, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, मंदाक्रांता आदि राशि-राशि छन्द उन्होंने फिर प्रचलित किये। मराठी भाषा में सफल प्रयोग होता देखकर द्विवेदी जी ने यह क्रान्तिकारी चरण हिन्दी में उठाया।

(२) अमित्र वर्णात्मक : वर्णवृत्त

जिस वर्णिक छन्द में लघु-गुरु के क्रम से भी मुक्ति मिल गई हो वह वर्णिक छन्द है।

कवित्त इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यह छन्द चिरकाल से हिन्दी कवियों का कण्ठहार रहा है।

कवित्त का प्रयोग हिन्दी में अधिक हुआ है। रीति युग का काव्य तो इससे भरा पड़ा है। वर्णवृत्त में केवल वर्णों की संख्या नियत होती है, तुकांत

का विधान नहीं होता। मैथिलीशरण गुप्त ने 'वर्ण वृत्त' का सबसे पहले प्रयोग किया 'वीरांगना' में। विकटभट, वीरांगना आदि काव्यों में हिंदी के धनाक्षरी दण्डक (कवित्त) का उत्तरार्द्ध चरण है।

ओठों से हटा के रिक्त स्वर्ण-सुरा-पात्र को, (१५ वर्ण)
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के, „
पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से „
बोले दरबार खास में कि 'देवीसिंह जी! „
कोई यदि रूठ जाय मुझ से तो क्या करे?" „

इसके प्रत्येक चरण में १५ वर्ण हैं, तुकांत तथा लघु-गुरु का कोई बंधन नहीं है। इस प्रकार के वर्ण वृत्त में चरण के मध्य में वाक्य का अन्त भी हो जाता है। जैसे—

"मेरे साथ ऐसा व्यवहार! भला अब क्या
इच्छा है?" उन्होंने कहा भूपति को देख के,
आज्ञा हुई—शीघ्र इसे जीता ही पकड़ लो।"

इसी वर्णवृत्त में गुप्तजी ने वंग कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के महा काव्य 'मेघनादवध' का हिंदी रूपांतर किया। गुप्तजी को वस्तुत: इसपर स्वामित्व प्राप्त है।

श्री पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने रवींद्रनाथ के 'गार्डनर' के अनुवाद (बागबान) में ८-८ अक्षरों के एक वर्णवृत्त का आविष्कार किया था। जैसे—

मुक्त कर मुक्त मुझे (८)
बन्धनों से मेरी प्यारी (८)
महा माधुरी के तेरे (८)
बन्धनों से मुक्त कर (८)

इसे घनाक्षरी की पुत्री 'मिताक्षरी' कहना चाहिए।

(३) अमित्र मात्रिक : मात्रावृत्त

मात्रिक छन्द अपनी प्रकृति के अनुसार ही सान्त्यानुप्रास है। युग युग के काव्य-प्रयोग ने मानों अंत्यानुप्रास को उसका अनिवार्य अंग ही बना दिया है। तुकान्तविहीन कविता हिन्दी के प्रत्येक छन्द के अनुकूल नहीं है।

मध्ययुग में लिखा गया आल्ह खण्ड अंत्यानुप्रासहीन छन्द का एक प्रयोग था। मात्रिक छन्द में अंत्यानुप्रास का बहिष्कार करने का साहस आल्हखंडकार के पश्चात् किसी ने नहीं किया था।

सन् १६०० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन प्रवेशोत्सव पर अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सरल बोलचाल की भाषा में कुछ ऐसे छन्द सुनाये—

चार डग हमने भरे तो क्या किया,
है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
काम जो हैं आज के दिन तक हुए,
हैं न होने के बराबर वे सभी।

उक्त छन्द में उर्दू की शैली का पुट है। यदि सम चरणों में अन्त्यानुप्रास न हो तो यह अतुकांत मात्रिक छन्द ही कहा जायगा। हिन्दी में यह छन्द 'पीयूषवर्षी' होगा। प्रस्तुत स्थिति में इसे अर्द्धमुक्त कह सकते हैं।

इस ढंग की कवितायें हिन्दी में भारतेन्दु और प्रेमघन ने भी लिखी थीं। इस दिशा में हरिऔध जी सदैव स्मरणीय रहेंगे। उन्होंने इसी शैली में बोल-चाल की भाषा में 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे' और 'बोल चाल' ग्रंथ लिखे। परन्तु तुकांत का बन्धन वे भी न छोड़ सके थे।

मात्रिक छन्द को तुकांतहीन करने का साहस कोई कवि न कर सका।

"प्रसादजी को भिन्नतुकांत कविता लिखने की जब रुचि हुई तो उसी समय यह प्रश्न उनके मन में उपस्थित हुआ था कि इसके लिए कोई खास छन्द होना आवश्यक है क्योंकि तुकांतविहीन कविता में वर्ण-विन्यास का प्रवाह और श्रुति के अनुकूल गति का होना आवश्यक है।" +

प्रसादजी की लेखनी से इस दिशा में कई प्रयोग हुए। कई छन्दों से उन्होंने तुकांत का बन्धन हटाया और सफलता पूर्वक हटाया। प्रसाद जी ने "महाराणा का महत्त्व" की भूमिका के अनुसार "भिन्नतुकांत कविता के लिए कई तरह के छंदों से काम लिया है। उन में से एक २१ मात्रा का छंद जो अरिल्ल नाम से प्रसिद्ध था, विरति के हेर-फेर से प्रचलित किया हुआ अधि-

+ "महाराणा का महत्व" की भूमिका।

कांश कविताओं में व्यवहृत है। इस छन्द में भिन्नतुकांत सबसे पहली कविता लेखक की 'भरत' नाम की है।"[1] 'भरत' कविता का छंद है—

> अहा खेलता कौन यहाँ शिशु-सिंह से,
> आर्य वृन्द के सुन्दर सुखमय भाग्य-सा
> कहता है उसको लेकर निज गोद में...
> खोल खोल ! मुख सिंह-बाल मैं देखकर
> गिन लूँ तेरे दाँतों को हैं कैसे भले !

यह 'अरिल्ल' छंद है। 'महाराणा का महत्त्व' का छंद भी यही है :

> कहो कौन है ? आर्य जाति के तेज सा
> देश-भक्त, जननी के सच्चे दास हैं,
> भारतवासी ! नाम बताना पड़ेगा,
> मसि मुख में ले अहो लेखनी क्या लिखे !

यही अरिल्ल छंद 'शिल्प-सौंदर्य', 'हमारा हृदय', 'वीर बालक', 'भावसागर', 'श्रीकृष्ण जयंती' आदि कविताओं में प्रयुक्त हुआ है और इसी में प्रसादजी ने 'करुणालय' नामक गीति-रूपक (opera) भी लिखा (मार्च १६१३)।

इसी छंद के अनुकरण में पं० रूपनारायण पांडेय ने 'तारा' गीतिरूपक (अनुवादित) की सृष्टि की। उनके 'राजा रानी' (रवींद्र के नाटक का अनुवाद) में भी यही छंद है।

३० मात्राओं के छंद से भी 'प्रसाद' जी ने मात्रा वृत्त बनाया और इसमें उन्होंने 'प्रेम पथिक' (खड़ीबोली) लघु काव्य की रचना की।

हिंदी के साहित्यकारों में इस विषय में बड़ी जागरूकता से सोचा विचारा गया। सन् १४ के (जुलाई-अगस्त के) 'इंदु' में पं० लोचनप्रसाद पांडेय ने तत्कालीन सिद्धहस्त कवियों से 'हिंदी में तुकांतहीन पद्य रचना अर्थात् (Blank verse)' पर प्रश्नावली के उत्तर मांगे थे। उनका बल मात्रिक छंदों में तुकांतहीन पद्य लिखे जाने पर केंद्रित था। प्रश्न अविकल रूप से ये थे—

(१) खड़ी बोली में मात्रा वृत्तों में तुकांतहीन पद्य (Blank verse) लिखे जाने पर आपकी क्या सम्मति है ?

---

१ 'महाराणा का महत्व' की भूमिका।

(२) क्या ब्रजभाषा में भी तुकांतहीन पद्य लिखे जायँ ?

(३) गण वृत्तों के अतिरिक्त मात्रा वृत्तों के किसी एक दो या नियमित संख्या में निर्धारित छंदों में इस शैली के पद्य लिखे जाने चाहिएँ या कवि की रुचि के अनुसार किसी भी छंद में ?

(४) आजकल 'इंदु' में प्लवङ्गम, लम्बी लावनी, रोला, वीर आदि मात्रावृत्तों में (Blank verse) के पद्य लिखे जाते हैं। क्या यह ऐसा ही चलता रहे ? अथवा कुछ मात्रा छंद इस काम के लिए चुन लिये जायँ ?

इस प्रश्नावली के उत्तर में मिश्रबन्धुओं, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडेय और स्वयं जयशंकर प्रसाद ने मात्रावृत्त में तुकान्तहीन पद्य रचना का अभिनन्दन ही किया था, और निर्णय दिया था कि वह किसी भी छन्द में की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि जयशंकरप्रसाद को मात्रा-वृत्त का आविष्कारक कहा जाता है परन्तु उनसे पूर्व श्री लोचनप्रसाद पांडेय और श्री गिरिधर शर्मा ने ऐसे प्रयोग किये थे। पाण्डेय जी ने 'नागरी-प्रचारक' (१९०७) में 'संसार' शीर्षक अतुकान्त मात्रिक कविता प्रकाशित कराई थी तथा 'वीरांगना' (मधुसूदनदत्त) के अंश 'जनापत्र' का अनुवाद भी १९०८ में छपाया था।[1]

पं० गिरिधर शर्मा ने अपने 'सती सावित्री' नामक कथा-काव्य के एक सर्ग में इस अतुकांत मात्रिक का प्रयोग किया है—

जब यह हुई अवस्था वाली
अजब निराली रंगरूप से
इसको देख शची सकुचानी
पानी उतर गया रतिमुख का
इसकी सुनें सुरीली वाणी
मानी वृथा मंजुघोषा को,
वह गाती जब कभी प्रवीणा
निज वीणा रख देती वाणी ![2]

मात्रावृत्त का प्रयोग कई कवियों ने किया है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पीयूष वर्षी' में ग्रन्थि (१९१९) नामक लघु काव्य की रचना की।

---

१ 'पद्यपुष्पांजलि' २ प्र० मोतीलाल शाह अमदाबाद

मुक्त छन्द : स्वच्छंद छन्द

उक्त सब अमित्र (अतुकांत) काव्यों में एक बात द्रष्टव्य है और वह यह कि इनमें किसी न किसी प्रकार का बंधन शेष है। मात्रावृत्त (अतुकांत मात्रिक छंद) में अन्त्यानुप्रास के बन्धन से मुक्ति है, परंतु मात्रा की गणना का बंधन है। गणवृत्त (भिन्न तुकांत वर्णिक) में अंत्यानुप्रास का बंधन नहीं है, परन्तु गण के क्रम का बंधन है। 'वर्णवृत्त' में भी अंत्यानुप्रास के बंधन से मुक्ति है परंतु वर्ण की समान संख्या से नहीं। परंतु इन तीनों से निराला छंद है वह, जिसमें न मात्रा का बंधन है, न गण का, न वर्ण का। यदि उसमें कोई बंधन है तो केवल लय का। लय-प्रधान स्वच्छन्द छंदों की रचना की श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने।

अपने 'परिमल' संग्रह की भूमिका में 'निराला' ने लिखा है—

"जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बंधन नहीं रहते न मनुष्यों में न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखला-बद्ध नियम किसी कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है। अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं। "मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है।"

छंद की गति, प्रवाह या लय ही इन्हें छंद की कोटि में ले जाता है—केवल गद्य नहीं रहने देता। परन्तु किसी प्रकार (मात्रा, गण या वर्ण) का बंधन न होना इन्हें मुक्त बनाता है।

मुक्त छन्द में किसी भी छंद की लय हो सकती है, किंतु उस छन्द विशेष का मात्रा या वर्ण का बन्धन उसे मान्य नहीं। उसमें अन्त्यानुप्रास होना भी अनिवार्य नहीं है। यह कवि की इच्छा पर निर्भर है कि वह उसका नियोजन करें या न करें। इस छन्द के चरण छोटे भी हो सकते हैं और बड़े भी—(कदाचित् इसीलिए इसकी आकृति-प्रकृति को प्रशस्ति न दे सकनेवाले प्राचीनों ने व्यंग्य में इन्हें रबड़ छन्द—केंचुआ छन्द भी कहा था !)

मुक्त छन्द में लय-भेद

मुक्त छन्द मूलतः लय-प्रधान होता है—अतः वह द्विविध हो सकता है : (१) मात्रिक लय प्रधान, (२) वर्णिक लय प्रधान।

(१) आज नहीं है मुझे और कुछ चाह (१६) [सुहानी]
अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू (२०) [रानी]
प्रिये छोड़कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह (२०)
गजगामिनि वह पथ तेरा संकीर्ण (२६)...........
...कण्टकाकीर्ण (८)

—'निराला'

इन पंक्तियों में रोला की लय है—परन्तु मात्राओं की विषमता है। यदि कोष्ठ में लिखे शब्द जोड़कर पढ़े जायँ तो इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। तीसरे चरण में मात्रायें रोला की सीमा को पार कर गई हैं। उनकी 'संध्या सुन्दरी' भी कविता सरसी, सार, ताटंक, वीर (जिनमें लय-साम्य है) की लय (गति) में है :

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे

अतः ये 'मात्रिकलयप्रधान' मुक्त छन्द हैं।

(२) 'जुही की कली' के अंश के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है—यहाँ 'सोती थी सुहागभरी' आठ अक्षरों का एक छंद आप ही आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त छंद की तरह है।'[1] यह 'वर्णिकलय प्रधान' मुक्तछन्द है।

उदाहरण लें—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में !

यह 'जुही की कली' कविता का एक अंश है जो (सन् १९१६ में) 'सरस्वती' में अस्वीकृत होने के कारण, स्थान न पा सकी थी।

---

१ 'परिमल' की भूमिका

: २ : रंग की क्रान्ति

(१) नूतन विषय-विधान

भाषा में यद्यपि एकता की प्रतिष्ठा हो रही थी 'विषय' में छन्द की भाँति अनेकता—विविधता की। द्विवेदीजी ने कविता का एकमात्र पिष्टपेषित विषय निषिद्ध कर दिया था। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन करने और परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने अथवा स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की सचमुच इस युग में क्या उपयोगिता रह गई थी? हिन्दी कविता की एक विपुल राशि 'वर्जित प्रदेश' कहकर बहिष्कृत कर दी गई थी, अतः कवियों को भाव-संचार के लिए नूतन प्रदेश का अन्वेषण करना पड़ा।

आचार्यश्री ने इस नये निर्देश से कवियों के सम्मुख प्रस्तुत कठिन समस्या का निदान भी कर दिया यह लिखकर कि 'चींटी से लेकर हाथी-पर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राजा-पर्यंत मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र-पर्यंत जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी पर कविता हो सकती है।'

इतनी व्यापक स्वतन्त्रता का क्षेत्र! और इतने असीम अधिकार!! रूढ़िगत विषयों की रूढ़ियों में जकड़ी मानस-कल्पना ने जैसे सन्तोष की साँस ली और कवियों की भावना प्रत्येक क्षुद्रातिक्षुद्र विषय से अनुप्राणित होने का उपक्रम करने लगी।

आचार्यश्री एक ओर प्राक्तन वरिष्ठ संस्कृत काव्य की निधि पर मुग्ध थे, तो दूसरी ओर अन्य अर्वाचीन भारतीय भाषाओं (जैसे बंगला और मराठी) के काव्यों से प्रभावित थे; अतः उनका युगनिर्माता चेतन मानस यह सहज कामना कर सकता था कि हिन्दी की आधुनिक कविता भी उस पंक्ति में बैठ सके। इसलिए उन्होंने प्रतिभावान् कवि से लेकर नवशिक्षित छन्दकार तक सभी लेखनीधरों को यह निर्देश दिया—"यदि 'मेघनाद' अथवा 'यशवन्तराव महाकाव्य' वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-से-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी छोटी कविता करनी चाहिए। अभ्यास करते-करते शायद कभी, किसी समय वे इससे अधिक योग्यता दिखलाने में समर्थ हों और दण्डी कवि के कथनानुसार शायद कभी वाग्देवी उन पर सचमुच प्रसन्न हो जायें।"

प्राचीन रीति के शृंगारिक काव्य लिखना विद्या-बुद्धि और प्रतिभा का व्यभिचार है, अलंकार-रस और नायिका-निरूपण पिष्ट-पेषित है और समस्या-पूर्ति में प्रतिभा नियोजित करना व्यर्थ है। अतः "अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुनकर, कवियों को, यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी-छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए।" यह उनका आदेश था।

स्वेच्छित 'विषय' और संक्षिप्त स्वतन्त्र 'रूप' के द्वारा आचार्य ने मुक्तक कविताओं के लिए हिन्दी-सरस्वती का आँगन खोल दिया।

पृथ्वी से लेकर आकाश तक के 'ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में छोटे-से-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों' पर, स्थूल और सूक्ष्म सब विषयों पर अब कवि गण कविता लिखते थे। अतः प्रारम्भ में कवि इतिवृत्तात्मक (वर्णनात्मक) उक्तियाँ ही दे सके।

और सब से बड़ी बात यह थी कि उनके आगे कविता के द्विविध धर्म—'मनोरंजन' और 'उपदेश' स्थापित कर दिये गये थे।

'मनोरंजन' और 'उपदेश' दोनों का समन्वय और सामंजस्य साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं है। प्रत्येक साधारण-सामान्य विषय से 'मनोरंजन' हो या न हो 'उपदेश' का तत्व उससे लेने के लिए कवि अवश्य प्रयत्नशील हैं।

— कविता के विषय —

कविता के तीन क्षेत्र कवि के लिए होते हैं—(१) स्व, (२) पर और (३) परोक्ष सत्ता। इन्हीं में से वह 'विषय' निर्वाचन करता है।

पहले 'स्व' और 'पर' का सापेक्षिक अवलोकन करें। मनुष्य 'स्व' (अर्थात् आत्मपक्ष) को कविता का विषय तब बनाता है, जब वह अन्तर्मुख होता है और अन्तर्मुख तब होता है जब वह बहिर्मुख होने की स्थिति से तृप्त हो जाता है। पहले 'पर' (वस्तुजगत्) को काव्य-विषय बनाया गया। एक नई भाषा के माध्यम में (यह भाषा कविता में प्रयोग की ही दृष्टि से नई थी !) कवि को अपने निकट जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ, प्रश्न या विषय मिला, उसी पर उसने छन्द लिखना प्रारम्भ कर दिया। जो बात कहनी है वह छंद में होनी चाहिए, वह किस सुन्दरता से कही जाय—यह पक्ष गौण हो गया। अभिव्यक्ति की शैली की सुन्दरता का महत्व तो उपेक्षित नहीं रहा, परन्तु उसकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं सिद्ध की गई। इस प्रकार के आदेश-निर्देशों से बँधे हुए कवि के पास किसी

ऊँची कविता की आशा कैसे की जा सकती थी ? यही कारण है कि इन प्रारंभिक कविताओं में वह सरसता या रमणीयता नहीं थी जो कविता की आत्मा मानी गयी है। ये कवितायें तो 'अभ्यास' या 'प्रयत्न' ही थीं* कि सरस्वती का अनुग्रह मिल सके।

स्वयम् द्विवेदीजी ने सम्पादन-सूत्र हाथ में लेते ही 'सरस्वती' के उदर-संकट को देखकर कविता लिखी थी :

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ ;
वचनों की बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ
उदर हेतु मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ ;
हाय, हाय, आजन्म दुःख सहती आती हूँ।

इसी प्रकार एक बार उन्होंने लेखकों ('ग्रन्थकारों') से विनय करते हुए लिखा था—

जो वस्तु और की बिना कहे लेता है ;
सब कोई उसको 'चोर' सदा कहता है।
औरों के चारु विचार तथापि मनोहर
ले लेने में कुछ दोष नहीं, हे बुधवर !

इसी प्रकार अपनी ही सेवावृत्ति (नौकरी) से ऊबकर उनकी लेखनी लिख रही थी—

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे।
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावे ;
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावे।
(सेवावृत्ति की विगर्हणा)

जीवन के गम्भीर क्षणों में वे मानस में डुबकी लगाकर चिन्तन के रत्न भी लाते थे—

---

* न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतन्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
— पूर्ववासना और अद्भुत प्रतिभा न होने पर भी शास्त्र के अनुशीलन और यत्न के अभिनिवेश द्वारा उपासना की गई 'सरस्वती' अनुग्रह अवश्य ही करती हैं।
—'काव्यादर्श'

क्यों पाप-पुण्य पचड़ा जग बीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सब को भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारै,
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारै ?
(विचार करने योग्य बातें)

वस्तु जगत के सभी दृश्य और पदार्थ कवि की कविता के विषय बनने लगे। प्रारम्भ मुक्तक (स्फुट) कविताओं से हुआ। ये त्रिविध थे—

(१) प्रकृति (२) लौकिक घटना या संघटना (३) आदर्श चरित

(१)

प्रकृति पर सिद्ध कवि (श्रीधर पाठक, सत्यनारायण 'कविरत्न', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण') कभी खड़ी बोली, कभी ब्रज भाषा में कविता लिखा करते थे, परन्तु प्रकृति-वर्णन की अविरल परम्परा मैथिलीशरण गुप्त की 'हेमन्त' कविता से प्रारम्भ हुई। फिर तो 'वसन्तराज' (सनातन शर्मा सकलानी), ग्रीष्म (सनातन शर्मा सकलानी), 'पावसराज' (सनातन शर्मा सकलानी), वर्षा की बहार (रूपनारायण), पावस पंचाशिका ('शंकर'), शरद (मुरारि बाजपेयी), शरत्स्वागत (सत्यशरण रतूड़ी), शरद् (लक्ष्मीधर बाजपेयी), हेमन्त (गिरिधर शर्मा), हेमन्त (लोचन प्रसाद), शिशिर (ठाकुर जगमोहनसिंह) शिशिर-निशा (कृष्ण चैतन्य गोस्वामी), वसन्त-विकास (शंकर), ग्रीष्म (लोचन प्रसाद पांडेय), निदाघ-वर्णन (मैथिलीशरण), वर्षावर्णन (गुप्त), वसंत (गिरिधर शर्मा) ग्रीष्मागमन (मैथिलीशरण), निदाघ-निदर्शन (शंकर), वर्षा-विलास (विश्वंभर) आदि-आदि के रूप में षटऋतुओं पर नवकवियों द्वारा कविताएँ लिखी गईं। बीच-बीच में कालिदास, माघ, भारवि जैसे वरिष्ठ संस्कृत कवियों के ऋतु वर्णन द्वारा प्रकृति-विषयक कविताओं के लिए आदर्श दिखाया जाता था।

अंग्रेजी कवियों के प्रकृति-वर्णन से भी नवकवियों ने छायानुवाद किये और उसी प्रकार की प्रकृति विषयक कवितायें प्रस्तुत हुईं।

(२)

लौकिक घटना या संघटना को लेकर लिखी गई कविताओं की तो इस काल में इ[illegible]ा ही नहीं है। पृथ्वी से लेकर आकाश तक के विषय कविता के आलम्बन बने। आचार्य द्विवेदी के "ईश्वर की निःसीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविता करनी चाहिए" आदेश का अक्षरशः पालन आलोच्यकाल के प्रारम्भिक चरण में हुआ। कभी मैथिली बाबू 'ग्रन्थ गुणगान' कर रहे हैं—

सद्धर्म का मार्ग तुम्हीं बताते
तुम्हीं अंधों से जग में बचाते।
हे ग्रन्थ विद्वान् तुम्हीं बनाते,
तुम्हीं दुखों से हमको छुड़ाते। (जनवरी १६०७)

तो कभी कन्हैयालाल पोद्दार 'बम्बई का समुद्र तट' दिखा रहे हैं—

मेमें मंजुल पारसीक नवला नारी दिखाती अदा,
आती हैं सब सभ्य भव्य महिला प्रायः सदा सर्वदा।
वे स्वाधीन सभी, समाज निज से स्वातन्त्र्य पाई हुई,
आती जो मरुवासिनी वह कथा है सर्वथा ही नई।

कभी रामचरित उपाध्याय 'परोपकार' का निदर्शन कर रहे हैं—

आभरण नरदेह का बस एक पर-उपकार है
हार को भूषण कहे उस बुद्धि को धिक्कार है।
स्वर्ण की जंजीर बाँधे श्वान फिर भी श्वान है,
धूलि-धूसर भी करी पाता सदा सम्मान है।

तो पं० गिरिधर शर्मा 'मुरली' को और लोचन प्रसाद पांडेय 'कृषक' को श्रद्धांजलि चढ़ा रहे हैं—

विश्व सरोवर का तू सुरभित पद्म है,
सहिष्णुता सारल्य सत्य का सद्म है।
है आडम्बर-शून्य सद्गुणागार तू,
शुचि सुशीलता शान्ति सौख्य आधार तू। (मई १६१०)

दृश्य जगत् के स्थूल और सूक्ष्म, अणु और विराट् विषयों पर लिखी गई इस प्रकार की कविताओं के विषय थे—कोकिल, प्रभात, हिमालय, मातृभूमि, विद्या, प्रणय, ईर्ष्या, निद्रा, सर्वग्रासी काल, मृत्यु तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रदर्शिनी, राज्याभिषेक, विद्यार्थी साहित्य सेवा, शरीर-रचा, कविता, ग्राम, बालक, मूढ़ मानव, आदि आदि।

(३)

आचार्य द्विवेदी ने 'कवि कर्त्तव्य' में लिखा था—

"हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार रस कुसुमाकर और [illegible] जसो (!) भूषण के समान ग्रन्थों की इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में कवि किसी आदर्श पुरुष के चरित्र का अवलम्ब करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी साहित्य को अलभ्य लाभ होता।"

सहसा इतनी ऊँची आकांक्षा की पूर्ति नये कवि कैसे कर सकते थे ? परन्तु इसके लिए भी भूमिका बनी ।

'सरस्वती' में प्रकाशित होनेवाले चित्रों पर उस काल के सिद्ध-प्रसिद्ध कवि परिचयात्मक कविताएँ लिखते थे। राजा रविवर्मा के पौराणिक चित्रों की परम्परा चली। राजवर्मा, ब्रजभूषणराय चौधरी आदि चित्रकारों के भी चित्र प्रकाशित हुए। इनपर सिद्ध लेखनियों ने कविताएँ लिखीं और आख्यान-मूलक काव्य प्रस्तुत हुए। यह परम्परा 'इन्दु' तथा 'मर्यादा' ने भी अपनाई। जिस प्रकार द्विवेदी जी की रम्भा, महाश्वेता, कुमुद सुन्दरी, इंदिरा, पूर्णजी की 'कादम्बरी' और रामचन्द्रजी का धनुर्विद्याशिक्षण, शंकर जी की 'बसन्तसेना विलास' और 'मोहनी' तथा गुप्तजी की 'मालती', 'प्रार्थना' 'पञ्चदशी', आदि-आदि अनेक कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित चित्रों पर हैं उसी प्रकार प्रसाद जी की 'भरत' कविता 'इन्दु' में प्रकाशित चित्र पर है।

इन लघु प्रबन्धों से मौलिक कथा-प्रबन्धों की प्रेरणा हुई और रामलीला (शंकर), प्रताप (सि० श० गुप्त) आदि आख्यानमूलक राशि-राशि रचनाएँ की गईं।

इन्हीं छोटे-छोटे उद्योगों की सफलता ने कवियों को बड़े प्रबन्ध काव्य प्रस्तुत करने की दिशा में प्रेरित किया। 'भारत भारती'[1], रंग में भंग[1], जयद्रथबध[1], 'शकुन्तला'[1], किसान,[1] मौर्यविजय,[2] प्रियप्रवास'[3], रामचरित चिन्तामणि[4], वीर पञ्चरत्न,[5] प्रेम-पथिक[6], महाराणा का महत्व[6], पथिक[7], मिलन[7] जैसे आख्यानक काव्यों की रचना हुई। उर्मिला[3], वैदेही वनवास[3] और साकेत[1] के कई सुन्दर सर्ग उन्हीं दिनों निर्मित हो चुके थे। सिद्ध कवि गुप्तजी ने बंगकाव्य 'मेघनादवध' और 'ब्रजांगना' तथा 'पलाशिर युद्ध' के अनुवाद का उपक्रम किया। 'विरहिणी ब्रजांगना' तथा 'पलासी का युद्ध' आलोच्य काल में ही पूर्ण हो गईं।

यों तो इन सभी प्रबंध काव्यों के नायक आदर्श चरित्र हैं और उनके द्वारा कवियों ने द्विवेदीजी की एक इच्छा की पूर्ति की परन्तु इन सब मौलिक प्रबन्ध काव्यों में शीर्ष स्थानीय हैं—'प्रिय प्रवास' और जयद्रथ वध।

---

१ मैथिलीशरण गुप्त, २ सियारामशरण गुप्त, ३ हरिऔध, ४ रामचरित उपाध्याय, ५ भगवानदीन, ६ प्रसाद, ७ रामनरेश त्रिपाठी।

कृष्ण-राधा और अभिमन्यु वीर का जो आदर्श चरित इनमें अंकित हुआ है उसमे द्विवेदीजी को अवश्य परमानन्द हुआ होगा। 'मौर्य्य-विजय' में चन्द्रगुप्त भारतीय गौरव और विक्रम का प्रतिनिधि है। 'पथिक', 'मिलन' के नायकों में भारतीय त्याग और सेवा मूर्तिमती हुई है। 'प्रसाद' के नायक भी आदर्श हैं। 'वीर पंचरत्न' भी ओजस्वी गीतिकाव्य है, जिसमें आबाल-वृद्ध वीर-वीरांगनाओं के रोमांचक चरित्र की झाँकियाँ हैं। 'रामचरित चिन्तामणि' के नायक राम हैं।

मैथिलीशरण और 'हरिऔध' की प्रेरणा पुराण थे—वे पौराणिक कथा-कारों में शिरमौर हुए। रामचरित उपाध्याय ने भी पुराण से ही प्रेरणा पाई। सियारामशरण ने इतिहास से प्रेरणा पाई और भगवानदीन ने 'पुराण' तथा नवीन इतिवृत्त से। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने कल्पना की भूमि पर प्रबन्ध सृष्टि की। उनके नायक समाज-सेवक, देश-सेवक और बलि वीर हैं। इस प्रकार हिन्दी में विविध शैलियों के प्रबन्ध काव्य प्रस्तुत हुए।

'पर' (अर्थात् विश्व-जगत्) का सांगोपांग वर्णन-विवेचन करने के पश्चात् कवि-कल्पना अन्तमुखी हो सकी। इस प्रकार हिन्दी में पहिली बार आत्मगत (Subjective) कविता की सृष्टि हुई।

'परोक्ष सत्ता' (परब्रह्म ईश्वर) की ओर कवि ने देखा। पहले उसने या तो दीन-निहोरा किया है, या याचना या प्रार्थना की है या उसका स्तवन या बन्दन किया है। दोनों प्रकार की परम्परा प्राचीन कवि दे चुके थे—जैसे प्रतापनारायण मिश्र (हे प्रभो आनन्द दाता ज्ञान हमको दीजिए,); इन्हीं का सम्यक विकास हुआ है 'प्रभु-प्रताप' (हरिऔध) 'ईशगुण गान' (लोचन प्रसाद पांडे) 'दीन निहोरा' (कामता प्रसाद गुरु) जैसी रचनाओं में। कवि रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के प्रकाशन के पश्चात हिन्दी में ईश्वर-भक्ति नये (रहस्य-वादी) रूपमें हिन्दी में प्रवर्तित हुई। इसमें शुद्ध भारतीय अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन था। कुछ कवियों ने सूफी प्रभाव भी ग्रहण किया और दोनों की संधि रहस्यपरक आध्यात्मिक कविताओं में प्रतिफलित हुई।

(२) अभिनव अर्थ-विधान

भाषा और छन्द कविता के बहिरंग—कलेवर और अस्थिजाल हैं, विषय उसका हृदय और अर्थ उसका प्राण है। इस प्राण की व्याख्या आचार्य द्विवेदी ने 'अर्थ' के अन्तर्गत की है। हमें सबसे पहले आचार्य द्विवेदी का

मत जानना चाहिए। "सैकड़ों अलंकारों से अलंकृत होकर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर अधिरूढ़ होकर भी, और सब प्रकार सौष्ठव को धारण करके भी रसरूपी अभिषेक के बिना कोई भी प्रबन्ध काव्याधिराज पदवी को नहीं पहुंचता।"* श्रीकण्ठ-चरितकार का उक्त मत द्विवेदी जी का था।

'हे कविते!' कविता में आचार्य की 'कविता' की व्याख्या समाविष्ट है। इस कविता में सबसे प्रारम्भ में द्विवेदीजी ने 'कविता' का आवाहन इन शब्दों में किया है—

सुरम्यरूपे ! रसराशि-रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा—
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?

'रूप' और 'रस' तथा 'वर्णाभरण' और 'अलौकिक आनन्द' शब्द अर्थ-व्यंजक हैं। 'रस' से ही 'अलौकिक आनन्द' की साधना होती है और 'वर्णाभरण' से ही 'रूप' की रचना। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आचार्य के मत में 'रस' कविता का यह अन्तरंग ('रंग') है और विचित्र 'वर्णाभरण' उसका बहिरंग ('रूप') है।

इसी मत की व्याख्या में आचार्य ने 'मनोहारि मनोज्ञता', 'छटा' और 'कमनीयता' का भी उल्लेख किया है—

कहाँ मनोहारि मनोज्ञता गई ?
कहाँ छटा क्षीण हुई नई नई ?
कहीं न तेरी कमनीयता रही,
बता तुही तू किस लोक को गई ?

इसके पश्चात कालिदास, श्रीहर्ष, भवभूति और सूरदास से उसका सम्बन्ध दिखाते हुए आचार्य ने कहा कि अब तू विलुप्त सी हो गई है ! हां, फिरंग

*तैस्तैरलंकृति शतैरवतंसितोऽपि
रूढ़ोमहत्यपि पदे धृतसौष्ठवोपि
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं—
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः।
—'श्रीकण्ठ-चरित'

देश में कुछ काल के लिए तेरा पुनर्जन्म हुआ और पिछले दिनों महाराष्ट्र और बंग देश में भी तेरा विकास हुआ है। पर अब तू अदृश्य है।

कविता का स्वरूप उस काल के हिन्दी कवि भूले हुए थे। वह रसात्मिका है—यह भी वे नहीं समझ पाये थे !:

अभी हमें ज्ञात यही नहीं हुआ,
रही किमाकारक तू रसात्मिके !
स्वरूप ही का जब ज्ञान है नहीं,
विभूषणों की तब क्या कहैं कथा ?

स्पष्ट है कि आचार्य 'रस' को ही कविता की आत्मा मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' ही उनके लिए काव्य का श्रेष्ठ लक्षण है। जगन्नाथ पण्डितराज के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं' को भी वे उचित मानते हैं यह 'रम्यरूपता' और 'सुरम्यरूपे' से ध्वनित होता है। वस्तुतः विश्वनाथ और जगन्नाथ दोनों आचार्यों के लक्षणों में मौलिक भेद नहीं है—अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। 'रमणीय अर्थ' ही रस सृष्टि करने में समर्थ है। इसलिए 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः' और 'रसात्मकं वाक्यं' एक ही वस्तु हैं।

अभी तक रीति-युगीन सामन्तवादी कविता की कला-परिपाटी के अवशेष विद्यमान थे। कविता का कलेवर अन्त्यानुप्रास (तुकान्त), यमक आदि के शब्द-शिल्प से सजाया जाता था और समस्या-पूरक कवि-पद प्राप्त कर रहे थे। कविता की आत्मा तो उससे दबी जा रही थी—

(१) तुकान्त ही में कवितान्त है यही,
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
(२) कवीश कोई यमकच्छटामयी......
(३) सदा समस्या सबको नई नई.......
(४) कहीं कहीं छन्द; कहीं सुचित्रता,
कहीं अनुप्रास विशेष में तुझे।
सुजान ढूँढैं अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्य कले ! वहाँ कहाँ ?

ऐसी कविता तो जीव-विहीन ही होगी—

बताइए जीव-विहीन देह से,
सजीव की सुन्दरि क्या समानता ?

अन्त में आचार्य ने कविता क्या है ?—इसका निष्कर्ष रूप में इंगित किया है—

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे !
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है;
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही।

आचार्य विश्वनाथ और जगन्नाथ के मतों का समन्वय द्विवेदीजी के इस काव्य-लक्षण में है। शब्द में जो रमणीय (रम्य) अर्थ है, वही रस की अनुभूति कराता है; इस प्रक्रिया को हृदयंगम करते हुए ही आचार्य ने 'कवि-कर्त्तव्य' (लेख) में 'अर्थ-सौरस्य ही कविता का जीव है' का सिद्धान्त-सूत्र दिया था ।

इस अर्थ-विधान को हम नई दिशा तो नहीं कह सकते, नई व्याख्या अवश्य कह सकते हैं। भरतमुनि, धनञ्जय और विश्वनाथ के अनुसार 'रस' काव्य की आत्मा है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं। भामह, दण्डी उद्भट और रुद्रट आदि के मत में 'अलंकार' और वामन के मत में 'रीति' काव्य की आत्मा हुई, कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को 'काव्य-जीवित्त' बताया था और आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा की संज्ञा दी थी। आचार्य द्विवेदी ने 'अर्थ-सौरस्य' ही कविता का जीव है—कहकर शृंखला में एक कड़ी जोड़ दी।

अर्थ-सौरस्य की प्रक्रिया

द्विवेदी जी की नवीनता वस्तुतः 'अर्थ-सौरस्य' की व्याख्या में थी। अर्थ-सौरस्य की प्रक्रिया का उन्होंने निरूपण किया था—

"कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए; ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयम् विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयम् अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके

अन्तःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत तथा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है। कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से जब इस प्रकार निकट सम्बन्ध हो जाता है तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता को पढ़कर पढ़नेवालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।"[१]

इसे हमने 'कवि का वर्ण्य-विषय से तादात्म्य' या 'भाव-तादात्म्य' कहा है।

प्रक्रिया का दूसरा अंश है—

"कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। विषयों का तादात्म्य करते हुए धारा-प्रवाह से जो कुछ टेढ़ा या सीधा उस समय मुख से निकले उसे ही रहने देना चाहिए। बलात् किसी अर्थ को लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जावे उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।"[१]

इसे हमने 'सहज स्फुरित अभिव्यक्ति' कहा है।

यह द्रष्टव्य है कि ऐसे ही शब्दों में अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने भी कविता की प्रक्रिया की व्याख्या की थी। उसने दो शब्दों से इसका संकेत किया था[२] तीसरा अधिक स्थूल उपाय उन्होंने बताया था—'अर्थगौरव-पूर्ण पदावली' की योजना।

यह स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी पर यह अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों की रस-पद्धति का प्रभाव था जिससे उन्होंने सहज स्वाभाविक प्रक्रिया स्पष्ट की।

अर्थ-सौरस्य की साधना के लिए आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' में विविध साधन सुलभ किये गये। प्रारम्भ में संस्कृत की चमत्कारात्मक मुक्तक कविताएँ प्रस्तुत की गईं और उनका अर्थानुशीलन कराया गया। उनके द्वारा हिन्दी के कवियों में भाव-वैचित्र्य की रुचि प्रादुर्भूति हुई। 'अन्योक्तिकाव्य' और 'सूक्तिकाव्य' का पुनरुत्थान हिन्दी में इसी से हुआ।

---

१ 'कवि-कर्तव्य'

२ Spontaneous overflow of powerful emotions.

परन्तु इस पद्धति से अर्थ-गौरव की सिद्धि से अधिक वाग्विलास की वृद्धि की आशंका हो सकती थी। द्विवेदीजी जानते थे कि कविता का उत्कर्ष इसमें नहीं हो सकता। उन्होंने सबसे ऊँचा स्थान भाव-माधुर्य या 'रस' को ही दिया है।

इसके लिए उन्होंने अन्य कई प्रेरणा-स्रोतों की ओर इंगित करते हुए कवियों को मधुप बनने का आदेश दिया था—

इंग्लिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है।
अति विस्तृत जलधि समान देह धारी है।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है।
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है।
इन दोनों में से अर्थरत्न ले लीजै।
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै।
(सरस्वती, फ़रवरी, १६०५)

अर्थ-रत्न के संचयन के लिए उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत को काव्य-निधि की ओर इंगित किया है।

प्रारम्भ काल में अंग्रेजी कवियों की छोटी-छोटी मुक्तक (स्फुट) कविताओं का रूपान्तर हुआ—जिनका अनुशीलन 'विषय-विधान' के अन्तर्गत किया गया है। इन सबमें अग्रगण्य स्थान श्रीधर पाठक के 'एकांत-वासी योगी' और 'श्रान्त पथिक' अनुवादों को मिल चुका था। इन अनुवादों के द्वारा हिन्दी के कवियों को अंग्रेजी के कवियों के भाव-समुद्र में निमग्न होने का अवसर मिला और उन्होंने अपनी भाव-व्यंजना के लिए क्षमता भी संचित की।

इसी प्रकार संस्कृत के श्रेष्ठ-सुन्दर प्रकृति-वर्णन भी संस्कृतज्ञ कवियों के द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत किये गये। इनसे हिंन्दी कवि के सामने प्रकृति-वर्णन की विविध शैलियाँ प्रस्तुत हुईं।

एक और दिशा थी जिधर कविगण देख सकते थे। वह थी वंग तथा महाराष्ट्रीय (मराठी) भाषा की कविता। आचार्य द्विवेदीजी ने कविता के उत्कर्ष का उल्लेख करते समय सदैव बंगला आदि दूसरी देशभाषाओं की

काव्य-समृद्धि की ओर ध्यान दिलाया है। वंग-कवि नवीनचन्द्र सेन की स्तुति में आचार्यश्री ने लिखा था—

'ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक आध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रान्तों में भी पैदा करें, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी दीना-हीना और क्षीण-कलेवरा हिन्दी है।'

मैथिलीशरण गुप्त ने इसी प्रेरणा से उनके 'पलाशिर युद्ध' और माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनादवध' महाकाव्य और 'व्रजांगना' काव्य का हिन्दी काव्यावतरण करके हिन्दी कविता को समृद्धि दी तथा उस कोटि तक कविता को उठने के लिए एक मान-दण्ड स्थिर किया।

इसी बंगभूमि में उत्पन्न वाणी के वरेण्य पुत्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जब 'गीताञ्जलि' पर विश्व-सम्मान मिला तो उसके अनेक गीतों का हिन्दी में अनुवाद हुआ और हिन्दी कविता की धारा उसकी भक्तिपरक और अध्यात्मवादी भावना से अभिभूत हुई।

इन सब अनुवाद-कार्यों का जो लाभ हिन्दी कविता को मिला, वह शब्दों में नहीं तोला जा सकता। अंग्रेजी, संस्कृत और बँगला से समृद्ध साहित्य दरिद्र हिन्दी को क्या-क्या नहीं दे सकते थे? संस्कृत काव्य के अनुशीलन और अनुकरण से हिन्दी-कविता में सूक्ति-साहित्य की सृष्टि हुई, अन्योक्तियों का क्रमिक विकास ही प्रतीकात्मकऔर संकेतात्मक कविता में हुआ। वंग-साहित्य और विशेषतया 'गीताञ्जलि' की चिन्ता-धारा हिन्दी में रहस्य-का 'प्रचार' करने में प्रेरक शक्ति बनी। संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला और दूसरे साहित्यों की भाव-व्यञ्जना हिन्दी के नवीन कवि ने सीखी। नूतन छन्दों, नूतन भावों, नूतन शब्दों और नूतन अर्थों का आगम हिन्दी कविता में हुआ; शब्द-सम्पत्ति बढ़ी, नयी भावना-धाराएँ, नयी चित्र रेखाएँ, नयी प्रवृत्तियाँ तत्कालीन हिन्दी कविता को मिलीं और वह श्री-सम्पन्न हो गई।

: ४ :

कविता का क्रम-विकास

कविता के कोटि-क्रम से किसी काल की काव्य-निधि का मूल्याङ्कन किया जा सकता है। द्विवेदी काल में हिन्दी कविता ने, अपने नये माध्यम खड़ी बोली में, जो अर्थ-साधना की उसमें कविता के चारों कोटि-क्रम और अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। आगे के पृष्ठों में उन्हीं का निरूपण है।

क: चमत्कारात्मक कोटि : 'सूक्ति काव्य'

द्विवेदी जी 'सरस्वती' में 'विनोद और आख्यायिका' तथा 'मनोरंजक श्लोक' स्तम्भों द्वारा सामयिक पाठकों, कवियों और काव्यरसिकों को प्रेरणात्मक मानसिक भोजन देते थे। 'मनोरंजन' के साथ साथ इनसे कवियों को प्रेरणा होती थी। 'भोज-प्रबन्ध' की

'निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः।'

सूक्ति के समानान्तर रघुनाथराव पेशवा की स्तुति में लिखित पद्माकर का कवित्त :

'सम्पति सुमेर की कुबेर की जौ पावै कहूँ
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पद्माकर' सु हेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितर विचारै ना।
गञ्ज गज बकस महीप रघुनाथराउ
याही गज धोखे कहूं काऊ देइ डारै ना।
याते गौरि गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना।'

उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा था—

'भाषा के अनेक कवियों ने संस्कृत के उत्तमोत्तम श्लोकों का आश्रय लेकर भाषा में कविता की है। पद्माकर ऐसे प्रसिद्ध कवि ने ऐसा करने में जब कोई दोष नहीं समझा, तब यदि आजकल

के कवि प्राचीन संस्कृत पद्यों की छाया अथवा उनका भाव लेकर हिन्दी में कविता करें तो वे क्षमा-पात्र हैं। पद्माकर के पद्य का भाव यद्यपि पुराना है तथापि कहने की प्रणाली और शब्दों की यथास्थान स्थापना प्रशंसनीय है।"×

आचार्य द्विवेदी स्वयं सूक्तियों के रसिक थे और अपनी नई कविता में भी सूक्ति की निधि स्थापित होते देखना चाहते थे। वे संस्कृत की सूक्ति

"काव्यालङ्करणज्ञमेव कविता कान्ता वृणीते स्वयं"

—'कविता कान्ता काव्यालंकार के ज्ञाता को ही वरण करती है'—के समर्थक थे। 'सरस्वती' में अपने सम्पादन काल से ही उन्होंने संस्कृत काव्यों की सूक्तियों के संचयन का द्वार खोला। संस्कृत काव्यों में राशि-राशि चमत्कारात्मक मनोरंजक छन्द बिखरे पड़े हैं; उनका चयन और अनुशीलन पहिले द्विवेदी जी ने किया। फिर तो श्री पद्मसिंह शर्मा, गिरिधर शर्मा, रामजी लाल शर्मा, ज्वालादत्त शर्मा, भीमसेन शर्मा, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, हरिशंकर मिश्र, किशोरीदत्त, सैयद अमीर अली, शिवशंकर भट्ट, भगवतीप्रसाद भट्ट, नित्यानन्द शास्त्री, श्यामनाथ शर्मा, धनुर्धर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि कवियों तथा लेखकों ने भी इसमें हाथ बँटाया। माघ और मंखक, भोज और भारवि, कालिदास और शूद्रक जैसे रससिद्ध कवियों की सूक्ति-मुक्ताएँ संस्कृत साहित्य-रत्नाकर में से निकाली गईं। इस प्रकार वरिष्ठ काव्य की चमत्कारपूर्ण उक्तियों की विपुल राशि प्रस्तुत हो गई।

द्विवेदी जी ने सूक्ति-काव्य के प्रति अपने समय के कवियों की अभिरुचि जाग्रत करने के लिए एक उपाय और अपनाया। उन्होंने 'सरस्वती' (नवम्बर ३) में रघुवंश की मल्लिनाथीय टीका के मंगलाचरण

अरण्यकं गृहस्थानं, श्वसुरौ यद्रजकणाः।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं, तस्मै रामाय ते नमः॥

का अर्थ पाठकों से पूछा और एक स्पर्द्धा-भावना जाग्रत की। रुचि-संस्कार करने का यह नूतन प्रयोग था। द्विवेदी जी चाहते थे कि हिन्दी के कवि-लेखक संस्कृत काव्यों से प्रेरणा लें। संस्कृत और संस्कृत कवियों के ही नहीं, संस्कृत

×सरस्वती : फरवरी-मार्च १९०३ ई०

और हिन्दी-कवियों के भी भाव-साम्य वाले छन्द प्रस्तुत किये गये। इस प्रकार संस्कृत काव्यों के अध्ययन-अनुशीलन को प्रोत्तेजन मिला। द्विवेदी जी का यह संचयन-सन्तुलन कार्य सहयोगी कवि और काव्यमर्मज्ञ विद्वान भी करने लगे। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के दोहों की चमत्कारप्रधान उक्तियों के उद्गम (संस्कृत काव्यों में) खोजे और फ़ारसी के समानान्तर शेर प्रस्तुत किए। इस प्रकार तुलनात्मक रसास्वादन का मार्ग खुला और उसके पथिक भी प्रस्तुत हुए।

इस प्रकार के भाव-संस्कार का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के कवि भाव-वैचित्र्य और वाग्वैचित्र्य के लिए अपने प्राक्तन वरिष्ठ काव्यों से प्रेरणा पाने लगे। यह स्वीकार करना चाहिए कि प्राक्तन प्रतिभाशाली कवियों की ऐसी सूक्ति-कविता के रसास्वादन और अनुकरण से ही हिन्दी में सूक्ति-काव्य और अन्योक्ति काव्य का समावेश हुआ और अन्त में अर्थ-गम्भीरता का गुण प्रस्फुटित हुआ।

चमत्कारात्मक काव्य दो शाखाओं में देखा जा सकता है।

(१) अन्योक्ति

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने (ब्रजभाषा में) 'मृत्युञ्जय' शीर्ष देकर अपने दुख को भूलने के लिए काल-करालता-वर्णन और तत्त्वविचारण के उद्देश्य से जो एक लम्बी कविता लिखी, उसे 'सरस्वती' (अप्रैल, १९०४) में अभिनन्दन के साथ द्विवेदी जी ने प्रकाशित किया था। उस कविता में न जाने कितनी ही अन्योक्तियाँ समाविष्ट थीं। 'चातक सन्ताप', 'अविवेकी मेघ' आदि अन्योक्तियाँ तो पहिले ही प्रकट हो चुकी थीं। अन्योक्ति-काव्य की यह प्रेरणा संस्कृत काव्य की ही थी। संस्कृत में 'भामिनी-विलास' में सुन्दर अन्योक्तियाँ हैं।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने 'अन्योक्ति दशक', 'अन्योक्ति पंचक' (भ्रमर, कोकिल, हंस, हाथी, काक और मलयाचल, तड़ाग, माली, मेघ) पर सुन्दर अन्योक्तियाँ संस्कृत काव्य से ही अनुवादित करके इस परम्परा का सूत्रपात खड़ी बोली में भी किया। प्रसिद्ध संस्कृत-अन्योक्ति—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।

इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।

का अनुवाद द्रष्टव्य है :

बीते निशा समय भोर अवश्य होगा;
आदित्य देख बन पंकज का खिलेगा।
यों कोश भीतर मधुव्रत सोचता था;
कि प्रात मत्त गज ने नलिनी उखाड़ी।[१]

पोद्दार जी ने यह परिपाटी आगे भी चलाई।

'सरस्वती' में प्रश्रय मिलने से संस्कृत-काव्य-मर्मज्ञ कृती कवियों की एक पंक्ति योग-दान के लिए प्रस्तुत होगई। इस पंक्ति में थे श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', और पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी। इन सबने संस्कृत काव्य की राशि-राशि मनोरम अन्योक्तियों को हिन्दी में ढाल दिया। निरन्तर प्राक्तन संस्कृत अन्योक्तियों के भावसमुद्र में निमग्न रहने से मौलिक अन्योक्ति-मुक्ताएँ भी कवियों के हाथ लगीं। दीनदयाल गिरि जिस प्रकार रीति-युग में अन्योक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार वर्तमान काल में सैयद अमीर अली 'मीर' अन्योक्तियों के लिए ही प्रसिद्ध हुए। कई विषयों (या पदार्थों) पर तो कई कवियों ने अन्योक्तियां लिखीं। इनका यदि संचयन किया जा सके तो एक सुन्दर पुस्तिका प्रस्तुत हो सकती है।

कवियों ने स्थूल और सूक्ष्म, पृथ्वी से लेकर आकाश तक के विषयों, तृण से लेकर हिमालय तक के पदार्थों (जैसे तृण, कनेर, केतकी, कदली, चंदन, आम, खजूर, खटमल, घुन, भ्रमर, पतंग, काक, वक, कीर, कुक्कुट, मैना, कोकिल, चातक, चक्रवाक, बिल्ली, मूषक, मृग, हाथी, सिंह, पथिक, माली, मेघ, वर्षा गंगा, गंगाजल, कर्मनाशा, तड़ाग, समुद्र, वसंत, मलयानिल, सन्ध्या, हिमालय आदि) पर अन्योक्तियों की सृष्टि की और भाव-शिल्प दिखाया। प्रतिभावान् कवि ही इस शिल्प में सफल हो सके। मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित शैली की अन्योक्तियाँ मौलिक सूक्तियों में परिगणित होंगी, यद्यपि इनमें संस्कृत की मुद्रा अक्षुण्ण है :

---

१ 'अन्योक्तिदशक' (सरस्वती, सितम्बर, ०३)

पतंग

तू जान के भी अनल प्रदीप
पतङ्ग ! जाता उसके समीप।
अहो नहीं है इसमें अशुद्धि;
'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः ।"

खजूर

हुए ऊंचे तो क्या यदि सुमन छायादिक नहीं,
कहो कैसे फैले फिर यश तुम्हारा सब कहीं ?
सुनो हे खजूर ! स्फुट मत नहीं है यह नया—
"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्ग न च वयः"

—'अन्योक्ति पुष्पावली', मैथिलीशरण गुप्त : सरस्वती, दिसम्बर १९०७

"कलंकी को एड्रेस" देते हुए पं० गिरिधर शर्मा ने श्लेष के चमत्कार से अपने चार चरणों में चौगुना सौंदर्य भर दिया—

रे दोषाकर ! पश्चिम-बुद्धि !
कैसे होगी तेरी शुद्धि ?
द्विजगण को कोने बैठाया;
जड़ दिवान्ध को पास बुलाया !

('सरस्वती फरवरी १९०८)

[कलंकी (शशलाञ्छन) चन्द्रमा का दोषाकर (दोषा-कर और दोष-आकर) होना उसके द्विजगण (ब्राह्मणों तथा पक्षियों) को कोने में बैठाने और दिवान्ध (उल्लू और मूर्ख) को पास बुलाने से सिद्ध किया है]

एक अल्पप्रसिद्ध कवि महेन्दुलाल गर्ग ने 'ब्याहा भला कि क्वारा' कविता के द्वारा दो स्तंभों के चरणों को पृथक पृथक पढ़ने की प्रणाली द्वारा अर्थ-चमत्कार की सृष्टि की थी। वह कविता यों है—

मेरे मन यह भावना, पत्नी करना यार !
उमर अकेले काटना, होना सचमुच ख्वार।
बड़ा हर्ष यह रात दिन, निज नारी का ध्यान।
जग में रहना नारि बिन महा कष्टकर जान।
भामिनि-चिन्ता चित्त को है अति ही सुखदाय।
राखे कभी न मित्र सो, जो क्वारा रह जाय।

ब्रह्मचर्य जो साधता, बहुत बुरा दरसाय।
मेरे मन को भावता, ब्याहा जो बन जाय।

सरस्वती जून, १९०३।

उपर्युक्त कविता के प्रथम और द्वितीय स्तंभों को ऊपर से नीचे पृथक पृथक् पढ़कर आप भी चमत्कार का आनंद ले सकते हैं।

(२) सूक्ति और सुभाषित

धीरे-धीरे सुभाषितों और सूक्तियों की भी रचना प्रतिभाशालियों ने की। पं० रामचरित उपाध्याय ने अपनी प्रतिभा से आर्या वृत्त में अच्छी अच्छी सूक्तियाँ लिखी थीं, जिनमें मौलिकता थी—

१. संकट में भी सज्जन स्वभाव अपना कभी नहीं तजता।
अर्धग्रसित सुधाकर सुखकर होता कुमुद-वन को।
२. कोटिध्वज भी दुर्जन काम किसी के कभी न आता है।
जग में क्या रत्नाकर प्यास किसी की बुझाता है?

(सज्जन और दुर्जन : सरस्वती' : सितम्बर १९०८)

मधुरता भी थी—

पर की कविता सुनकर सच्चा सुहृदय प्रसन्न होता है।
वारिद ध्वनि सुनकर क्यों रसिक कलापी न नाचेगी॥

और अर्थ-गौरव भी था—

स्तुति से, गुण से, रस से, अलंकृता भी तथा अलंकृति से,
कविता हो या वनिता दोनों सबको लुभाती हैं।

(कवि और कविता : सरस्वती : जुलाई १९०९)

अन्योक्तियों, सूक्तियों अथवा सुभाषितों की यह धारा क्षीण रूप में सन् १९१६ तक चलती रही है—सूर्यग्रहण पर अन्योक्ति (शंकर, सन् ११); उलूक; रेल का सिग्नल और दावात पर अन्योक्ति (गौरचरण गोस्वामी: सन् १३) अन्योक्ति अष्टक (मधुर : मई १३)। सैयद अमीर अली मीर की अन्योक्तियाँ (मैना, तोता, बिल्ली, बगला, अलि) प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना भी सन् १३ में हुई थी (मर्यादा जून जुलाई १९१३)। यह धारा सूक्तियों में विलीन हो गई है।

भाव-सरोवर में से ली हुई कविता की इन अंजलियों में अनूठे प्रकार का रस होता था :

कहा बाण ने—काम दूर तक मैं ही दूँगा !
बोला चाप—परन्तु सहायक मैं जब हूँगा !
प्रत्यंचा ने कहा— कहो सब अपनी अपनी !
कर बोला—है मुझे मौन माला ही जपनी !

—मैथिलीशरण गुप्त

कवींद्र रवींद्र ने अपनी 'कणिका' (अंग्रेज़ी भाषांतर Stray Birds) में ऐसे ही छोटे-छोटे बिन्दु दिये हैं जिनमें गागर जितना रस है। इनके भी कुछ अनुवाद श्री पारसनाथ सिंह ने दिये—

वंशी बोली—वश मेरा क्या ? मैं करती हूँ शोर,
जभी मुझे बाहर से मिलता किसी फूँक का जोर !
कहा फूंक ने पवन मात्र मैं; मेरा ही है ध्यान,
किन्तु बजाता जो जन वंशी, उसका किसको ज्ञान ?

ये सूक्तियाँ भी धीरे धीरे भाव की उस सीमा-रेखा पर पहुँच गई थीं, जहाँ ये चमत्कार को छोड़कर अर्थ-गौरव के रस में डूबने लगती हैं।

कर्तव्यग्रहण, भक्तिभाजन, उच्च का प्रयोजन, कृतघ्नता, गली में पड़ा हुआ रत्न आदि आदि अनेक शीर्षकों से ये अनुवादित-मौलिक सूक्तियाँ 'सरस्वती' और 'मर्यादा' के पृष्ठों में छपती रहीं। 'हरिऔध', गोपाल शरणसिंह, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि कवियों ने इस कला में सहयोग दिया।

उदाहरण के लिए दो सूक्तियाँ उद्धरणीय हैं। एक में मौलिकता है, दूसरे में अनुकरण—

(१)

मन ! रमा रमणी रमणीयता
मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
रसिकता-सिकता सम है उसे।

(विधि-विडम्बना : रामचरित उपाध्याय)

(२)

नहिं करते आरम्भ विघ्न-भय से अधम,
विघ्न हुए मध्यम जन हैं मुख मोड़ते।
बाधा-विघ्न सहस्रों सम्मुख आ पड़ें,
उत्तम जन आरम्भ कर नहीं छोड़ते।

(आरम्भशूरता : हरिऔध)

जो वस्तुत: एक संस्कृत सूक्त की छाया है :

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः
विघ्नैः पुनर्पुनरपिप्रतिहन्यमाना,
प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति।

इस काल के अनेक अन्योक्ति-संकलन प्रकाशित हुए हैं।

इन अन्योक्तियों और सूक्तियों का काव्य में आलंकारिक दृष्टि से अपना निराला स्थान है। सूक्ति और सुभाषित की कोटि में पहुँचकर तो कविता की पंक्तियाँ काव्य-विनोदी मानस के लिए सदैव आकर्षण बनी रहेंगी।

ख : वर्णनात्मक कोटि : 'इतिवृत्तात्मक काव्य'

सूक्ति-काव्य की सृष्टि द्वारा यह नई कविता उस अवस्था में पहुँच जाती जब वह वाग्विलास मात्र रह जाती है परन्तु जो कवि रीतिकालीन कविता के शब्द-शिल्प से ऊब चुका हो वह इस लचमण-रेखा में कैसे घिरा रह सकता था ? जीवन का कठोर आग्रह था। युग की जीवित समस्यायें अपनी अपनी प्रतिक्रिया कवि-मानस पर कर रही थीं। जीवन के अनुभव ही कवियों के लिए एक मात्र वर्ण्य रह गये क्योंकि और सभी द्वार बन्द कर दिये गये।

आचार्य द्विवेदी को यह भविष्य विदित था कि नई (अप्रयुक्त) भाषा में उच्च कोटि की कविता की सृष्टि करना एक दुष्कर कार्य है। बंगला तथा मराठी में सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य लिखे जा रहे थे परन्तु नई हिन्दी के पास क्या था ?

'मेघनादवध' और 'यशवन्तराव महाकाव्य' की सृष्टि करने की प्रतिभा किसी इन्द्रजाल के द्वारा तो नहीं प्राप्त की जा सकती। उसके लिए एक लम्बी साधना और उच्च प्रतिभा की अपेक्षा होती है; इसलिए उन्होंने नवशिक्षितों के लिए यह परामर्श दिया 'उनको ईश्वर की निःसीम सृष्टि में से छोटे छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी छोटी कविता करनी चाहिए।'*

भावुकता कविता का आधार है और भावुक मन पर होनेवाली प्रतिक्रिया ही कविता है। सृष्टि के प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म, स्वगत, परगत, परोक्ष, सामाजिक, राजनैतिक संघटना (Phenomenon) के प्रति संवेदनशील होकर मन के उद्गार को छन्द में व्यक्त करना कविता की सृष्टि करने का उपक्रम है।

सम्पादकीय आसन्दी पर प्रतिष्ठित होते ही द्विवेदी जी ने 'सरस्वती का विनय' लिखकर वर्णनात्मक कोटि की कविता को प्रशस्ति दी। उन्होंने यह 'सरस्वती का विनय' क्या लिखा—

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों की बहुभाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर हेतु मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय! हाय! आजन्म दुःख सहती आती हूँ।
पड़ता कहीं अकाल वर्ष भर जो जगदीश्वर!
कितना दारुण दुःख लोग पाते हैं भू पर।
तीन वर्ष से कष्ट उसी विध मैं सहती हूँ,
शपथ तुम्हारी नाथ! सत्य मैं यह कहती हूँ।

(सरस्वती : जनवरी १९०३)

मानो उन्होंने छन्द को भाव-प्रकाशन का एक सहज माध्यम बनाने का पदार्थ-पाठ कवियों को दिया।

द्विवेदी जी के लिए कविता बायें हाथ का खेल हो गई थी। अपने आदेश-निर्देश भी वे पद्य के ही माध्यम से दिया करते थे—

इंग्लिश का ग्रंथ-समूह बहुत भारी है,
अति विस्तृत जलधि समान देह धारी है।

*'कवि-कर्त्तव्य' : महावीर प्रसाद द्विवेदी

संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है।
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजै,
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेम युत कीजै।

अपने तर्क-क्रम को भी वे छन्दों में भरते थे—

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई!
भाषा है उसी प्रकार महा-मुद-दायी।
माता से पूज्य विशेष देश-भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है।

('ग्रन्थकारों से विनय'. सरस्वती : फरवरी, १९०५)

उपर्युक्त अवतरण का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी के मन को यह विचार सदैव अभिभूत किये रहता था कि हिन्दी काव्य-निधि संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगला, मराठी किसी की निधि से न्यून न रहे। इसलिए उन्होंने कवियों को छन्द लिखते रहने की प्रेरणा दी थी क्योंकि अभ्यास से भी सुन्दर कविता हो सकती है।*

विषय के लिए कवियों के सामने तीन प्रेरणायें थीं—

(१) वस्तु-जीवन की प्रतिक्रिया
(२) अंग्रेजी कविता का सम्पर्क
(३) संस्कृत काव्य का अनुसरण

(१) वस्तु-जीवन की प्रतिक्रिया

वस्तु-जीवन का प्रत्यक्ष प्रभाव कविता की इतिवृत्तात्मकता के रूप में घटित हुआ था। हिन्दी का कवि अब केवल कल्पना-लोक में या स्वप्न-देश में विहार और विचरण नहीं करता था। वह जिस जीवन में जीता था उस जीवन की समस्याओं को अपने छन्दों में बाँधता था।

साहित्य-संसार में नागरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का आन्दोलन था। समाज के दूसरे क्षेत्रों में अनीति और जड़ता के नाश और अछूतोद्धार का, आर्थिक

* न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
— काव्यादर्श

जीवन में विदेशी-बहिष्कार और स्वदेशी-स्वीकार का आन्दोलन गतिवान् था, और राजनैतिक जीवन में स्वशासन या स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता की साधना हो रही थी।

हिन्दी के तत्कालीन सभी कवि इन आन्दोलनों के साथ थे। वे जीवन के इन जीवंत प्रश्नों को कविता में सुनते और उत्तरित करते थे। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने स्वदेशी-आन्दोलन पर कविता लिखी थी—उन्हीं के निर्देशन में कवियों ने भी उनका अनुसरण किया। सामाजिक विषयों पर कवियों के कुछ विचार होते थे उन्हे वे कविता में भरने के लिए आतुर रहा करते थे।

'सरस्वती' के एक अच्छे कवि ने आधुनिक सभ्यता की भर्त्सना करते हुए लिखा था—

आते ही तू जन-समाज पर निज अधिकार जमाती है,
सारे जग की सभ्य जाति को नूतन नाच नचाती है।
झूठ बुलाती कसम खिलाती और अपेय पिलाती है,
कभी हँसाती, कभी रुलाती, नाना खेल खिलाती है।
('सभ्यता': सत्यशरण रतूड़ी : सरस्वती: जनवरी ०५)

स्थूल ही नहीं, क्रोध, प्रणय, ईर्ष्या जैसे सूक्ष्म मनोभावों पर भी कवियों ने वर्णनात्मक उक्तियाँ कीं—

अत्युग्र कण्ठरव कर्कश तू कराता,
सारा शरीर कदलीदलवत् कँपाता।
तू ही कुवाच्य नर के मुख से कहाता।
तू ही अनेक विकृताऽकृति है बनाता।
(क्रोधाष्टक: मै० श० गुप्त : सरस्वती : नवम्बर १९०५)

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी ऐसी कवितायें लिखीं जैसे—'धीर नर' 'मनुष्यते' और 'अकृतज्ञता' (सनेही) 'स्वार्थ सप्तक' और 'मौन महिमा' (सत्कवि दास), 'दासत्व' (मन्नन द्विवेदी), 'परोपकार' (रामचरित उपाध्याय), 'दुराग्रह' (केशवप्रसाद मिश्र) 'क्षमा' (देवीप्रसाद गुप्त) आदि-आदि। इनमें आदर्श की व्यञ्जना थी।

इस काल के सभी कवि जीवन के अनुभवों की वायु से अपने मानस में जीवन की गतिविधि और परिस्थितियों के अनुसार उच्छ्वास-तरंगें उठाते रहे हैं। हरिऔधजी ने चौपदों और मुहावरोंवाली भाषा में अपने ही समाज के, व्यक्ति के, अन्तरतम के रहस्य खोले।

जब राष्ट्र की स्वतन्त्रता का आन्दोलन चलता है तो हमारा कवि 'दासता' का निरूपण करने लगता है—

मान, लज्जा, कोप ये रहते न उसके पास हैं।
हैं पड़े जिसके गले में दासता के पाश हैं।

१९१४ में महायुद्ध छिड़ने पर हमारा कवि युद्ध का भीषण चित्र अंकित करने लगता है—

तोपें करती एक ओर संहार दनादन।
एक ओर 'गन' छोड़ रहीं गोलियाँ सनासन।
संगीनों की मार प्राण लेती हैं पल में।
हिल जाता यमराज-हृदय भी इस हलचल में।
मनुज पतंगों की तरह भुनते रण की आग से।
दल के दल हैं काटते निर्भय होकर साग से।

(युद्धः 'सनेही' : सरस्वती : नवम्बर १९१४)

जब हिन्दी भाषा की वृद्धि-समृद्धि की आँधी चलती है तो वह मातृ-भाषा की महत्ता का व्याख्यान करने लगता है—

अखाड़ा इन्द्र का रसना अगर तो है परी हिन्दी।
निवासी हिन्द के हम हैं हमें है सुखकरी हिन्दी।
हरे हम क्यों न होंगे फिर अगर होगी हरी हिन्दी।
विना निज मातृभाषा ज्ञान के कब ज्ञान होता है।
यही है एक कल जिससे कि देशोत्थान होता है।

(मातृभाषा की महत्ता : सनेही : जनवरी १९१५)

और जब सत्याग्रह की ध्वनि राजनैतिक वायुमण्डल में गूँजती है, तो कवि 'सत्य' का मान अतीत और वर्तमान में अंकित करने लगता है—

अवलम्बित था एक सत्य पर ज्ञान हमारा।
विचलित पल भर था न सत्य से ध्यान हमारा॥
और किसी भी तरह नहीं था त्राण हमारा।
जीवन-धन सर्वस्व सत्य था प्राण हमारा॥
निश्छल थे व्यवहार सब कुटिल चाल चलते न थे।
ध्रुव टल जाता किन्तु हम निज प्रण से टलते न थे॥

(सत्य, सरस्वती : जून १९१६)

प्रकृति से भी घटना-व्यापार लेकर उसके उपलक्ष्य से कवि राजनीतिक अनुभूतियों की व्यंजना करता है। अंग्रेज़ी राज्य के बढ़ते हुए अन्याय को देखकर ही ग्रीष्म के विषय में वह कह सकता है--

यदि अन्यायी राज्य महा अन्यायी पावे।
क्यों न वहाँ की प्रजा और भी कष्ट उठावे।
आकर जग को प्रथम ग्रीष्म ने खूब जलाया।
हा! ज्यों ही वह टला क्रूर वारिद गण आया।
सुख साधन जो थे बचे उनको भी घन ने लिया।
अपने काले हृदय का सबको परिचय दे दिया।
(मेघागम : रामचरित उपाध्याय : सरस्वती : जुलाई १९१६)

(२) अंग्रेज़ी साहित्य का सम्पर्क

'इंग्लिश के ग्रन्थ-समूह' में से 'अर्थ-रत्न' ले लेने के लिए सम्पादक आचार्य द्विवेदी ने प्रेरणा दे दी थी अतः कई कवि अंग्रेज़ी की मुक्तक कविताओं के अन्तः सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्हें अपनी भाषा में रूपान्तरित करने लगे। जो कवि मौलिक विषय नहीं ग्रहण करना चाहते थे उनके लिए पूर्वप्रस्तुत आधार मिल गया।

अंग्रेज़ी कविता के अध्ययन और अनुशीलन ने उन्हें यह पाठ दिया कि तुच्छ से तुच्छ वस्तु, प्रसंग, घटना और सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव अथवा विषय को भी कविता का वर्ण्य बनाया जा सकता है।

अंग्रेज़ी के कवि पोप के भावानुकरण पर लिखी हुई पहिली कविता 'स्वर्ग' (सरस्वती जून १९०३) के पश्चात् तो ग्रे (एलेजी), वर्ड्सवर्थ (दि एफेक्शन ऑव मार्गरेट), पोप (हैपिनेस ऑव रिटायरमैंट), जेम्स टेलर (माई मदर), बायरन (फेयर दी वैल; एन्ड दाउ आर्ट डैड ऐज़ यंग एन्ड फेयर तथा वुमन), लॉंगफैलो (साम ऑव लाइफ़), स्काट (लव ऑव कण्ट्री), सदे (स्लीप; स्कॉलर), शेक्सपियर (फ्रेंडशिप) आदि-आदि कवि अब हिन्दी-सरस्वती में चमकने लगे। इन अनुवादित रचनाओं में खड़ी बोली का उदीयमान सौष्ठव दिखाई देता है। इन्हें केवल शाब्दिक अनुवाद नहीं कह सकते। इनमें पर्याप्त भाव-स्वतन्त्रता भी है—

(१) माई मदर : मेरी मैया —जेम्स टेलर

बिलख बिलख कर रोता था जब नींद न मुझको आती थी।
आरी निंदिया! आरी निंदिया! कहकर कौन सुलाती थी?
और प्यार से पलने में रख मुझको कौन झुलाती थी?
मेरी मैया! मेरी मैया।[१]

(अनुवादक—जैनेन्द्रकिशोर)

(२) लव ऑव कण्ट्री : स्वदेश-प्रीति, —स्कॉट

होगा नही कहीं भी ऐसा अति दुरात्मा वह प्राणी।
अपनी प्यारी मातृभूमि है जिससे नहीं गई जानी।
"मेरी जननी यही भूमि है इस विचार से जिसका मन।
नहीं उमंगित हुआ वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन।[२]

(अनुवादक—गौरीदत्त वाजपेयी)

प्रारम्भिक वर्षों में तो प्रायः अनुवादित कविताओं की धूम रही परन्तु धीरे-धीरे 'पितृ-वियोग', 'द्वारका' और 'मथुरा' जैसी मौलिक रचनाओं का भी क्रम आया—

कभी कभी कल्पना जगत् का होता हूँ मैं अधिवासी।
भ्रमण किया करता हूँ उसमें आखिर हूँ सत्यानासी।
व्याकुलता ब्यापक होते ही समझे औ समझावे कौन?
कभी अश्रुधारा बहती है कभी बैठ रहता हूँ मौन।

('पितृवियोग' : अनन्तराम पांडेय)

जब इंग्लैंड का कवि (वर्ड्सवर्थ) 'वेस्ट मिन्स्टर ब्रिज पर' कविता लिख सकता था तो हिन्दी का कवि (कन्हैयालाल पोद्दार) 'बम्बई का समुद्रतट' देख कर अपनी कल्पना क्यों न सञ्चरित करता? जब स्कॉटलैंड का कवि (स्कॉट)

---

१ When sleep forsook my open eye;
Who was it sang sweet lullaby;
And rocked me that I should not cry?
My mother.

२ Breathes there the man with soul so dead
Who never to himself hath said
From wandering on a foreign strand
This is my own my native land.

इच्छा न मेरी कुछ भी बनूँ मैं कुबेर का भी जग में कुबेर।
इच्छा मुझे एक यही सदा है नये नये उत्तम ग्रन्थ देखूँ।[1]

क्या इसी की भाँति हिन्दी के कवि मैथिलीशरण गुप्त 'ग्रन्थ-गुण-गान' न करते ?

हे ग्रन्थ, सद्गुरु सदा तुम हो हमारे;
हैं सर्वदा हम ऋणी जग में तुम्हारे।
दे ज्ञान क्योंकि नित मंगलमूलकारी,
हो नित्य नाश करते विपदा हमारी ![2]

'सरस्वती' के प्रारम्भिक अंकों में राशि-राशि ऐसी वर्णन-प्रधान कविताएँ निकलीं।

अंग्रेजी के कवियों ने प्रकृति-सम्बन्धी सुन्दर कविताओं की भी सृष्टि की है। वर्ड्सवर्थ ने 'दि डेफ़ोडिल्स' और 'टु दि डेसी' में, शेली ने 'दि रिकलैक्शन' और 'दि इनविटेशन' में और कीट्स ने 'ब्राइट स्टार' जैसी कविताओं में प्रकृति-सुन्दरी का सन्देश मानव को सुनाया है। अंग्रेजी के कवि (वर्ड्सवर्थ) ने सरोवर की लहरों में नृत्य की आनन्दमय अनुभूति की थी—

सरोवर की वे लहरें निकट
कर रही थीं मधुमय नर्तन
ज्योतिमय उन लहरों से किन्तु
अधिक प्रमुदित था उनका मन ![3]

तो हिन्दी के कवि सत्यशरण रतूड़ी ने नदी-निर्झर के गायन और नर्तन से सम्मोहन पाया है—

सुरीली वीणा सी सरस नदियाँ वादन करें
कभी मीठी मीठी मधुर धुनि से गायन करें,
सदा ही नाचें हैं झरित झरने नाच नवल;
निराली शोभा है विपिन वर की कौतुकमयी।

(शांतिमयी शय्या : सरस्वती : अगस्त, १९०४)

---

१ सरस्वती : फरवरी १९०६। २ सरस्वती : जनवरी १९०७।

३ 'दि डेफोडिल्स' कविता का एक बन्ध (प्रस्तुत लेखक द्वारा रूपांतरित)

The waves beside them danced but they
Outdid the sparkling waves in glee.

(३) संस्कृत-काव्य का अनुसरण

संस्कृत की अक्षय काव्य-राशि से प्रकृति-वर्णन की अनेक शैलियाँ हिन्दी-कवि के लिए अनुकरणीय हो गईं। स्वयं द्विवेदी जी और श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और कन्हैयालाल पोद्दार संस्कृत की प्रकृति-विषयक कविताओं पर मुग्ध थे। प्राक्तन काव्य का वह प्रेम हिन्दी कविताओं में भी नई प्रकृतिपरक कविताओं की रचना में प्रेरक बना।

इन कविताओं के प्रभाव से ही १६०२ की 'सरस्वती' में प्रकाशित वागीश्वर मिश्र की लिखी हुई 'प्रकृति' शीर्षक रचना लीजिए—

> वही इन्द्र का चाप है सप्तरङ्गी
> जहाँ ज्योति के संग बूँदें घनी हैं।
> कुसुंभी, हरा, लाल, नीला, नरङ्गी
> कहीं पीत शोभा कहीं बैंगनी है।

अथवा 'आकाश मण्डल' का एक अवतरण लीजिए—

> फिरी जो आँखें इधर अचानक मयंक बानक बना के आया।
> रहे जो पहिले बने रुपहले उन्हें सुनहली छटा दिखाया।

इससे पहले से और पीछे तक कवि श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने वर्षा-वर्णन, वर्षा का आगमन, हेमन्त, वसन्त आदि जो कविताएँ लिखीं, वे सब ब्रजभाषा की थीं। द्विवेदीजी के सम्पादन-काल से खड़ी बोली में भी प्रकृति-विषयक कविताएँ अधिक लिखी जाने लगीं। प्रारम्भ में इनमें सामान्य इतिवृत्तात्मकता ही देखी गई। 'प्रच्छन्न प्रभाकर'[1] में कवि सूर्य से प्रत्यक्ष बात करने लगता है—

> (१) यदि पृथ्वी से आप भापमय कर लेते हैं,
> न्यायी नृप सम उसे सलिल करके देते हैं।
> (२) मोर, पपीहा, मनुज तरसने जब लगते हैं;
> आप जलद को भेज बरसने तब लगते हैं।

इस प्रकार की उक्तियाँ बाल-मानस का ही मनोरंजन कर सकती हैं।

संस्कृत कवियों का 'ऋतु-वर्णन' प्रसिद्ध है। कालिदास के 'ऋतु-संहार' को सिद्धकवि श्रीधर पाठक ने हिन्दी में अवतरित किया था। उसका एक अवतरण है—

---

१ सरस्वती : अप्रैल, १६०३

अर्जुन साल, कदम्ब, केतकी के कानन कम्पायमान कर,
उनके कुसुमों के सौरभ से होवे गर्भित
ऐसा सुखद समीर मेघ जल-सीकर से होकर शीतलतर
किसके मन को करे नहीं उत्सुक औ' चिन्तित !

('मनोविनोद' : श्रीधर पाठक)

प्रकृति का यह वर्णन सरल है और भावाभिव्यक्ति भी ऋजु है।

प्रकृति-वर्णन द्विवेदीजी की भी प्रिय वस्तु थी। उल्लेखनीय है कि ऋतु के अनुकूल प्रकृतिपरक कविताएँ प्रारम्भ से ही 'सरस्वती' में निरन्तर प्रकाशित होती रही हैं। आलोच्य-काल के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त का प्रथम प्रवेश 'सरस्वती' के मन्दिर में प्रकृति के कवि के रूप में हुआ था। गुप्तजी की वह पहिली कविता है 'हेमन्त'। इसमें गुप्तजी प्रकृति का यथातथ्य चित्रण दे सके हैं—

हुआ हिमाच्छादित सूर्यमण्डल ;
समीर सीरी बहती अखण्डल।
प्रियंगु के पेड़ प्रफुल्ल हो चले ;
हरे-हरे अंकुर खेत में भले।
आनन्द देती न समीर शीत;
हुए सभी हैं उससे विभीत
न चाँदनी मंजुल है सुहाती ;
नदी नदों की लहरी न भाती।[1]

ऋतु का सरल-सीधा वर्णन जैसे छन्दों में बाँध दिया हो।

'महाकवि भारवि का शरद् वर्णन'[2] (गिरिधर शर्मा) अथवा 'महाकवि कालिदास का वसन्त-वर्णन'[3] (मैथिलीशरण गुप्त) जैसे प्रकृति-वर्णन अनुवाद-रूप में इसलिए आते थे कि प्रकृति-वर्णन का एक प्रत्यक्ष पाठ मिलता रहे।

इस प्रकार भाव-प्रकाशन मात्र के लिए कविता माध्यम हो गई। छन्द-मयता का इतना प्रचार हो गया कि 'पाठकों के प्रति पुस्तक की प्रार्थना' भी

---

१ 'सरस्वती' : जनवरी १९०५ २ सरस्वती : अक्टूबर १९०५।
३ सरस्वती : मार्च १९०७

कविता में की जा रही है यहाँ तक कि उपालम्भ का पत्र भी सरस्वती-सम्पादक को छन्द में ही लिखा जाता है—

ये एक बात मम मानस में गड़ी है।
चिन्ता सदैव जिसकी मुझको बड़ी है।
गंभीर भाव अभिलेखन के चितेरे
छापे नहीं बहुत सुन्दर लेख मेरे![1]

(लेखक—एक 'दुष्ट')

छद्म नामों से कई कवि छन्दमयी भाषा में कविता लिखते थे। ऐसे ही 'एक ग्रामीण' ने 'हमारे प्रतिनिधि' के प्रति अपने अभाव-अभियोग पहुँचाये थे—

गरीबों की उन्हें क्यों याद आये ?
न उत्तरदायिता क्यों भूल जाये,
न तो अभिमान से फुरसत उन्हें है
न अपनी शान से फुरसत उन्हें है।
इसी का नाम है क्या देश-सेवा,
भले उन पूर्वजों के नाम-लेवा !

(हमारे प्रतिनिधि : सरस्वती : मार्च १९१४)

इस प्रकार की इतिवृत्तात्मकता रमणीयता से अति दूर ही रही। ऐसी अरमणीयता की ओर संकेत करते हुए द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पं० बालकृष्ण भट्ट को भाषण में कहना पड़ा—"आजकल के पत्रों और मासिक पत्रिकाओं में बहुत-सी इस तरह की कविताएँ छपी हैं, परन्तु अधिकतर उनमें ऐसी हैं जिनको कविता कहना ही कविता की मानो हँसी करना है। हमें तो कविता के गुण इनमें बहुत कम जँचते हैं।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐसी कविताओं को कवि-जन भी कविता या काव्य मानने की भ्रान्ति नहीं करते थे। उस समय के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की १९०९-१० ई० तक की रचनाओं के संकलन का नाम 'पद्य-प्रबन्ध' ही है—'कविता-कलाप' या 'काव्य······' नहीं। कवि ने निवेदन' में स्वयं लिखा—

---

१ दे० 'लेखकों से प्रार्थना' सरस्वती : मार्च १९१५

"कवित्व शक्ति दुष्प्राप्य वस्तु है। मेरा इतना पुण्य नहीं कि मैं कवि हो सकता। इसलिए मेरी पद्य-रचना कविता कहलाने योग्य नहीं—वह पद्य ही है। इसी विचार से इस पुस्तक का नाम 'पद्य-निबन्ध' ही रखना उचित समझा गया।

कविता और पद्य—दोनों में बड़ा अन्तर है। कविता मनोविकारों की सजीव प्रतिमा, अतएव, लोकोत्तरानन्द की जननी है। और पद्य, छन्दोबद्ध वाक्य-नियम-विशेष पर तुला हुआ वर्ण-समूह मात्र है। अस्तु।"

—'पद्य-प्रबन्ध' की भूमिका में कवि।

काव्य के इस आसन पर लगभग ११-१२ ई० तक की कविताओं को नहीं बिठलाया जा सकता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनका कोई महत्त्व ही नहीं है। क्या बालक के 'कल बल वचन तोतरे बोल' का कोई मूल्य ही नहीं है? क्या किसी पुष्परंजित वासन्तिक उपवन में कली का कोई महत्त्व नहीं है? क्या चित्रफलक पर शिशु चित्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में कोई सौंदर्य नहीं है, क्या विपंची पर संगीत छेड़ने के पहले उसके तारों को झनझनाकर स्वर-साधन करने में कोई मधुरिमा नहीं है? और अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि काव्यों की तुलना में इन रचनाओं को पद्य कहना इनका अपमान नहीं है।

द्विवेदीकाल में कवि को जो भाषा दी गई थी वह गद्य की भाषा थी, जो विषय मिले थे वे थे—'चींटी से लेकर हाथी-पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा-पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत', और कविता ऐसी चाही गई थी कि जिसका विषय 'मनोरंजक' और 'उपदेश-जनक' हो। ऐसी परिस्थिति में कविता छन्द-बन्ध की कोटि से अकस्मात् ही ऊंची नहीं उठ सकती थी।

जिन कवियों के पास ऐसी प्रतिभा नहीं थी उन्हें निर्देश दिया गया था कि—

"उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविता करनी चाहिए। अभ्यास करते-करते शायद कभी किसी समय वे उससे अधिक योग्यता दिखलाने में समर्थ होवें और दण्डी कवि के कथनानुसार शायद कभी वाग्देवी उनपर सचमुच प्रसन्न हो जावे।"

परिणाम यह हुआ कि वाग्देवी जिन गिने-चुने कवियों पर प्रसन्न हुई, उनको छोड़कर सबकी कविता वर्णनात्मक अधिक हुई। वण्र्य विषयों की एक

लम्बी शृंखला कवियों की दृष्टि के आगे थी। वे सब विषय जीवन-ग्रंथ के पढ़े जा रहे पृष्ठों में से ही लिये गये थे।

कोई ऋतु ऐसी नहीं थी जिसपर किसी कवि की 'कविता' न हुई हो, कोई दैनन्दिन-घटना, सामाजिक-राजनैतिक समस्या, सार्वजनिक समारोह और जन-आन्दोलन ऐसा नहीं बचा जिसपर कवि की कविता मुखरित न हुई हो; आलोच्य-काल में एक ओर कालिदास के 'ऋतु-संहार' की शैली पर हिन्दी के कवि ग्रीष्म और वर्षा, शरद् और हेमन्त, शिशिर और वसन्त का वर्णन कर रहे हैं, तो दूसरी ओर अंग्रेजी के वड्‌सवर्थ, कीट्स आदि कवियों की भाँति कोकिला और बुलबुल से बात कर रहे हैं, एक ओर 'दिल्ली दरबार' का वर्णन हो रहा है तो दूसरी ओर 'प्रयाग की प्रदर्शिनी' का, एक ओर 'हार्नली पंचक' लिखा जा रहा है तो दूसरी ओर 'क्रोधाष्टक', एक ओर 'वसन्त-सेना-विलास' चित्रित हो रहा है, तो दूसरी ओर 'मालती-महिमा' वर्णित हो रही है; एक ओर 'नागरी लिपि' और हिन्दी भाषा के समर्थन में कविता लिखी जा रही है तो दूसरी ओर 'विद्यार्थियों के कर्तव्य' गिनाये जा रहे हैं; एक ओर 'रौप्य मुद्रा-स्तोत्र' गाया जा रहा है, तो दूसरी ओर 'सज्जन-संकीर्तन' हो रहा है; एक ओर 'मातृ भाषा की महत्ता' दिखाई जा रही है, तो दूसरी ओर 'हिन्दी षोडश-नाम' की गणना कराई जा रही है; एक ओर 'ग्राम्य-जीवन' की झलक दिखाई जा रही है, तो दूसरी ओर 'चित्रकूट में श्रीराम' के दर्शन कराये जा रहे हैं; एक ओर 'नीचता के मनोमोदक' खिलाये जा रहे हैं तो दूसरी ओर 'ईश्वर की ईश्वरता' आलोचित हो रही है।

इन विविधताओं में भी एक समानता थी। कवि की वृत्ति इन कविताओं में अपनी भावना और विचारणा को अभिव्यक्ति का द्वार देना था। इसी अवस्था के मार्ग से अथवा इस कोटि के अनन्तर ही कविता में भाव-वैभव आ सका था।

बहिरंग दृष्टि से ये कवितायें इतिवृत्तात्मक (वर्णनात्मक) ही हों, परन्तु इतिवृत्तात्मक संज्ञा देकर भी हम इन्हें अवमानित-उपेक्षित नहीं कर सकते। इतिवृत्तात्मकता तो कविता के विकास की एक अनिवार्य स्थिति है। कोई कवि, चाहे वह वाल्मीकि ही क्यों न हो, लेखनी उठाते ही रस-वृष्टि नहीं करने लगता।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।

में भी इतिवृत्त ही समाविष्ट है। आज के आलोचक को चाहे ये 'कवितायें' कविता नहीं, 'इतिवृत्त' प्रतीत हों, परन्तु समाज के अल्पशिक्षित जनों के लिए इनका पूर्ण सदुपयोग है। मौलिक प्रतिभा के विकास की रेखा तो इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक से भावात्मक कविता की ओर ही रहती है।

द्विवेदी-काल की इन वर्णनात्मक कविताओं में हमें रस न मिले, परन्तु ये ही तो आज की हिन्दी कविता की प्रगति के चरण-चिन्हों के रूप में अमर हैं। अपने शैशव, बाल्य अथवा कैशोर काल के कुरूप और विरूप मुद्रा और भाव-भूषा वाले चित्र को भी आज हम प्यार ही करते हैं। गंगा जहाँ से निकली है, वहाँ की धारा क्षीण-क्षुद्र होते हुए भी हमारे लिए तीर्थ-रूप है। द्विवेदी-काल की ये कवितायें आज की हिन्दी-कविता की गंगा की गंगोत्री हैं।

गः उपदेशात्मक कोटि : 'नीति-काव्य'

कविता और उपदेश ? आज के काव्य-मर्मज्ञ और समालोचक को इस युग्म पर हँसी आ सकती है। आलोच्य-काल के साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी समालोचनात्मक लेखों का मनन कीजिए तो उसके अन्तर्गत कविता के उद्देश्यों अथवा धर्मों में 'उपदेश' का उल्लेख अवश्य मिलेगा। पहिला धर्म 'मनोरंजन' और दूसरा 'उपदेश'—इस सिद्धान्त से आलोच्य-काल की कविता-कला प्रेरित और अनुप्राणित है—

'आनन्ददायी शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी !

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
(भारत-भारती)

युग के प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी ने 'कवि-कर्तव्य' का दर्शन कराते हुए पहिले ही कह दिया था—'सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।' शिष्य (मैथिलीशरण) ने तो केवल गुरु (द्विवेदी) के मंत्र का भाष्य किया था।

क्या 'उपदेश' कविता का शाश्वत धर्म है ? या वह केवल युग-धर्म है ? या वह केवल युग-धर्म हो सकता है ?—यह प्रश्न यहाँ उठ सकता है। आचार्य द्विवेदी ने काव्य-शास्त्र के आचार्य के स्वर में यह मंत्र दिया था, या युगनिर्माता के नाते ? कविता के शाश्वत धर्म के लक्ष्य से वह प्रेरित था या कविता के युग-धर्म के उपलक्ष्य से ?

पहिले हम इसे केवल युग की आवश्यकता, समाज की अपनी माँग मान कर चलें।

समाज में युग-निर्माण का आरंभ बुद्धि जीवियों द्वारा होता है। विवेकानन्द और दयानन्द ये दो भारतीय जागरण के प्रतिनिधि देश के समाज को जड़ता से जगाने का अनुष्ठान कर गये थे। तब उसी परम्परा में कवि को पूर्ण योग देना था। पिछली (१९ वीं) शताब्दी में ही उपदेशात्मक कविता का उत्स प्रस्फुट हुआ था भारतेंदु की लेखनी से—

> सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
> कर राजा नहिं लेइ प्रजन में हेत बढ़ावै।
> गाय दूध बहु देहिं तिनहिं कोऊ न नसावै।
> द्विजगन आस्तिक होइँ मेघ सुभ जल बरसावै।
> तजि छुद्र वासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
> कहि कृष्ण राधिकानाथ जय हमहूं जिय आनँद भरहिं।

और प्रतापनारायण मिश्र भी प्रबोधन दे चुके थे :

> चहहु जो साँचो निज कल्यान,
> तो सब मिलि भारत-सन्तान
> जपौ निरन्तर एक जबान
> 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान !'

खड़ी बोली में उपदेशात्मक कविता के प्रवर्तन में स्वयं आचार्यश्री का महान् योग है। ब्रजभाषा में तो 'सरस्वती' के सम्पादक-पद को सुशोभित करने के पहिले ही वे 'नागरी का विनय-पत्र'[1] देने लगे थे, 'मांसाहारी को हंटर'[2] लगाने लगे थे, 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' करने लगे थे।

---

१ 'भारत-जीवन' : १५ मई १८९९ २ हिंदी बंगवासी : १९ नवम्बर, १९००

उद्योग और श्रम, शिल्पकला सिखाओ,
व्यापार में मन जरा इनका लगाओ,
विद्या-विवेक-धन-धान्य सभी बढ़ाओ,
आरोग्य और बलवान इन्हें बनाओ।[1]

'सरस्वती' के सूत्रधार बनने पर पहली उपदेशात्मक कविता उन्होंने लिखी थी 'जन्म-भूमि'[2] और पूछा था—

यदि कोई पीड़ित होता है,
उसे देख सब घर रोता है।
देश-दशा पर प्यारे भाई!
आई कितनी बार रुलाई?

देशवासियों को एक मधुर उपालम्भ—

थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते,
जन्मभूमि को तुम न भुलाते।
तो अब तक निहाल हो जाती,
शोभामयी दिव्य दिखलाती।

देते हुए उन्होंने 'बीती ताहि बिसारि दै आगे की सुधि लेइ' के अनुसार अनुरोध किया था—

जो कुछ अब तक हुआ भुलाओ,
अब इसका सम्मान बढ़ाओ।
मान लीजिये वचन हमारे,
इसकी लज्जा हाथ तुम्हारे।

इस प्रकार नई उपदेशात्मक कविता का स्रोत भी इस कैलास-शिखर से प्रवाहित हुआ था और वह आलोच्य-काल के अंत तक प्रकट और अच्छा रूप में दिखाई देती रहती है।

✓वर्तमान शताब्दी के पहले बीस वर्ष भारत के जागरण और उत्थान के प्रभात-काल हैं। सामाजिक-राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक-नैतिक क्षेत्रों में भी नव-निर्माण का महासमारोह होता दिखाई देता है। कवियों ने इस काल में अपना दायित्व भली भाँति निभाया है। कला को केवल कला में परिसीमित न करके उन्होंने उसे व्यक्ति और समाज, देश और राष्ट्र के नव-निर्माण में नियोजित किया है।

---

१ सरस्वती : फरवरी, १९०२ २ सरस्वतीः फरवरी-मार्च १९०३

इस काल में इन कवियों की लेखनी से उपदेशात्मक काव्य इतने विपुल परिमाण में प्रसूत हुआ है कि उसका अनुमान नहीं कराया जा सकता। कोई कवि ऐसा नहीं था जो इस दिशा में न चला हो, कोई विषय ऐसा नहीं था जिसे कविता ने स्पर्श न किया हो। 'भारत भारती' तो समाज-जागरण की भैरवी है ही। 'उपदेश-कुसुम', 'शिक्षा-शतक', 'शिक्षा-लता', 'शिक्षा-संग्रह' आदि इस काल में अनेक कविता-कृतियाँ उपदेश के उद्देश्य को लेकर ही लिखी-पढ़ी गईं।

कविता का शैशव वस्तु-वर्णन में है और उसका बाल्य शिक्षा-ग्रहण में यह कहा जा सकता है; परन्तु वास्तव में उपदेशात्मक और वर्णनात्मक कोटि में तारतम्य नहीं है, दोनों समानान्तर भी चलती हैं। एक स्पष्ट प्रमाण इसका यही है कि शिक्षारम्भ के पश्चात् विद्यार्थी को जो गंभीर कविताएं दी जाती हैं उनमें 'ग्राम्य-जीवन' अथवा 'कोकिल' जैसी वर्णनात्मक कविताओं और 'नर हो न निराश करो मन को' और 'कर्मवीर' जैसी उपदेशात्मक कविताओं का समावेश होता है। मानस-स्तर की अमुक सीमा का उल्लंघन करने पर ये कविताएं "बाल-विनोद" प्रतीत होने लगती हैं। यह आलङ्कारिक उक्ति तो अवश्य होगी कि उस काल के हिन्दी के कवि काव्य-विकास की दृष्टि से इस नवयुग-निर्माण की भूमिका में बालक ही थे, परन्तु इसमें बहुत कुछ यथार्थता भी है।

जिस समय नई हिन्दी के कवि प्राचीन ब्रजभाषा-परम्परा से विच्छिन्न होकर 'कविता' रचना चाह रहे थे उन्हें 'वर्णन' के साथ-साथ 'उपदेश' का भी आधार मिल गया, यह स्वाभाविक भी था। प्रारंभिक अवस्था में ये कविताएं छन्द के आवरण में कर्तव्य-कर्म का उद्बोधन हैं। समाज के बुद्धिजीवी-वर्ग की पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए कवि सामाजिक और राजनीतिक भूमिका में व्यक्ति के धर्म की व्याख्या करते हैं। द्विवेदी जी एक कविता में 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' का राष्ट्रीय धर्म समझा रहे हैं—

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै, विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो, न जाओ पास उससे दूर भागो।
(सरस्वती : जुलाई १६०३)

इसी वृत्ति ने 'शिक्षा-शतक', 'प्रार्थना-शतक' जैसी कृतियों के लिए दिशा दिखाई थी, जिनमें कहीं दिनचर्य्या तक का पाठ पढ़ाया जा रहा है—

बाकी रहे घड़ी दो रात, उठ बैठो तब जान प्रभात।
भक्ति-सहित ले हरि का नाम, सोचो अर्थ, धर्म का काम।

(शिक्षा शतक : जनार्दन झा : सरस्वती; नवम्बर १९०४)

तो कहीं, अहिंसा का उपदेश दिया जा रहा है—

हिंसा से बढ़कर के पाप, नहीं दूसरा जानें आप।
निज समान औरों को जान, करिये सब जीवों का त्राण।

(शिक्षाशतक)

ऐसी कृतियाँ बाल-मानस के लिए हितकर हो सकती हैं।

समाज-कल्याण के जितने भी साधन और उपाय हो सकते हैं इस काल के कवियों ने उनका निर्देश किया है। यदि मातृभाषा के प्रेम की प्रेरणा श्री कामताप्रसाद 'गुरु' ने दी—

जरा उबालो अपना रक्त, बनो मातृभाषा के भक्त।

(सरस्वती : फरवरी १९०६)

तो काशी 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना की हलचल ने 'हिन्दू समाज को अनुप्राणित किया और मैथिलीशरण जी ने शिक्षा द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का उद्‌बोधन दिया—

समुत्थान का ज्ञान ही मूल है,
इसे भूल जाना बड़ी भूल है।
सु-शिक्षा बिना ज्ञान होता कहाँ?
करो यत्न शिक्षार्थ जो हो जहां।
सुशिक्षा जहाँ है वहीं सिद्धि है,
जहाँ सिद्धि होगी वहीं वृद्धि है।

('हिन्दू-विश्वविद्यालय' : मैथिलीशरण गुप्त)

उद्‌बोधन देने में श्री गिरिधर शर्मा भी सदा सजग थे। 'उद्‌बोधन' कविता में समाज के सभी वर्णों को उचित प्रबोधन, देते हुए उन्होंने नारी जाति को भी संबोधित किया—

हे भामिनीओ, कुल कामिनीओ!
ये चूड़ियाँ हैं परदेशियों की,
कलङ्क भारी पहनो इन्हें जो,
छोड़ो जरा तो मन में लजाओ।

(सरस्वती : नवम्बर १९०६)

सभी नैतिक गुणों पर कवि का ध्यान गया। 'चारुमाला' गूँथते हुए लक्ष्मी-धर वाजपेयी सत्य-पालन, सदाचार, क्षमा, दया, विद्यार्जन, जितेंद्रियता, मृदुभाषिता, पुरुषार्थ, सत्संगति के साथ स्वदेशी-प्रेम का पुष्प भी सजा देते हैं।

देशी चीजों का अनुराग—
वस्तु विदेशी का कर त्याग,
करो सभी इसका उद्धार—
विनती यही पुकार पुकार।

(सरस्वती : नवम्बर : १९०७)

राय देवीप्रसाद पूर्ण ने तो ५२ कुंडलियों का एक काव्य 'स्वदेशी-कुण्डल' (१९१०) ही प्रस्तुत कर दिया था!

लोचनप्रसाद पाण्डेय इस क्षेत्र में नैतिक गुणों का उपदेश लेकर आये। 'नरजन्म की सार्थकता' का व्यावहारिक संकेत इसमें है—

बन्धुवर्ग को प्यार न करना जिसने सीखा,
विनययुक्त व्यवहार न करना जिसने सीखा,
जाति-देश-उपकार न करना जिसने सीखा
जन्म हुआ निःसार—न मरना उसने सीखा।

(नरजन्म की सार्थकता : सरस्वती; अक्तूबर ११)

समाज को नीति और धर्म के, शील और सदाचार के, कर्त्तव्य और कर्म के, लोक और परलोक के उपदेश देने के लिए इस काल का कवि जागरूक है, यहाँ तक कि पालने के शिशु को भी वह 'लोरी' में उपदेश ही सुनाता है—

करना ऐसे काम मनोहर—
गर्व करें भारतवासी वर,
जन्मभूमि फूली न समावे,
नई-नई सुख-सम्पति पावे।

(गिरिधर शर्मा : लोरी; सरस्वती : जनवरी १९१३)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अपनी ठेठ लोक-प्रयुक्त भाषा में 'कर्म्मवीर' की शक्तियों को गिनाते हुए कर्म्मवीरता का उपदेश व्यंजित करते हैं—

देखकर जो विघ्न-बाधाओं को घबराते नहीं।
मार्ग पर रह करके जो पीछे हैं पछताते नहीं।
काम कितना हो कठिन हो पर जो उकताते नहीं।
भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं।
होते हैं यक आन में उनके बुरे दिन भी भले,
सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले फले।
(सरस्वती : अप्रैल १९०७)

'कविता-कामिनी-कान्त' 'शङ्कर' जी दार्शनिक भाषा में मुक्ति-साधना की कुंजी दे रहे हैं—

कब कौन अगाध पयोनिधि के उस पार गया जलयान बिना।
मिल प्राण अपान उदान रहे न समान विमिश्रित व्यान बिना
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किसको अविकम्प अचंचल ध्यान बिना।
कवि शंकर मुक्ति मिली न कहीं सुख मूल विवेकज ज्ञान बिना।
(सरस्वती : मई १९१२)

श्री गुप्तजी के 'स्वर्गीय संगीत' को तो उन संदेश-प्रधान कविताओं का मङ्गलाचरण कहना उचित होगा। 'स्वर्गीय संगीत' वस्तुतः मर्त्य मानव के लिए प्रेरणादायक स्वर्गामृत ही है—'पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो',[१] 'नर हो, न, निराश करो मन को!'[२] 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' 'मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है'[३] आदि मंत्रपूत कविताएँ पढ़कर जो आत्मिक उन्नयन होता है वह अनुभूति की ही वस्तु है।

श्री रामचरित उपाध्याय ने नैतिक गुणों वाली कई उपदेशात्मक कविताओं की सृष्टि की—'वीर-वचनावली' में वीरोत्तेजना है, तो 'माता का पुत्र को उपदेश' में आज्ञापालन की प्रेरणा है।

समाज के चेतन वर्गों को प्रबोधित करने में ठाकुर गोपालशरण सिंह भी एक जागरूक कवि हैं। वे 'भारतीय विद्यार्थियों के कर्त्तव्य' की व्याख्या करते हुए अंत में अपनी आकांक्षा को मुखरित करते हैं—

"भारत भर की एक राष्ट्रभाषा हो जावे
जो हम सबमें खूब परस्पर मेल बढ़ावे"

---

१ सरस्वती : जनवरी '१४ २ सरस्वती : फरवरी '१४ ३ सरस्वती : दिसम्बर '१५

यह अभिलाशा पूर्ण हमारी करनेवाली—
हिन्दी ही है परम पूज्य गुणवती निराली
छात्रो ! उसके साहित्य को सब प्रकार उन्नत करो।
उसके पुस्तक-भंडार को सद्ग्रंथों से तुम भरो।
(सरस्वती : फरवरी १९१५)

यह एक विशेष उल्लेखनीय बात है कि छात्रों (विद्यार्थियों) के प्रति प्रायः सभी कवियों ने कवितायें लिखी हैं—'सुसंदेश' (श्रीधर पाठक), 'विद्यार्थी-वृन्द' (हरिऔध), 'छात्रों से नम्र निवेदन' ('कमलाकर'), 'भारतीय विद्यार्थी' ('एक भारतीय आत्मा') आदि-आदि। श्री मैथिलीशरण गुप्त और रूपनारायण पांडेय ने ब्राह्मणवर्ग को उद्बोधन दिया है।

इस प्रकार आलोच्य काल में प्रत्येक कवि लोक-कल्याण का चिन्तन करता है, और समाज में 'श्रेयोमार्ग' दिखाने के लिए व्यग्र है। कविता की शृंगारिकता से उसका वह उन्नयन निस्सन्देह एक युगान्तर का इंगित है। जातीय उद्बोधन की श्रेष्ठतम कविताएँ इस काल में लिखी गई हैं। वस्तुतः वे हिन्दी कविता की पवित्रतम निधि हैं।

ये कवितायें देश और समाज के स्त्री-पुरुषों को जगाने के लिए प्रत्यक्ष उद्बोधन के रूप में ही नहीं आती थीं; वे कभी व्यंग्य का स्वर भी लेकर आती थीं—

दूर क्यों भागते हो भले कर्म से ?
क्यों घृणा हो गई है तुम्हें धर्म से ?
शून्य हो होगये नीति के मर्म से ;
शीश तो भी झुका है नहीं शर्म से।
ताप-संताप से नित्य रोते रहो;
क्यों जगोगे, अभी देश ! सोते रहो।
('अद्भुत आक्षेप' : रामचरित उपाध्याय : सरस्वती; मार्च १९१६)

कभी प्रार्थना का परिधान पहिनकर भी—

अहो हिमालय ! नगाधिपति हो, उच्च भाव कुछ दिखलाओ—
श्यामागम में रत्न-कोष सब अपना आज लुटा जाओ।
गिरी हुई सन्तानों को तुम जाकर शीघ्र सचेत करो—
ज्ञानरहित तव पुत्र-पौत्र हैं—उनको ज्ञान-समेत करो !
(देश-प्रेमोन्मत्त : 'सनेही' : सरस्वती : नवम्बर १६)

और कभी आख्यायिका का आश्रय लेकर (किसी 'मक्खीचूस' की कहानी लिखते हुए कवि अन्त में शिक्षा देता है—)

"कण भर कोई वस्तु व्यर्थ जाने न दीजिए,
तथा समय पर लोभ कहीं कुछ भी न कीजिए।"
घृत निचोड़ना और मोतियों वाली घटना,
ये दोनों दृष्टान्त चाहिए इसके रटना।

('मक्खीचूस' : मैथिलीशरण गुप्त : सरस्वती : नवम्बर ०६)

'पंजर-बद्ध कीर' (गुप्त) में इसी प्रकार परतंत्रता की भर्त्सना और स्वतन्त्रता एवं देशभक्ति की प्रेरणा है :

'जन्मभूमि-समान सुन्दर स्वर्ग भी होता नहीं।'

देश के राजनीतिक और सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों का प्रच्छन्न प्रभाव कवि-मानस पर पड़ता है और इसीलिए कविता में उसकी प्रतिच्छवि और प्रतिध्वनि भी दिखाई-सुनाई देती है।

(औरंगजेब के नाम) 'महाराना राजसिंह का पत्र' लिखते हुए गुप्तजी ने हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का समयोचित आदेश दिया है—

विश्वात्मा के निकट सब हैं एक-से; भेद क्या है ?
है सो स्वामी विदित सबका, क्या किसी एक का है?
नामों से है कुछ न उसमें भिन्नता-भेद-भाव,
न्यारी न्यारी प्रकृति-रचना है उसीका प्रभाव।
गाते मुल्ला सुगुण उसके मसजिदों में तुम्हारे,
पूजा जाता प्रभुवर वही मन्दिरों में हमारे।
यों दोनों ही विविध विधि से हैं उसी को रिझाते;
हैं अज्ञानी नर बस वही जो उसे भूल जाते॥

(सरस्वती : फरवरी १६१२)

कवि देश के वातावरण के पूर्ण प्रतिनिधि हैं—जब राजनीति के वातावरण में 'सत्याग्रह' का स्वर गूँजने लगा तो कवि ने युवकों को उसका मर्म स्पष्ट किया—

नियम अन्यायमय तोड़ो यही कर्तव्य है सच्चा।
महात्मा गांधी का सँग करो कटिबद्ध हो मित्रो !

जरा प्रह्लाद-ध्रुव की जीवनी से भी तो लो शिक्षा,
करो सब प्राप्त स्वत्वों की विचारात्मा बनो सच्चे।
(सत्याग्रह : भगवन्नारायण भार्गव : मर्यादा; अगस्त १७)

इसी प्रकार स्वशासन और स्वराज की साधना के युग में कवि की सहज प्रेरणा हो सकती थी—

सुख स्वराज्य सदा निज स्वत्व है
जननि का हित साधन सत्व है।
प्रणय - पूर्ण प्रभुत्व महत्त्व है
जगत का हित ही अमरत्व है।
मनुज जीवन ज्योति जगाइए।
(गेयगीत : लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय 'मयंक : मर्यादा; अक्तूबर १६१८)

जब राष्ट्र के 'स्वराज्य' की घड़ी निकट आती दिखाई दी तो 'त्रिशूल' जैसे राष्ट्रीय कवि ने देशवासियों को उत्तेजन दिया—

बाँधो सबको ऐक्य-सूत्र में तुम बँध जाओ!
मुड़ो न पीछे राष्ट्र-यज्ञ में आओ, आओ।
सोम-सुधा स्वातंत्र्य वीर गण, पियो पिलाओ।
प्राण-रस पिला जाति मृतक हो रही, जिलाओ!
वंशी बजे स्वराज्य की होने घर घर गान दो।
जय जय भारत की कहो, और छेड़ यह तान दो!
(जातीयता : 'त्रिशूल')

और आदर्श राष्ट्र की कामना की—

देखें कब भगवान हमें वह दिन दिखलावें!
सकल जातियाँ देश-राष्ट्र की पदवी पावें!
क्षीर-नीर की भाँति परस्पर सब मिल जायें!
बृहद् राष्ट्र बन जायँ-शान्ति की उड़ें ध्वजायें!
साम्यभाव बन्धुत्व से पूरा आठों गाँठ हो,
फिर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का घर-घर में पाठ हो!
('जातीयता' : त्रिशूल)

समाज का निर्माण करनेवाले व्यक्ति के नैतिक गुणों का उद्बोधन इन कविताओं में हुआ। 'मनुष्य-माहात्म्य' का निरूपण करते हुए श्री हरिभाऊ उपाध्याय इच्छा-शक्ति की महत्ता का उद्घोष करते हैं—

तो लखो मनुज माहात्म्य और उसका फल,
कैसी है इच्छा-शक्ति, विलक्षण कृति-बल।
जो शक्ति और कर्तव्य समझ लें पूरे!
कृतकार्य शीघ्र हो जायँ सुखी हों सारे।
(मनुष्य माहात्म्य : 'मर्यादा' जुलाई १९१६)

नवोदित कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने जीवन को जीवन-अनुकूल बनने की 'चेतावनी' दी है :

जीवन बन जीवन अनुकूल।
रह नित मिल जुल सलिल-कणों सम मिटा हृदय का शूल।
अहंभाव तज, समतल में रह, बना गर्व निर्मूल।
जल-सम निर्मल और स्वच्छ बन कर सब जगत् अमूल।
(चेतावनी : 'मर्यादा'; नवम्बर १९१७)

आदर्शवाद

आदर्श की स्थापना करने की वृत्ति इस काल के कवियों को काव्य-प्रेरणा देती है। स्फुट कविताओं में तो वे केवल उद्बोधन और उपदेश मात्र दे सकते हैं, और वह प्रत्यक्ष होने के कारण असह्य हो जाता है; परन्तु आख्यान के आवरण में व्यंजित सन्देश देना अभिनन्दनीय होता है। दोनों प्रकार के उदाहरण इस काल में सुलभ हैं। 'भारत-भारती' में मैथिलीशरण गुप्त का आदर्शवाद उद्बोधन बना है। इस परम्परा की इस काल में प्रचुरता है।

रामचन्द्र शुक्ल (बी० ए०) ने 'प्रेम' का आदर्शीकरण, लोक-सेवा में देखा—जिससे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श चरितार्थ हो सके—

"सबके होकर रहो सहो सबकी व्यथा,
दुखिया होकर सुनो सभी की दुख-कथा,
परहित में रत रहो, प्यार सबको करो,
जिसको देखो दुखी, उसी का दुख हरो,
वसुधा बने कुटुम्ब—प्रेम-धारा बहे!
मेरा-तेरा भेद नहीं जग में रहे!!

जो कवि 'आपदाओं का स्वागत' करने का उपदेश कर रहे हैं, या मनुष्य को धीर और कर्मवीर बनने का संदेश दे रहे हैं वस्तुतः वे जनता को 'श्रेयोमार्ग'

दिखाना चाहते हैं। इस श्रेयोमार्ग की प्रेरणा उन्हें ब्राह्मणों, उपनिषदों आदि से भी मिलती थी—

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता।
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
('करुणालय' : 'प्रसाद')

आदर्श की व्यंजना करने के लिए इस काल में कई लघु-वृहत् काव्य लिखे गये। 'प्रियप्रवास' में वस्तुतः कृष्ण के माध्यम से एक लोक-नायक का और राधा के माध्यम से एक लोक-सेविका बाला का आदर्श प्रतिष्ठित हुआ है। इसी प्रकार 'जयद्रथवध' में एक देशभक्त प्राणोत्सर्गी वीर का, 'मिलन' और 'पथिक' में देश-सेवक का आदर्श है। 'महाराणा का महत्त्व', 'मेवाड़-गाथा' आदि आदि काव्यों में भी यही उद्देश्य है।

'प्रेम' का आदर्श जयशंकर प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' में प्रतिष्ठित है, परन्तु वहाँ वह शाब्दिक होने के कारण इतना प्रभाव उत्पन्न नहीं करता जितना रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' में प्रेम-प्रणय का चरितार्थ आदर्श करता है। द्विवेदी-काल की कविता में 'पवित्रतावाद' (Puritanism) प्रेम के रूपों में व्यक्त होता है।

इस प्रकार उपदेश हो या संदेश आदर्शवाद के ही अन्तर्गत उनकी योजना होती है।

इस क्षेत्र में श्री हरिऔधने ने प्रत्येक सामाजिक-तिक हित का संदेश देने की सद्वृत्ति से असंख्य चौपदे लिखे जो 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोल-चाल' में संग्रहीत हुए। इनमें नीति-उपदेश उसी प्रकार झलकता है जैसे रत्न में आभा। जाति की, समाज की, देश की उन्नति ही कवि की एक मात्र प्रेरणा है। यही इन कविताओं का मूल स्वर (keynote) है।

प्राचीन संस्कृत काव्यों में और कबीर, दादू, नानक, तुलसी जैसे संतों की वाणी में नीति-काव्य की पुष्कल निधि है। तुलसीदास जैसे भक्त वर्षा और शरद के वर्णनों में नीति का निर्देश कर चुके थे। उनके परवर्ती कवि भी नीति-तत्त्व को कविता में उचित स्थान देते रहे हैं। रामचरित उपाध्याय ने 'सिरनेत सतसई' की रचना रहीम-वृन्द की परम्परा में ही की। नवयुग के कवि प्रकृति के उपादानों से दृष्टांत रूप में उपदेश-अर्जन करने में भी विशेष क्रियाशील हैं।

वनस्थली के प्रत्येक वृक्ष (चन्दन, अशोक, ताल, नारिकेल, अश्वत्थ, मधूक, नीम, बबूल, खदिर, बाँस, वट और भूर्ज) से नीति का पाठ सुनने की पद्धति रामचरित उपाध्याय की है—

ज्यों भविष्य में देश-दशा की देख अधोगति
देश हितैषी की न कभी रहती है स्थिर मति
नहीं दुष्ट-उत्कर्ष सहन उसको होता है
अश्रुपात कर सदा क्षुभित हो वह रोता है
यह मधूक तरु भी तथा पुष्प-पात के व्याज से
सोच हृदय शुचि की व्यथा रोता है भय-लाज से

('वनस्थली' : सरस्वती, अगस्त १६१६)

इसी प्रकार की शैली में मुकुटधर पांडेय ने पथिक और ताड़-तरु और आम्रतरु के उपलक्षय से नीति-निर्देश किया है—

कहा पथिक ने क्षुद्र आम्र-तरु! तू है उदारता की खान।
तू छोटा है तो इससे क्या, तेरा तो है हृदय महान्।
हृदय-हीन जो बड़ा हुआ तो वह है केवल भू का भार।
सहृदय ही बस कर सकता है इस जग का सच्चा उपकार।

(महत्ता और क्षुद्रता: सरस्वती जून १६१७)

यह धारा भी सन् २० तक चलती रही है—'वृक्ष वृन्द से विनय' नामक कविता का एक अवतरण लीजिए—

कन्द मूल फल दीन जनों का जीवन रखते।
हम चाहे दें छोड़ खबर उनकी तुम रखते॥
जाति वर्ण ऊँचे नीचे का भाव न रख कर।
करता तू सब पर समान उपकार अतुलवर॥

(हरिभाऊ उपाध्याय : मर्यादा; जुलाई २०)

वारिद से दान का, क्षिति से अघ-क्षमा का, जल से परदोष-प्रक्षालन का, मारुत से गुण-ग्राहकता का, अनल से तेजस्विता का, सद्वृक्षगण से परोपकार का, पूर्णचन्द्र से पर-ताप-हरण का उपदेश लेने के लिए कवि प्रयत्नशील हैं। 'प्रिय-प्रवास' काव्य के नवें सर्ग का वनस्थली-वर्णन ऐसी नीति की सूक्तियों से पूर्ण है। जब उपदेश चमत्कार के साथ प्रस्तुत होता है तो वही नीति के रूप में परिमार्जित हो जाता है।

इस प्रकार की उपदेशात्मक अथवा नीति-निर्देशक कविता युग और समाज की आवश्यकता थी। देश के जीवन में सर्वांगीण जागरण की हलचल थी। सामाजिक क्षेत्र में पश्चिम के बुद्धिवाद ने क्रांति कर दी थी। पर्दा और पाखंड, अस्पृश्यता और निरक्षरता, बाल-विवाह और दहेज, अंधविश्वास और जड़ता का जाल छिन्न-भिन्न होता जा रहा था। धार्मिक क्षेत्र में उपासना और भक्ति की आडम्बर-पूर्ण विधियों पर ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज ने कुठाराघात किया था। मूर्ति-पूजा, उच्च-निम्न भावना, वर्ण-विशृंखलता आदि रोगों पर वैदिक धर्म ने आक्रमण किया था। आर्थिक जीवन में अपनी पराधीनता का हमें बोध हो गया था। स्वदेशी-आन्दोलन आर्थिक परावलम्बन को दूर करने की हमारी जाग्रति का चिह्न था। अपनी जाति, अपने समाज, अपने देश की भक्ति और सेवा जीवन में धर्म बन रही थी, और समाज का प्रगतिशील तत्त्व होने के नाते देश और जाति के उत्थान के लिए प्रत्येक कवि अपनी कविता-कला को नियोजित करता था। जीवन के समस्त दुर्गुणों पर आघात-प्रत्याघात और सद्गुणों का आमंत्रण-आवाहन इस काल के कवियों का कर्म है। विद्यार्थी, युवक, कृषक, नारी इत्यादि वर्ग समाज की आशा के केंद्र और शक्ति के पुंज के रूप में पहिचाने गए हैं। अतः इनका विशेष उद्बोधन-प्रबोधन मिलता है। नैतिक उत्कर्ष सामाजिक उत्थान का और सामाजिक उत्थान राष्ट्रीय अभ्युदय का आधार है। इसलिए कविता ने तीनों पक्षों के जागरण को प्रतिध्वनित किया है। पेड़ के ऊपरी वृन्त की भाँति आलोच्य-काल का कवि वायु और वातावरण के क्षीणतम झोंके से सिहरता है, परन्तु प्रकाश-स्तम्भ की भांति अंधकार में अविचल रहकर जन-समाज को उन्नति की दिशा दिखाता है। वह कविता-कला और सृजन-प्रतिभा को बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय नियोजित करता है। लोक-चिन्तन में वह आत्म-चिन्तन को भूल जाता है। लोक के सुख-दुख में वह अपने सुख-दुख को निहित देखता है। यही कारण है कि इस काल में आत्मगत (Subjective) अर्थात् अन्तर्भाव-व्यंजक अथवा आध्यन्तरिक कविता की रचना के लिए अवकाश नहीं था।

'स्वान्तः सुखाय' कदाचित् महात्मा तुलसीदास की कविता की प्रेरणा रही थी, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि स्वान्तः सुखाय स्वार्थवादिता ही है? 'रामचरित-मानस' से बढ़कर क्या 'परमार्थवादी' कविता कोई दूसरा काव्य दे सका? जब लोकहित स्वानन्द या स्व-सुख में अधिष्ठित हो जाता है, तब ऐसा ही होता है।

युगधर्म या शाश्वत धर्म ?

इस मंत्र-वाक्य का भी कदाचित् भ्रामक अर्थ लगाया जा सकता है। आइए, इसी काल के प्रमुख स्तंभों के मानसिक प्रकाश में इसे देखें। "क्या 'उपदेश' कविता का शाश्वत धर्म है ?" कविता एक कला है, इस भूमिका में इस प्रश्न का उत्तर माँगा जाता है। क्या 'कला' का कोई लक्ष्य होना चाहिए ?

'कला' आत्मा की अभिव्यक्ति है और अधिक स्थूल शब्दों में कहें तो, कला मानस-भूमिका से अविच्छिन्न है। मानस-भूमिका से अभिन्न होने के कारण वह जीवन विच्छिन्न नहीं हो सकती। जीवन से अभिन्न होने से कारण वह भौतिक स्थिति-परिस्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। यदि कलाकार सत्, शिव और सुन्दर के समन्वय का आराधक-उपासक है, तो वह 'सुन्दरम्' के साथ 'शिवम्' को नहीं भूल सकता। गुप्त जी के शब्दों में "सुन्दरम् को शिवम् अर्थात् जन-मंगलाधायक होना आवश्यक है। यदि सौंदर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है, तो गुण भी एक बड़ा भारी सौंदर्य है।"[१] यही 'शिव' काव्य का एक उद्देश्य है। मम्मटाचार्य ने 'शिवेतरक्षतये' कहकर यही इंगित किया था।

दूसरा प्रश्न यह है कि शिवमय या पार्थिव दृष्टि में उपदेश-प्रधान कविता कहाँ तक 'आनन्द' का विधान कर सकेगी ?

इस पर मम्मट का मत है कि कविता का उपदेश कांता के कलालाप की भांति कमनीय हो—'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे'। कवि गुप्तजी के शब्दों में—"कविता उपदेश को नीरस नहीं रहने देती, वह उसे मधुर बनाती है। इसी से हृदय उसे सानन्द ग्रहण कर लेता है। कवि का यही सबसे बड़ा महत्त्व है कि वह शिक्षा को सरस बना देता है।"[२] इस प्रकार उपदेश के साथ माधुर्य और सरसता के मूल्यों को कवि नहीं भूलता।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रारंभिक स्थिति में हिन्दी की नई कविता में यह कला नहीं आ सकी, परन्तु अन्त में कवियों को इसका बोध हुआ तो है। 'मनोरंजन' का आशय मन को रस-दशा में पहुँचाने से ही है क्योंकि छोटे-छोटे चुटकुलों से भी मनोरंजन होता है, और ईसप तथा 'हितोपदेश' में उपदेश

---

१ 'हिन्दू' : भूमिका २ 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो', (श्री मैथिलीशरण गुप्त)

की प्रचुर मात्रा है, पर दोनों को पद्य में परिवर्तित करना ही कविता नहीं है। 'उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।' उपदेश भी इसी प्रकार सीधा 'उपदेश' नहीं, उपदेश का मर्म है। वह वस्तुत: व्यंजित उपदेश है—'सन्देश' है। सन्देश-प्रधान होना कविता को ऊँचा ही उठाता है। तत्कालीन जागरूक आलोचक बदरीनाथ भट्ट ने द्विवेदी जी के स्वर में स्वर मिलाते हुए लिखा था—"हिन्दी के लिए यह सौभाग्य की बात है कि बोलचाल की भाषा काव्य में अपना उचित स्थान पाती जा रही है। उसमें भी उच्च श्रेणी की कविता होने लगी है और उसकी लोकप्रियता दिनों दिन बढ़ती जाती है। उसमें कविता सरल भी होती है और चुने हुए उपयोगी विषयों पर ही प्राय: लिखी जाती है। उसके द्वारा अब देश-भक्ति तथा जाति-भक्ति की उत्तम तथा समयोपयुक्त शिक्षा दी जाने लगी है। वह मनुष्य के भावों को उच्च बना सकती है।"

मनोरञ्जन की विशेषता से कविता-कला 'शिल्प' बन जाती है और उपदेश की प्रधानता से 'प्रवचन'। जिन कविताओं का अनुशीलन किया गया है, उनमें प्राय: सन्देश न होकर उपदेश ही प्रखर-मुखर हो गया है, अत: उनमें विरसता का समावेश हो गया है। काव्य उपदेश के भार से दबकर श्री-हीन हो गया है।

उपदेश या सन्देश किसलिए? आदर्श की प्रतिष्ठा या प्रत्यक्षीकरण के लिए। इस प्रकार 'आदर्शवाद' अपने आप कला का उपास्य हो जाता है। यथार्थवाद और आदर्शवाद के मूल्याङ्कन के लिए इस काल के प्रतिनिधि कवि (और विचारक) मैथिलीशरण की ही वाणी प्रमाण है—

'हो रहा है जो यहाँ सो हो रहा;
यदि वहीं हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ?
व्यक्त करती है कला ही वह यहाँ।'
('साकेत')

इसी कला की प्रतिष्ठा के लिए द्विवेदी-काल की यह उपदेशात्मक कविता प्रयत्नशील है।

घ : भावात्मक कोटि : 'भाव-काव्य'

भावात्मक कोटि कविता की उच्चतम स्थिति है। छन्दमयी (इतिवृत्तात्मक) स्थिति से उठकर द्विवेदी-काल में यह नई 'कविता' वस्तुतः काव्य की कोटि में आ पहुँची थी—यह कहना अतिरञ्जन न होगा। यह कहने का आशय यह नहीं है कि उस काल में 'कविता' से निम्न कोटि के छन्द लिखे ही नहीं गये। आशय यह है कि सिद्ध कवि के हाथों में पड़कर कविता वस्तुतः अपने प्राणों का अनुसंधान कर सकी और वस्तुतः उन प्राणों का अन्वेषण करने के लिए हमें भी उन्हीं अंशों का अवलोकन करना चाहिए जिनमें पाठक को रस-स्थिति में पहुँचाने की क्षमता थी। ऐसे अंश उसी प्रकार दुर्लभ थे जिस प्रकार प्रत्येक युग में हुआ करते हैं। यह स्थिति द्विवेदी काल के उत्तरार्ध में ही आ सकी।

द्विवेदी काल के हिन्दी कवि के आगे हिमालयाकार कठिनाइयाँ थीं। भाषा (खड़ी बोली : हिन्दी) उसके पास नवीन थी, विषय (युग-जीवन की विविध ज्वलन्त समस्यायें और प्रश्न) नवीन थे, अंशतः छन्द भी नये थे, भाव (देश, काल और पात्र के अनुरूप) नये थे ही परन्तु अभिव्यक्ति की नई शैली न थी। पुरातन काव्य की शैली वर्जित थी। शताब्दियों से उसमें लिखी जाने के कारण ब्रजभाषा में कविता ने 'अर्थ-सौरस्य' की साधना के सभी उपकरण सिद्ध कर लिये थे; पर युग ने नये विषय नये कवि को दिये और आचार्य ने नई भाषा—खड़ी बोली।

शब्दों में मृदुलता अर्थात् लचकीलापन न होने के कारण कवि की स्वतन्त्रता छिन गई। शब्द के रूप को बिगाड़ने और भाषा को वैयाकरणी दृष्टि से अशुद्ध करने के विरुद्ध आचार्य की तर्जनी तर्जन कर रही थी—'निरंकुशता' का निषेध कर दिया गया था। फल यह हुआ कि प्रारम्भ में कविता में एक प्रकार की शुष्कता और कर्कशता दिखाई दी। ब्रज-वाणी के मदिर-मधुर अनुरणन से रञ्जित श्रुतियों में वह खड़खड़ाहट उद्वेगजनक हो उठी। कोमल ब्रजरानी के आगे यह भाषा 'खड़ी' उचित ही कही गई।

साध्य इन कवियों का था—'अर्थ-सौरस्य'; परन्तु प्रारम्भ में तो अभिव्यक्ति ही कठिन थी, सीधे-सरल ऋजु वर्णन में न कोई चमत्कार लक्षित हुआ, न अर्थ-गौरव ! इसलिए उस नई उत्पत्ति को रुक्ष-शुष्क, नीरस और 'भद्दी' कहा गया। यह मनोवैज्ञानिक आक्रमण भी उत्साहवर्द्धक न था।

'अर्थ-सौरस्य' की साधना दुष्कर थी । कवि-प्रतिभा की चरम कोटि उसी में आती है। नई भाषा को माध्यम बनाने में प्रथम पद से ही कठिनाई होती है, फिर गन्तव्य तो दूर—अतिदूर ही था। बरसों के प्रचलन और व्यवहार से भाषा में काव्योचित अभिव्यञ्जना-शक्ति और लालित्य आता है । खड़ी बोली कविता में शीघ्र ही यह नई आभा दिखाई देने लगी—इसका श्रेय एकमात्र युग-प्रवर्तक, युग-निर्माता, कवि, आचार्य और सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी को है।

भारतेन्दु कवि और कवि-नायक मात्र थे। कवि को आदेश-निर्देश देने का कठोर कार्य उन्होंने नहीं किया था। द्विवेदीजी कवि, कवि-नायक और अधि-नायक तीनों थे । कवि से भी अधिक वे कवि-निर्माता थे। उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादक-रूप में सरस्वती के मन्दिर में बैठकर एक पुजारी की भाँति वही निर्माल्य और नैवेद्य समर्पित होने दिया जो सरस्वती की अर्चना के योग्य था ।

कवियों को उनसे पदार्थ-पाठ मिला था कि वस्तु-जगत् के किसी भी सूक्ष्म या स्थूल, सजीव या निर्जीव विषय पर लेखनी उठाई जा सकती है अपनी काव्य-प्रतिभा को परिचालित करने के लिए । जीवन का यथार्थ, जो प्रत्यक्ष था, और जीवन का आदर्श, जो अप्रत्यक्ष या परोक्ष था, कवि-वाणी बनकर छन्दों में प्रस्तुत होने लगा। देश का वर्तमान समाज और राज, अनेक अभिव्यक्तियों में ढलने लगा। हिन्दी की कविता भक्ति और धर्म, वैराग्य और ज्ञान, प्रेम और शृंगार, युद्ध और काव्य-'रीति' में सीमित रही थी, उसे समाज में मुक्ति दी थी भारतेन्दु ने। उन्होंने भारत को, भारत की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को कविता का विषय बनाया था। जाति का वर्तमान उन्हें रुलाने लगा था। २० वीं शताब्दी में आकर कवियों में और भी अधिक समाजोन्मुखता आ गई । राजनीतिक जागरण कविता में मुखरित हुआ ।

'प्रकृति' की विराट् सत्ता कवि-दृष्टि को आकृष्ट कर रही थी; 'मनुष्य' समष्टि-रूप में कवि-कल्पना का आवाहन कर रहा था—वस्तुतः 'चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी—सभी आलोच्यकाल की पर-गत (objective) कविता में समाविष्ट हो गये ।

'स्व' और 'परोक्ष सत्ता' ये दो विषय भी अब धीरे धीरे प्रमुखता पाने लगे। परोक्ष सत्ता, जिसे कविजन ईश्वर या भगवान् के रूप देखते आये थे कुछ समय के लिए विस्मृत-सा हो गया था। समाज की अधोगति और देश की पराधीनता के आगे विवशता में मन उधर दौड़ा और पुनः उस निराकार साकार ईश्वर के प्रति कविता उन्मुख हुई। किन्तु दृष्टि में कितना अन्तर था!—उस प्राचीन ईश्वर को अब नये रूप में आना पड़ा सर्वजन हितकारी रूप लेकर। ईश्वर का आवाहन एक सामाजिक तत्त्व के रूप में होने लगा।

कवि परजीवी अधिक होता है, आत्मजीवी कम। जब बाह्य प्रकृति उसे क्षुब्ध और विषण्ण करती है तब वह अन्तर्मुख होता है। इस न्याय से इस काल में जब जीवन के कोलाहल से कवि ऊबा तब वह 'स्व' की ओर दौड़ा और 'स्व' की आन्तरिक अनुभूतियों का चित्रण करने लगा। आलोच्य-युग के कवि की बहिर्मुखता ने कवि के अन्तर्मन पर ही प्रतिक्रिया की और उसने आत्म-गत (subjective) कविता की सृष्टि करने का उपक्रम किया। उसके अन्तर्मन की शत-शत भावनाएँ अभी उपेक्षित थीं। वे जैसे निद्रा से जाग पड़ीं और बहिर्जगत् को रँगने लगी। बहिर्जगत् को—प्रकृति को—आन्तरिक भावना और अनुभूतियों के रँग में रँग कर प्रस्तुत करने की एक नई परम्परा चल पड़ी। उसका हम 'प्रतीक और संकेत' के प्रकरण में अनुशीलन करेंगे।

आचार्य ने जिस 'शास्त्र के अनुशीलन' का संकेत किया, उसकी पूरी सुविधा 'सरस्वती' और दूसरी पत्रिकाओं द्वारा नवोदित कवियों को मिली। सिद्ध कवि तो प्राचीन वरिष्ठ काव्य को नयी कविता में अवतरित करते थे ही, अन्य कवि भी उनसे प्रेरणा पाते थे।

अनुवाद-कला के विषय में आचार्य स्पष्ट थे :

"संस्कृत और अंग्रेजी काव्यों का अनुवाद हिन्दी में करने की ओर भी कवियों की रुचि बढ़ने लगी है। परन्तु स्वतंत्र कविता करने की अपेक्षा दूसरे की कविता का अनुवाद अन्य भाषा में करना बड़ा कठिन काम है।" ....बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है। ......सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है; दूसरा नहीं।"

('कवि-कर्त्तव्य')

स्पष्ट है कि वे नवशिक्षितों को वरिष्ठ काव्य के रत्न को हाथ लगाने की कुचेष्टा करने नहीं दे सकते थे। इससे उत्तम काव्यों के अधम अनुवाद होने की स्थिति न आई। इस काल के अनुवादों से यह बात स्पष्ट होती है।

आचार्य द्विवेदी ने कुछ ऐसी कुञ्जियाँ दी थीं कि जिनसे कविगण 'सरस्वती' के सद्म में प्रवेश पा सकें। इनका उल्लेख 'अर्थ-विधान' प्रकरण में किया जा चुका है।

'अर्थ-सौरस्य' ऐसा तत्व हैं कि जिसको स्थूल रूप-रेखा में नहीं अङ्कित किया जा सकता। संसार की और अपने ही देश की उन्नत भाषाओं की कविताओं में अर्थ-सौरस्य के तत्व खोजकर बताये जा सकते हैं और उनको दृष्टिगत करके उनकी साधना की जा सकती है। यही एक व्यावहारिक उपाय हो सकता था। संस्कृत के वरिष्ठ काव्यों की ओर प्रेरित किया जाता था, अंगरेज़ी के अर्थ-समूह की निधि की ओर संकेत किया जाता था और बंगला-मराठी आदि दूसरी सजातीय भाषाओं के श्रेष्ठ काव्यों को भी अनुकरणीय बताया जाता था। स्वतन्त्रता-पूर्वक इनसे अर्थ-संचय करने का आदेश दिया जाता था।

द्विवेदी जी के शब्दों में सरस और भावपूर्ण होना ही 'कविता' का आदर्श है। 'इण्डियन रिव्यू' (नवम्बर १९०७) में मुद्रित कविता 'मैसेज ऑव पीस' (Message of Peace) पर फरवरी १९०८ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित एक टिप्पणी से द्विवेदी जी की 'आदर्श कविता' की कल्पना स्पष्ट हो सकती है। उसका आवश्यक अवतरण यह है—

"यह कविता अँगरेज़ी में प्रकाशित हुई है। कविता अतीव सरस और भावभरी है। इसे हमने कई बार पढ़ा पर जी न भरा। बार-बार पढ़ने की इच्छा बनी ही रही। इसी का नाम "कविता" है।"

(आदर्श कविता : सरस्वती, फ़रवरी १९०८)

इस प्रकार के उपाय से भी आचार्य-सम्पादक अर्थ-सौरस्य के स्वरूप का परोक्ष संकेत दिया करते थे। पौराणिक चित्रों पर सिद्ध कवियों की (जो निश्चित ही उस समय में श्रेष्ठतम होती थीं) कवितायें ही दी जाती थीं। प्रथम श्रेणी के कवियों ने इन कविताओं द्वारा द्विवेदी जी की कविता की कल्पना को प्रत्यक्ष अवश्य किया था। गुप्त जी ने सबसे अधिक उनके मानस को सम्मोहित किया।

निःसंदेह, इन कविताओं में कई हृदयहारिणी-हृदयरंजिनी हुई। आचार्य द्विवेदी जी के शब्द स्वयं हमारे लिए प्रमाण हैं—

"जिन बाबू मैथिलीशरण गुप्त की हृदयहारिणी कवितायें 'सरस्वती' के कविता-लोलुप पाठक बरसों से पढ़ते आते हैं, उनका चित्रगत दर्शन करने की वे अवश्य ही इच्छा रखते होंगे।" (सरस्वती : नवम्बर १६०६)

चामत्कारिक सूक्तियों और सुभाषितों से मनोविनोद करने और उपदेश देने से उठकर हिन्दी का कवि आलोच्यकाल के मध्य, अर्थात् ११ के आस-पास, 'भाव' द्वारा रस-दान करने की ओर बढ़ रहा था। छोटे-छोटे खण्ड-चित्रों में कवि ने 'रस' भरने का प्रयत्न किया। यह 'रस' केवल 'चमत्कार' से ऊपर था। द्विवेदीजी के पास शब्द तो 'चमत्कार' ही था (जो आज हीन अर्थ का वाचक हो गया है) परन्तु तब अर्थ उसका अच्छा ही था। आज तो चमत्कार का अर्थ सूक्ति और शब्द-शिल्प द्वारा मन को प्रभावित करना है। परन्तु प्रेम, करुणा, उत्साह, वात्सल्य आदि भावों में निमग्न करनेवाली कविता कोरे चमत्कार से कहीं ऊपर है।

यह सच है कि भाव-तादात्म्य होने पर ही मौलिक आत्मानुभूति की तीव्रता की स्थिति आ सकती है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी कहा है—

"काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। यह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है।"[०]

सामान्य भाषा में कहें तो कवि जब 'भाव' में डूबकर, तन्मय होकर, भावना और अनुभूति का प्रकाशन करता है, अपने आप उसकी अभिव्यक्ति में हृदय को अभिभूत करने की क्षमता आ जाती है। हिन्दी के कवि में यह क्षमता आ गई थी। भाव-मग्न करनेवाली कविता के उत्कृष्ट उदाहरण आलोच्य-काल के काव्य में हैं। मैथिलीशरणगुप्त के 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-बध', 'साकेत' (प्रारम्भिक अंश), हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और चौपदे रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन' और 'पथिक'—ऐसे काव्य-रत्न अवश्य हैं जिनमें द्विवेदी जी के काव्योत्कर्ष की कल्पना मूर्त्त हो सकी है।

---

० 'काव्य और कला' : जयशंकर प्रसाद

श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर, रायकृष्णदास और बदरीनाथ भट्ट, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और पारसनाथसिंह के रहस्य-भावना के गीत, 'प्रसाद' की प्रेमानुभूतिपूर्ण आत्मगत कवितायें, बदरीनाथ भट्ट के पद आदि तो 'छायावाद' 'रहस्यवाद' के उपक्रम और प्रगीत मुक्तकों के बीज ही थे। इन्हीं में कविता बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हुई, जो भावी युग की कविता की प्रधान प्रवृत्ति है।

इसी काल में कविता में वह वंकिम व्यंजना, चित्रभाषा, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थ व्यंजना आदि भाषालंकरण भी आ गये जिनमें छायावादी शैली स्फुटित हुई। 'द्विवेदी काल' इतिवृत्तात्मक अथवा उपदेशात्मक कविताओं में ही सीमित नहीं रह जाता। उसमें सूक्ति-काव्य की वह स्थिति भी है जिसके आगे अर्थ-गौरव का सीमान्त है। भावात्मक अवस्था तो द्विवेदी-काल में विकसित कविता-धारा की अन्तिम विजय ही है।

जिस समय आचार्य द्विवेदी ने साहित्य-जगत और विशेषतः कविता-लोक के नायकत्व का सूत्र भी नहीं सँभाला था तब उन्होंने हिन्दी-कविता की दशा पर अश्रुमोचन किया था—

> कहां मनोहरि मनोज्ञता गई ?
> कहाँ छटा क्षीण हुई नई-नई ?
> कहीं न तेरी कमनीयता रही,
> बता तुही तू किस लोक को गई ?
> (हे कविते !)

परन्तु दो दशाब्दियों की साधना के अन्तर जब उन्होंने साहित्य-क्षेत्र से संन्यास लिया होगा तब भी क्या इन्हीं चरणों को दुहराया होगा ? नहीं, तब उनकी दृष्टि में वह प्रथम स्वप्न सत्य हो गया होगा जिसे उन्होंने निर्मित किया था। जिस महान् मंगल अनुष्ठान के लिए हिन्दी का कवि आचार्य के रूप में प्रकट हुआ और कवि-निर्माता बनकर सरस्वती के मन्दिर में आया था उसे सम्पन्न हुआ पाकर उसकी छाती-गर्व से फूल उठी होगी और अपनी सेवाओं की स्वीकृति के लिए उसने वीणा-पाणि के चरणों में प्रणाम किया होगा।

★

: ५ :

अन्तरंग-दर्शन

जीवन के विविध पार्श्वों का चित्रण और दर्शन आलोच्य-काल की कविता में किस प्रकार हुआ है, यह अब हमें देखना है। जीवन के विविध पार्श्व इस प्रकार हैं :—
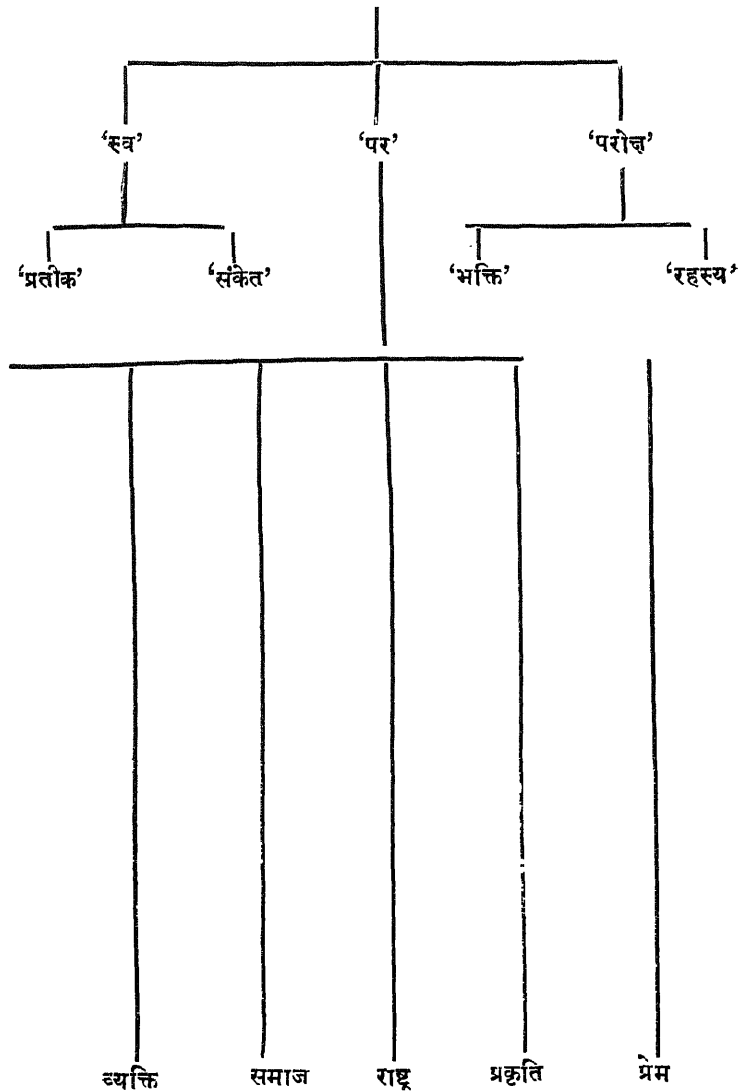
आगे के अध्यायों में इनका अनुशीलन है।

१: आख्यानक कविता-धारा

आलोच्य काल की कविता का एक बड़ा अंश आख्यान-प्रधान है। आदर्श अथवा यथार्थ चरित्रों की अवतारणा के लिए ही प्रधानतया कवि आख्यान का अवलम्ब लेता है। वर्णनात्मक कविता का यह एक श्रेष्ठ रूप है।

ये आख्यान त्रिविध हैं—

(क) पौराणिक अथवा प्रागैतिहासिक

(ख) ऐतिहासिक

(ग) काल्पनिक

इन त्रिविध आख्यानों के प्रणयन में कारणीभूत प्रेरणाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) प्राक्तन धार्मिक श्रद्धा

प्राक्तन काव्यों में 'रामायण' और 'महाभारत' काव्य होकर भी धार्मिक पवित्रता के साथ प्रतिष्ठित हैं क्योंकि इनमें दिव्य पुरुषों (राम-कृष्ण) के चरित चित्रित हैं। राम और कृष्ण को आज के बुद्धिवादी युग में भी तो ईश्वरावतार ही माना जा रहा है। इनके साथ भगवान् का विशेषण लगाकर श्रद्धालु जन अपनी श्रद्धा को व्यक्त करते हैं। आधुनिक युग में यद्यपि इन व्यक्तियों के देवत्व को मानवता का ही रूप दिया गया है परन्तु इनके प्रति मनुष्य की श्रद्धा अब भी देवानुरूप ही है।

इस काल में जो राम और कृष्ण से संबंधित आख्यान-काव्य लिखे गये उनमें राम और कृष्ण को जाति या मानवता के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में कल्पित किया गया है और उनमें किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता की कल्पना कवियों ने नहीं की है। इन्हें मानवता के धरातल पर उतारा गया

अवश्य है, पर उनके चरित्र मानवोत्तर हैं। वाल्मीकि ने जिस राम की और व्यास ने जिस कृष्ण की प्रतिष्ठा की थी वे मानव थे परन्तु उनमें मानवोत्तर वृत्तियों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में था। धीरे धीरे इन्होंने ईश्वर और भगवान का रूप ग्रहण कर लिया भक्ति-युग में। 'रामचरितमानस' और 'सूर-सागर' इसके साक्षी हैं। शृंगार-काल में कृष्ण को विकृत चरित्र दे दिया गया था परन्तु आलोच्यकाल में इनका पुनः उदात्तीकरण हुआ। 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' इसके साक्षी हैं। इनके नायकों का आदर्श कर्ममय रूप ही प्रमुख है। केवल भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही लीला नहीं गाई गई है।

(२) अतीत गौरव का दर्शन

हमारी संस्कृति का स्रोत हमारा अतीत है। अतीत यदि जातीय संस्कृति का चरमोत्कर्ष था तो वर्तमान उसका चरमापकर्ष हो गया। पतन की पराकाष्ठा हो गई। विदेशी सत्ता के आगे युग-युग से पराभूत इस देश में अतीत का स्वर्ण वर्तमान की दीनता-दरिद्रता में अधिक संरक्षणीय हो गया। जबतक वर्तमान की मलिनता में, गौरव और वैभव, सुख और समृद्धि की दिशा में, अतीत का वह स्वर्णिम आदर्श प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तबतक वही एक मात्र गौरव-आधार बना रहता है। यह एक मनो-वैज्ञानिक न्याय है। द्विवेदी-काल में व्यक्ति का आदर्श जाति, समाज और देश के लिये उत्सर्ग में और समाज और राज का आदर्श 'रामराज्य' में ही निहित था।

अतीत की गौरव-निधि से अपने चरित्र-निर्माण और तदनुसार राष्ट्र-निर्माण करने की प्रेरणा इस काल के मनीषी और विचारक, लेखक और समालोचक युग के कवियों को देते रहे हैं और कवि अपने आख्यानों द्वारा उनका पदार्थ-पाठ जनता को देते रहे हैं।

इस काल के मन्त्र-द्रष्टा आचार्य द्विवेदी ने एक लेख में हिन्दी के वर्तमान कवियों को प्रेरणा दी—

"भारत में अनन्त आदर्श नरेश, देशभक्त, वीर शिरोमणि और महात्मा हो गये हैं। हिन्दी के सुकवि यदि उन पर काव्य करें तो बहुत लाभ हो। 'पलाशीर युद्ध, वृत्र संहार, 'मेघनाद-वध' और

'यशवन्त राव महाकाव्य' की बराबरी का एक भी काव्य हिन्दी में नहीं। वर्तमान कवियों को इस तरह के काव्य लिख कर हिन्दी की श्री-वृद्धि करनी चाहिए।"[1]

इस काल के कवि अतीत गौरव के कई स्फुट चित्र तो दे सके परन्तु द्विवेदी जी के मन के काव्य तो श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री मैथिली शरण गुप्त ने ही लिखे। कवि मैथिलीशरण के शब्दों में "यदि सौभाग्य से किसी जाति का अतीत गौरव-पूर्ण हो और वह उसपर अभिमान करे तो उसका भविष्यत् भी गौरवपूर्ण हो सकता है।"

—'मौर्य-विजय' की भूमिका

(३) वीर-पूजा की भावना

दिव्य व्यक्तित्व से इतर मानव भी जाति के लिए इसीलिए आदरणीय और पूज्य रहे हैं कि उन्होंने अपने-अपने युग की जातीय परिस्थितियों में जाति का प्रतिनिधित्व किया, और भावी युग के लिए वे आदर्श के रूप में ग्रहीत हुए। "धार्मिकता,धीरता, वीरता, उदारता, परोपकारिता, न्यायप्रियता, शील, सौजन्य से इतिहास आलोकित हो रहा है। उनके ऊपर अनन्त काव्य नाटक आदि लिखे जा सकते हैं।"[2] पौराणिक-प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों में ऐसे अनेक व्यक्तित्व हैं, जैसे परशुराम, अर्जुन, अभिमन्यु, जनमेजय, चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रम, पृथ्वीराज, भीम (रत्न) सैन, महाराणा प्रताप, शिवाजी, दयानन्द, तिलक, महात्मा गांधी। ये जातीय (राष्ट्रीय) वीर हैं और उनकी अर्चना का नाम है—'वीर-पूजा'। भारतेन्दु ने पहिली बार 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' में इन वीरों को तिलक-चन्दन लगाया था और आर्य-गौरव की प्रेरणा इनसे ग्रहण की थी। वह केवल नाम-स्मरण था।

आलोच्य-काल में वीर-पूजा की भावना का सहज कारण यह था कि इस काल में जातीय चेतना का स्फुरण अधिक था। पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यान-प्रबन्धों में स्फुट प्रशस्तियों में तथा 'जयद्रथवध वध, 'मौर्य विजय' 'प्रणवीर प्रताप, 'महाराणा का महत्त्व', 'वीर पञ्चरत्न', 'गांधी गौरव' आदि काव्यों में वीर-पूजा की भावना ही प्रच्छन्नत: थी।

---

१ हिन्दी की वर्तमान अवस्था, सरस्वती, अक्तूबर १९११

२ मैथिलीशरण गुप्त : सरस्वती, दिसम्बर १९१४

(४) मानवीय आदर्श और यथार्थ

दिव्य और अतिमानवीय पुरुषों के अतिरिक्त ऐसे कई व्यक्ति हैं जिनमें मानव-जीवन के विविध आदर्श मूर्त्त हुए हैं। वे आदर्श हो सकते हैं शौर्य्य, वीरता, पर-सेवा, परोपकार, क्षमा, त्याग, उत्सर्ग, प्रेम, देश-भक्ति और विश्व-प्रेम। यह आवश्यक नहीं कि इनका अस्तित्व केवल पुराण या इतिहास में प्रतिष्ठित व्यक्तियों में ही खोजा जाये। इतिहास और इतिवृत्त में अल्पख्यात सामान्य मानवता में भी इन आदर्शों के प्रतिनिधि मिल जाते में। आलोच्य काल के कवियों ने इनका अन्वेषण करते हुए अपने स्फुट अथवा प्रबन्ध काव्यों में इनके आदर्शों की योजना की है। 'वीर-पञ्चरत्न', विकट भट', 'आत्मार्पण', आदि काव्यों में तो पुराण, इतिहास और इति वृत्त से लिये हुए आख्यान हैं, परन्तु कल्पना से भी आदर्शमूलक आख्यान लिखे गये, जैसे—'प्रेम-पथिक', 'पथिक', 'मिलन', 'देवदूत' आदि। (विगत काल में) अंग्रेजी से अनुवादित इसी प्रकार का काव्य था 'एकांतवासी योगी'। इसका नायक सामान्य मानवता से होकर भी आदर्श का प्रतीक है।

बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने राम जैसे दिव्य पुरुष के प्रतिद्वन्द्वी मेघनाद जैसे आसुरी पुरुष को 'मेघनाथवध' काव्य का नायकत्व दिया। अंग्रेज-कवि मिल्टन ने भी 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' (अर्थात स्वर्ग-भ्रष्ट) में देवता या देवदूत को नहीं वरन दैत्य को ही चरित-नायक बनाया है। दिव्यता-अलौकिकता के प्रति अति आकर्षण की प्रतिक्रिया में कवि ने आसुरी भावना का चित्रण किया। 'मेघनाद वध' में यही वृत्ति है। उच्च और उदात्त से निम्न और अधम की ओर कवि का आकर्षण एक मानववादी स्वच्छन्द-वादी प्रेरणा ही कही जायगी। आभिजात्य के प्रति, दिव्यता के प्रति चिर-प्रणत कवि-भावना ने स्वतन्त्रता और समता के इस युग में सहज विद्रोह किया।

वस्तु जीवन की अनुभूतियों ने कवियों को ऐसे काव्य-नायक भी दिये जो सामान्य मानवता के ही प्रतिनिधि थे, परन्तु जिनमें किसी आदर्श की व्यंजना भी नहीं थी, वरन् यथातथ्य का चित्रण प्रमुख था। 'किसान' में यदि फीजी में पीड़ित-शोषित किसान की राम-कहानी है, तो 'अनाथ' में एक दीन-दरिद्र अनाथ की दुखान्त व्यथा-कथा है।

कुछ ऐसे आख्यान भी हैं जो एक ओर किसी अवगुण का इंगित करते हैं और दूसरी ओर गुण का भी। ये यथार्थ और आदर्श की सीमा-रेखा पर कहे जा सकते हैं। 'रंग में भंग', 'विकट भट' ऐसे ही आख्यान हैं।

अगली पंक्तियों में हम इस काल के आख्यानक-काव्यों का अनुशीलन करेंगे। ये आख्यान (क) पौराणिक (ख) प्रख्यात (ग) काल्पनिक और (घ) अनुवादित इन चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं।

(क) पौराणिक आख्यान

भारतेन्दु-काल के कवि पर मानसिक संस्कार अतीत की काव्य-निधि का था, परन्तु उसपर वर्तमान की सामाजिक यथार्थता का भी पुट था। सामाजिक यथार्थ ऐसे ज्वलन्त रूप में उनके दृष्टिपथ में आया कि वे सहसा अतीत की ओर न झाँक सके। आलोच्य काल की उषा-बेला में पं० श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद 'पूर्ण' और श्री अवधवासी सीताराम 'भूप' ने प्राक्तनोमुख प्रवृत्तियां दिखाई। 'भूप' जी ने 'रघुवंश' की पौराणिक कथा में हाथ लगाया और उसे ब्रजभाषा में गाया। श्रीधर पाठक ने कालिदास के 'ऋतु-संहार' को लिया और 'पूर्ण' जी ने 'मेघदूत' काव्य को। ये सब ब्रजवाणी की निधियाँ हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'श्रीमद्-भागवत' के सुन्दर अंशों का 'पंचगीत' और 'गोपीगीत' नाम से अनुवाद करके इसी परम्परा में कड़ी जोड़ी। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने 'कुमार संभव' और 'मेघदूत' के आधार पर 'कुमार-सम्भवसार' और 'हिन्दी मेघदूत' की रचना की।

इन प्रवृत्तियों का भाव-प्रभाव कवि-मानस पर पड़ रहा था और कवि गण उधर प्रवृत्त हो रहे थे। पौराणिक आख्यानपूर्ण कविता का युग के सिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा आदि की चित्र-कला से भी तात्कालिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। सन् १६०० से ही श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में देश के सिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा की कला प्रदर्शित हुई। "राजा रवि-वर्मा के पहिले किसी भारतवासी शिल्पी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित नायक-नायिका वा प्रसिद्ध घटनाओं का तैल-चित्र नहीं बनाया था"[१]। द्विवेदी जी अपने पौराणिक तत्त्व-प्रेम के कारण ही इस चित्रकार की कला की ओर आकृष्ट हुए थे। समानशील व्यक्तित्वों का यह संयोग आकस्मिक ही नहीं कहा जा

१ सरस्वती : जनवरी १६०३

सकता। युग की प्राक्तनोमुखता ही इसके मूल में थी। अस्तु, जब द्विवेदी जी सम्पादक हो गए, तो राजा रविवर्मा के प्रसिद्ध चित्र 'प्रवासी' तथा 'सरस्वती' में साथ-साथ प्रकाशित हुए। पीछे ब्रजभूषणराय चौधरी, वामापद बंद्योपाध्याय, राजवर्मा के चित्र भी निकले। उन चित्रों में प्रदर्शित भाव या प्रसंग पर सम्पादक द्विवेदी जी ने स्वयं परिचयात्मक कविता लिखने का श्रीगणेश किया। रमा, कुमुद-सुन्दरी, महाश्वेता, उषा-स्वप्न, गौरी, गंगा-भीष्म, प्रियम्वदा और इंदिरा नामक प्रसिद्ध चित्रों पर उन्होंने स्वयं ही कविताएं लिखी थीं। वस्तुतः, चित्रों की स्थिति या घटना के आधार पर ये परिचायात्मक कविताएँ इसलिए उन्होंने लिखी थीं कि चित्रकला के साथ वे वास्तविक काव्यकला का संयोग देखना चाहते थे। कुछ कृती कवियों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। फिर तो वे अपने वृत्त के उन कवियों से उनपर कविता लिखने का आग्रह करते थे। 'सरस्वती' के जिस अंक (संख्या) में चित्र होता था उसी में हिन्दी के सिद्ध कवि की, उसपर लिखाई गई, कविता भी होती थी; ऐसी योजना थी उनकी। दो एक अपवादों ('वामन', कादम्बरी 'शकुन्तला जन्म', रामचन्द्र का धनुर्विद्याशिक्षण') को छोड़कर ये कविताएँ खड़ी बोली में ही होती थीं और सिद्ध कवियों की लेखनी की होने के कारण इनमें पर्याप्त 'अर्थ-सौरस्य' होता था। ये सिद्ध-प्रसिद्ध कवि थे स्वयं द्विवेदी जी के अतिरिक्त सर्व श्री राय देवीप्रसाद पूर्ण (ब्रज), नाथूराम शंकर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त और कामताप्रसाद गुरु। कुछ चित्र पौराणिक घटनामूलक होते थे, कुछ व्यक्तिमूलक। इनमें भी जो केवल शृंगार-वर्णन से सम्बन्धित होती थीं वे चित्र-कविताएँ नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' की ही लेखनी की हैं।

द्विवेदी जी ने तथा गुप्त जी ने भी रूप-वर्णन किया है परन्तु एक में सरलता है तो दूसरे में शालीनता। 'शंकर' जी की लेखनी में रस से अधिक रसिकता टपकती है।

'सरस्वती' में चित्रकार राजा रविवर्मा की यह चित्रमाला 'शकुन्तला पत्र-लेखन (दिसम्बर १६०१) से आरम्भ हुई और 'राजा रुक्मांगद और मोहिनी', 'प्राणघातक माला', 'करुणा और निष्ठुरता', 'रम्भा', 'दमयन्ती और हंस' 'सीता जी की अग्निपरीक्षा', 'गंगावतरण', 'शकुन्तला-जन्म', 'कृष्ण-विरहिणी राधा', 'पंचवटी में सीता और स्वर्णमृग', 'मोहिनी' तो श्री श्याम सुन्दरदास के सम्पादकत्व में ही निकल चुके थे। ... ...

प्रार्थना-पञ्चदशी, उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, अर्जुन और उर्वशी, भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रौपदी-हरण, राधा-कृष्ण की आँखमिचौनी, व्यास-स्तवन, शकुन्तला-पत्र-लेखन, रण-निमंत्रण, कुन्ती और कर्ण, केशों की कथा, शकुंतला को दुर्वासा का अभिशाप, उत्तरा का उत्ताप, लीला-संवरण, मुनि का मोह, गोवर्द्धन-धारण, कुरुक्षेत्र के संग्राम का परिणाम, धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान, धृतराष्ट्र और संजय, प्रह्लाद, सुलोचना का चितारोहण, शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद, विरहिणी सीता। चित्रों पर ही लिखी हुई ये सब कवितायें पौराणिक आख्यान-प्रधान हैं। यह कहना पड़ेगा कि पौराणिक चित्रों पर तो गुप्तजी से बढ़कर अच्छी कविता कदाचित ही कोई दूसरा कवि लिख पाता। इसका भी रहस्य है। श्री सियारामशरण गुप्त ने एक जिज्ञासा के उत्तर में प्रस्तुत लेखक को लिखा था—

"राजा रविवर्मा के पौराणिक चित्रों की प्रेरणा के अतिरिक्त उन का पैतृक पौराणिक-कथा-प्रेम भी भैया के पौराणिक आख्यान-रचना में प्रेरक रहा।"[1]

यह सत्य ही है कि आर्य-संस्कृति के आराधक साधु-हृदय मैथिलीशरण गुप्त से श्रेष्ठतर कवि इन पौराणिक चित्रों को दूसरा नहीं मिल सकता था। चित्रों पर लिखी हुई कई कविताएँ निस्सन्देह उन पौराणिक आख्यान काव्यों की आधार-शिला ही बन गईं। 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' (जनवरी १९०८) चित्र पर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने—

> हे विज्ञ दर्शक देखिए है दृश्य क्या अद्भुत अहा!
> यह वीर-करुणा-सम्मिलन कैसा विलक्षण हो रहा!!

लिखते हुए पाठकों को आश्वासन भी दिया था—

> अभिमन्यु का यह चरित आदरणीय प्राय: है सभी!
> जो हो सका तो युद्ध भी इसका सुनाऊँगा कभी!!

यह भूमिका थी 'जयद्रथवध' जैसे सुन्दर पौराणिक खण्ड-काव्य की रचना की। पौराणिक कथा का सम्मोहन इस प्रकार कार्यान्वित हुआ। इसके पश्चात् अभिमन्यु से संबंधित चित्रों पर लिखी और भी कविताओं का समावेश गुप्तजी के 'जयद्रथवध' काव्य में हुआ।

---

[1] श्री सियारामशरण गुप्त के एक हस्तलिखित पत्र से।

'शकुन्तला' काव्य के खण्ड भी इन्हीं कविताओं में हैं। 'दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला का पत्र' (सरस्वती : नवम्बर १६०८ में शकुन्तला-पत्र-लेखन चित्र पर लिखी गई कविता) भी गुप्तजी की 'शकुन्तला' कृति में ज्यों का त्यों सुरक्षित है।

चित्र पर ही लिखी गई गुप्त जी की 'केशों की कथा' कविता पर मुग्ध होकर एक सहृदय महानुभाव ने 'सरस्वती' में लिखा था—

"यह कविता बेहद कारुणिक है। आज तक गुप्त महाशय की जितनी कविताएँ 'सरस्वती' में निकली हैं यह कविता उन सब से बढ़कर है। गुप्त जी चाहे जितना प्रयत्न करें अब इससे अच्छी कविता उनकी लेखनी से निकलने की नहीं।"

और इसपर सम्पादक ने लिखा था—

"लाला............जी से हमारी प्रार्थना है कि गुप्त जी को वे आशीर्वाद दें जिसके बल से गुप्त जी 'केशों की कथा' से भी उत्तमतर कविता आगे लिख सकें।"

इससे दो तथ्य प्रकाशित होते हैं—

(१) द्विवेदी का गुप्त जी को प्रोत्साहन और

(२) गुप्त जी की ऐसी कविताओं की लोकप्रियता।

द्विवेदी जी का आशीर्वाद गुप्त जी की जयद्रथवध और साकेत[1] जैसे पौराणिक आख्यानक-काव्यों के रूप में प्रतिफलित होकर रहा। राजा रविवर्म्मा और ब्रजभूषणराय चौधरी जैसे प्रसिद्ध चित्रकारों के पौराणिक चित्रों पर द्विवेदी जी के आदेशानुरोध या आग्रह-अनुग्रह से मैथिलीशरण जी ने जो लम्बी आख्यानात्मक कविताएँ लिखीं उनमें उनके पौराणिक काव्य-प्रासादों का शिलान्यास था। गुप्तजी की वृत्ति पुराण-संस्कृति की ओर थी जितना यह सत्य है उतना ही यह भी कि वे द्विवेदी जी के प्रसाद और प्रोत्साहन से पौराणिक चित्रों के निमित्त से पौराणिक आख्यान के पथ पर चल पड़े।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ब्रज के पोषक थे। उनकी लीला-संवरण, वामन, कादम्बरी, धनुर्विद्याशिक्षण, शकुन्तला-जन्म चित्रों पर लिखी हुई पौराणिक कविताएँ

---

१. इसके ६ सर्ग द्विवेदी काल में प्रकाशित हो चुके थे।

हैं। 'सरस्वती' द्वारा प्रवर्तित यह परिपाटी 'इन्दु' और 'मर्यादा' पत्र-पत्रिकाओं ने भी अपनाई थी। 'इन्दु' में प्रकाशित जयशंकर 'प्रसाद' की 'भरत', 'मर्यादा' में प्रकाशित 'दीन' (भगवानदीन) की 'रामवनगमन', कृष्ण चैतन्य गोस्वामी की 'ध्रुव' किशोरीलाल गोस्वामी की 'शैवलिनी और प्रताप' आदि कविताएँ भी चित्रों पर ही लिखी गई हैं। इस चित्रकला और कविता-कला के संयोग से अधिकांश पौराणिक वृत्तों और कथाओं का हिन्दी कविता में अवतरण हो गया।

स्वतन्त्र रूप से भी कविगण अब पौराणिक आख्यानों की ओर प्रवृत्त हुए। 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'इन्दु', 'मर्यादा' आदि प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों में इस काल में राशि-राशि पौराणिक आख्यानक कवितायें प्रकाशित हुई हैं। सुकुमार-मति बालकों के संस्कार के लिए पुष्कल काव्य-निधि इस प्रकार हिन्दी में प्रस्तुत हो गई। कविवर शंकर (रामलीला), पंडित गिरिधर शर्मा (राजकुमारी सावित्री, अंशुमती, च्यवन-पत्नी सुकन्या) मैथिलीशरण गुप्त (आत्मोत्सर्ग:, बन्धु-विरोध,), हरिऔध (रुक्मिणी-सन्देश, वीरवर सौमित्र), जयशंकरप्रसाद (भरत), कामताप्रसाद (परशुराम), रूपनारायण पांडेय (राजा रन्तिदेव, दानी दधीचि) ने श्रेष्ठ पौराणिक कवितायें लिखीं।

इन पौराणिक आख्यानों में कई सुन्दर प्रबन्ध-काव्य हैं जिनका कविता के विकास में निश्चित स्थान है। उनका अनुशीलन इस प्रकार है—

राम-कृष्ण चरित-काव्य

राम और कृष्ण प्राचीन महाकाव्यों के चिरप्रतिष्ठित नायक रहते आये थे। अबतक में इनमें से किसी को खड़ी बोली किसी महाकाव्य में नायकत्व नहीं मिल सका था। इस अभाव की पूर्ति श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' और श्री हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' काव्य में की।

'प्रियप्रवास'

'प्रियप्रवास' अतुकांत वार्णिक-छंदों वर्णवृत्तों का एक युग-प्रवर्तक महाकाव्य है। वह पुराण कथा पर आश्रित है, परन्तु उसमें नैतिक बुद्धिवाद और आदर्शवाद की स्पष्ट मुद्रा है। भागवत के कृष्ण के चरित को 'प्रियप्रवास' में मानवोत्तर रूपरेखा अवश्य ही गई है परन्तु उन्हें ब्रह्म, भगवान् या ईश्वर नहीं वरन् एक लोक-सेवी, लोक-संग्रही, कर्म

योगी महापुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म के रूप में कृष्ण का ग्रहण कवि नहीं करना चाहता था[1] गीता के अनुसार "जो कुछ भी विभूतिमान् लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है वह मेरे (ब्रह्म के) तेजांश से उत्पन्न हुआ है"[2] अत: 'जो महापुरुष है उसका अवतार होना निश्चित है'[3] पौराणिक रूढ़ धारणा के विरुद्ध यह परिवर्तनकारी अनुष्ठान नवयुग में अभिनन्दनीय ही हुआ। आर्यसमाज के बुद्धिवाद ने ही अवतारवाद की यह नई बौद्धिक व्याख्या की।

वस्तुत: 'अवतारवाद' का इससे अधिक उपयुक्त आधार है—

> यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानां सृजाम्यहम्।
> परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम्
> धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
>
> (गीता : ४ : ६)

'प्रियप्रवास' में कृष्ण पुरुषोत्तम रूप में प्रतिष्ठित हुए। परन्तु जहाँ सूर ने कृष्ण के हरि का अवतार होने की स्मृति बराबर कराई है वहाँ 'प्रियप्रवास' में अतिमानव व्यापारों द्वारा उसके महामानवत्व का ही भावन हुआ है। लोकरक्षा और लोकसेवा का युग का आदर्श ही 'प्रिय प्रवास' में मूर्त्त रूप पा गया है।

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास' वस्तुत: प्रबन्ध-काव्य से अधिक भाव-काव्य है। कथा का सूत्र क्षीण है, परन्तु भाव का चित्रण पृथुल है। कवि की दृष्टि कथा-सूत्र पर नहीं मनोभाव के चित्रण पर केन्द्रित है। यशोदा और राधा के वियोग-विलाप सहृदय को रुलाने वाले हैं। उनमें कृष्ण का लोक-रंजक रूप खिल उठा है। राधिका एकान्त प्रेमिका नहीं है; वह विरहिणी अवश्य है। उसकी पवन-दूती तो 'मेघदूत' की परम्परा है परन्तु हरिऔध की मौलिकता भी उसमें है, अत: वह अमर सृष्टि है। प्रेमवियोगिनी राधा अन्त में विरह के मंगलीकरण द्वारा प्रेमयोगिनी बन जाती है। उसका प्रेम विश्व-सेवा, विश्व-प्रेम में पर्यवसित हो जाता है। उद्धव-प्रसंग भी इसमें है परन्तु

---

[1] "मैंने श्री कृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भांति अंकित किया है"
—भूमिका में कवि

[2] यद यद विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्त देवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् (गीता १० : ४१)

[3] 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में कवि।

निर्गुण उपासना के ऊपर सगुण उपासना की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। भक्ति मानव-सेवा के ही उदात्त रूप में चित्रित हुई। इस प्रकार इसमें मानववाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

'ब्रह्म-तेजांश-सम्भव' कृष्ण के चरित में ऐसी कोई अलौकिकता नहीं दिखाई गई है जो अकल्पनीय हो उठे। कवि ने बुद्धिवादी तर्क की सन्तुष्टि के लिए 'कृष्ण-लीला' की अंगुली पर गोवर्द्धन-धारण, कालिय-मर्दन जैसी अति-प्राकृत घटनाओं का बौद्धिक निरूपण किया है। कालियमर्दन में कृष्ण की यह छवि दिखाई गई है—

> अहीश को नाथ विचित्र रीति से,
> स्वहस्त में थे वर रज्जु को लिये।
> बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहुः।
> प्रबोधिनी मुग्धकरी विमोहिनी।
> (प्रियप्रवास : एकादश सर्ग : ४१)

काव्यत्व की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' उस युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। काव्य एक करुण प्रसंग में ग्रथित है। 'करुणा' उसकी आत्मा है, 'वियोग-श्रृंगार' उसका हृदय है। उससे रस की जो धारा प्रवाहित हुई है वह एक हृदयहीन को भी सहृदय बना देती है। काव्य के वहिरंग की दृष्टि से तो वह एक महाकाव्य है ही, अन्तरंग की दृष्टि से वह सचमुच एक महा काव्य है! द्विवेदीकालीन कविता का वह एक ज्योति-स्तम्भ सिद्ध हुआ।

'जयद्रथ-वध'

कृष्ण के चरित की परिधि में 'जयद्रथवध' (मैथिलीशरण गुप्त) भी है। की यह कृति उस काल की काव्य-कला की उत्कृष्ट कृति के रूप में अभिनंदित हुई थी। भाव की दृष्टि से इसमें असत् शक्ति से संग्राम करनेवाले सत् के प्रतीक वीर योद्धा और क्षणभंगुर मोह-ममत्व से ऊपर उठे हुए आत्मोत्सर्गी पुरुष अभिमन्यु का चरित चित्रित है। युग की परिस्थिति की (जिसमें कि विदेशी कूटनीति से भारतीय सत्यनीति का संघर्ष हो रहा था) यह कितनी प्रच्छन्न मुद्रा है! काव्य की दृष्टि से 'जयद्रथ-वध' वीर करुणा और अद्भुत रस की त्रिवेणी ही है।

राम के जीवन पर इस काल में विशाल प्रबंध-सृष्टि करनेवाले दो कवि हुए पहिले मैथिलीशरण गुप्त, दूसरे रामचरित उपाध्याय। गुप्तजी ने 'साकेत' में राम-जीवन को लिया, और उपाध्याय जी ने 'राम-चरित चिन्ता-

मणि' में। यह एक संयोग की बात है कि एक 'मैथिली-शरण' हैं तो दूसरे 'राम-चरित' !

'साकेत' के कलेवर का पूर्वार्द्ध भाग आलोच्यकाल में रचित हुआ और १६२० ई० तक इसकी निश्चित रूपरेखा बन गई थी। अतः 'साकेत' पर हमारा दृष्टिपात करना असंगत नहीं होगा।

यद्यपि 'साकेत' को प्रस्तुत लेखक अभिनव 'राम-चरित-मानस' ही मानता है :

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।[१]

परन्तु 'साकेत' के भाव-प्रणयन का श्रेय उर्मिलादेवी को है। कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने 'काव्यों की उपेक्षिताएँ' लेख में वाल्मीकि और भवभूति की उर्मिला के प्रति, कालिदास की प्रियम्वदा और अनसूया के प्रति और बाण की पत्र-लेखा के प्रति की गई निर्मम उपेक्षा पर दुःख प्रकट किया था। उसी प्रेरणा से श्री भुजङ्गभूषण भट्टाचार्य[२] ने भी "सरस्वती" में "कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता" की ओर इंगित किया था—

(१) "क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा वध किया गया देख जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुख से विदीर्ण हो हो गया और जिसके मुख से "मा निषाद" इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी वही पर-दुःख-कातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल ही भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की उसकी खबर तक न ली।"

(२) "तुलसीदास ने भी ऊर्म्मिला पर अन्याय किया है।...... आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को ऊर्म्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद झट कह दिया—गये लषण जहँ जानकि नाथा।

आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक "लषण" पर इतनी सख्ती क्यों ? अपने कमण्डलु के करुणा-वारि का एक भी बूँद आपने उर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया एक ही चौपाई में सीता की दशा का वर्णन कर देते।...ऊर्म्मिला को

१. 'साकेत' का मंगलाचरण २. श्री द्विवेदी जी का छद्मनाम।

जनकपुर से साकेत पहुँचाकर उसे एकदम भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

(३) "राम-लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी ऊर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर ऊर्म्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—"इयमप्यपरा का ?" अर्थात् लक्ष्मण यह कौन है ? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं ! इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गये वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे—ऊर्म्मिला को सीता देवी पूछ रही हैं ! उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही ऊर्म्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया।

खेद की बात है कि ऊर्मिला का उज्ज्वल चरित-चित्र कवियों के द्वारा आज तक उसी तरह ढकता आया।"

—कवियों की ऊर्मिला विषयक उदासीनता[1]

सम्पूर्ण लेख अत्यन्त भाव-प्रवण शैली में लिखा गया था। गुप्त जी ने आचार्य की इस प्रेरणा को गुरु-मंत्र की भाँति ग्रहण किया और उन्हीं चिरउपेक्षिता उर्मिला के प्रति न्याय किया 'साकेत' में। उर्मिलादेवी को कुछ सर्ग गुप्तजी ने आलोच्य काल में[2] अर्पित कर दिये थे। बीच में उनकी रचना होती रही। सम्पूर्ण चित्र सन् १९३१ में उद्घाटित हुआ। इस प्रकार 'साकेत' में एक युग की साधना पुंजीभूत है।

'ऊर्मिला विषयक उदासीनता' की बीज-प्रेरणा हिन्दी में उर्मिला से सम्बन्धित कई काव्यों के रूप में प्रतिफलित हुई थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इसी प्रेरणा से 'उर्मिला' शीर्षक लघु प्रबंध लिखा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'विस्मृता उर्मिला' काव्य का प्रारम्भ किया, जो अभी तक अपूर्ण है। इन सब काव्यों में 'साकेत' ही शीर्ष-स्थानीय है।

'साकेत' के इस प्रकार आंशिक रूप से हमारे अनुशीलन का विषय होगा। 'साकेत' में राम-भक्त कवि ने राम की कथा का ही प्रणयन किया है, परन्तु उर्मिला की करुणा-कोमल प्रेरणा होने के कारण उनके जीवन के

---

१. सरस्वती : जुलाई १९०८ २. प्रथमसर्ग (जून १६), द्वितीयसर्ग (जुलाई १६), तृतीयसर्ग (जनवरी १७), चतुर्थसर्ग (मई १७), पंचमसर्ग (जुलाई १९१८)

वे ही अंश और प्रसंग प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत हुए हैं जिनमें उर्मिला का चित्र प्रमुख है। एक मात्र उपेक्षिता उर्मिला को ही समर्पित यह काव्य नहीं है। वह 'साकेत' है और राम-चरित अंगभूत होने के कारण वह अभिनव 'रामचरितमानस' ही है। 'साकेत' का स्वर उत्कृष्ट और उदात्त है। युग के पौराणिक प्रबन्धकार के पास जो दृष्टि, जो आदर्श, जो अभिव्यक्ति होनी चाहिए वह 'साकेत' में परिदर्शित होती है। गुप्त जी की कविता में अर्थ-गौरव की मुद्रा रहती है। साधु-सुष्ठु भाषा और उदात्त-उज्ज्वल भाव आदि उनकी विशेषताएँ साकेत' में समन्वित हो गई हैं।

सच तो यह है कि 'प्रिय-प्रवास' में रस की धारा कठिन-कठोर शिला-खंडों के बीच मे कल-कल स्वर मे बहती है। 'साकेत' में वह उदात्त-उच्च घोष करने वाली निर्मल स्रोतस्विनी की भाँति है। केवल भावना से ऊँची उठकर हिन्दी कविता कल्पना और अनुभूति से सम्पन्न हो गई है इसे देखने लिए 'साकेत' आदर्श है।

'साकेत' के राम 'रामचरित-मानस' की भाँति ईश्वरावतार ही हैं और उन्होंने अवतार लिया है।

> पथ दिखाने के लिए संसार को।
> दूर करने के लिए भू-भार को।

'साकेत'कार का राम के प्रति भक्ति-भाव पैतृक-परम्परागत है और वह इस युग के बुद्धिवाद से विचलित नहीं हुआ, केवल एक क्षीण संशय व्यक्त करके रह गया है—

> राम, तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
> विश्व में रमे हुए, सभी कहीं नहीं हो क्या?
> तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
> तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

दयानन्द से भी अधिक प्रगतिशील गांधी जिस प्रकार राम को ईश्वर मानते हैं और रामनाम तथा 'रामराज्य' को लौकिक रोगों की औषधि और राजतन्त्र के आदर्श की संज्ञा देते हैं; उसी प्रकार गांधीभक्त मैथिलीशरण राम को विश्व-व्याप्त न सुनकर स्वयं 'निरीश्वर' बनने के लिए प्रस्तुत हैं पर राम को मानव ही मानने को प्रस्तुत नहीं। 'साकेत' के राम स्वरूप में तुलसी के

'राम' के ही प्रतिरूप हैं, परंतु जीवन-व्यापारों में वे एक नवयुगीन राजा के प्रतीक हैं। तुलसी और गांधी के राम का पूर्ण आदर्श साकेत के 'राम' में मूर्त्त हुआ है।

रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित-चिन्तामणि' का स्थान राम-चरित काव्यों में 'साकेत' के पश्चात् ही होगा। उसके सर्ग १९१४ से 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे थे। युक्ति-पूक्ति-मय भाव-विन्यास से पूर्ण इस काव्य में 'रामचरित मानस' से 'वाल्मीकि रामायण' का अधिक प्रभाव है। 'रामचंद्रिका' की भाँति इसमें कई मार्मिक स्थलों की उपेक्षा हुई है—जैसे चित्रकूट-प्रसंग की। भरत का चरित्र इसमें हीन रूप में अंकित हुआ है। कहीं-कहीं पर देश-भक्ति, समाजोन्नति आदि की भावना बलपूर्वक कथा में बिठाई गई है।

उर्मिला की बड़ी बहिन वैदेही पर वाल्मीकि और तुलसी की विरसता को धोने के लिए हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' नामक विशाल आख्यानक काव्य में हाथ लगाया।[1]

पूर्णजी का 'राम रावण-विरोध' एक चम्पू है परंतु ब्रजभाषा में। श्री 'सनेही' ने राम-जीवन के राम-वनगमन तथा लक्ष्मण-मूर्च्छा जैसे करुण प्रसंगों के आधार पर स्फुट भावात्मक अभिव्यक्तियाँ कीं। राम-वन-गमन के समय 'कौशल्या-विलाप' की रचना में तो 'प्रिय-प्रवास' के यशोदा-विलाप की ही अनुकृति है।

श्री अंबिकादत्त व्यास ने 'कंस-वध' काव्य, वियोगी हरि ने 'शुकदेव' खंड काव्य तथा गोविन्ददास ने 'बाणासुर पराभव' काव्य की रचना की। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने सत्यवादी हरिश्चन्द्र के आख्यान पर 'करुणालय' गीति-नाट्य प्रस्तुत किया।

जयशंकर 'प्रसाद' का 'सत्यव्रत' (चित्रकूट), रामचरित उपाध्याय का 'लंका का जयचन्द','कृष्ण चैतन्य गोस्वामी का 'ध्रुव', महन्त लक्ष्मणसिंह का 'विदुषी सुमित्रा', देवशरण शर्मा का 'धृतराष्ट्र का खेद', मन्नन द्विवेदी का 'सती सुलोचना', 'लक्ष्मणकुमार', कृष्णाकर का 'उत्तरा-मिलन' (मुक्त काव्य) छोटे-छोटे पौराणिक प्रसंग हैं।

कई कवियों ने पौराणिक आदर्श व्यक्तियों के जीवन को दृष्टि में रखते हुए

---

[1] 'उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे 'वैदेही वनवास' के कर कमलों में पहुँचने तक मुझे क्षमा करें। इस ग्रंथ को मैं अत्यन्त सरल हिन्दी और प्रचलित छन्दों में लिख रहा हूँ।'—प्रिय-प्रवास' की भूमिका में कवि।

प्रशस्तियाँ लिखीं। ऐसी प्रशस्तियाँ हैं—वीरवर सौमित्र (हरिऔध) और राम (रामनरेश त्रिपाठी) आदि।

(ख) ऐतिहासिक आख्यान.

भारतीय काव्य-शास्त्र की प्रतिष्ठित परम्परा के अनुसार तो काव्य के रूप में ऐसे ही व्यक्ति के प्रति कवि-श्रद्धा प्रवाहित होनी चाहिए जो मानवोत्तर हों; दूसरे अर्थों में वे अवतार, अथवा देव-पुरुष या दिव्य जन हों। तुलसीदास जैसे भगवद्भक्त कवि ने तो

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।

तक कह दिया था। आधुनिक युग की बौद्धिक चेतना इस रूढ़ि से बँधी नहीं रह सकती थी। मध्ययुगीन विचारों ने आभिजात्य की यह लक्ष्मण-रेखा खींची थी; पर कवि अब उसका उल्लंघन करने लगे। जो व्यक्तित्व अपनी दूरस्थता में प्रागैतिहासिक अथवा पौराणिक हो गये हैं वे ही महान् और उच्च और आदर्श हैं तथा 'प्राकृत जन' जन-मन को प्रेरणा ही नहीं दे सकते यह भी एक शास्त्रीय गतानुगतिकता ही थी। अतः इसका स्वतः उच्छेदन हुआ और उत्तरभावी ऐतिहासिक युगों के उच्च व्यक्तित्व भी जीवन की विविध दृष्टियों से प्रेरणादायक हुए।

संस्कृत काव्यों में राम और कृष्ण दिव्य नायक हैं परन्तु 'नैषध-चरित' आदि काव्यों में ऐसे पुरुष भी नायकत्व पा सके हैं जो दिव्य कोटि में नहीं आते। इस काल में प्राय: ऐसे चरित्रों का चयन हुआ जो राष्ट्रीय जीवन में कुछ प्रेरणा दे सकते हों।

'जीवन की पृष्ठभूमि' में हम देख चुके हैं कि २० वीं शती का समाज और राष्ट्र अगति से प्रगति की ओर और दासता से मुक्ति की ओर जाने का संघर्ष कर रहा है। व्यक्ति और वर्ग सभी अपना-अपना दायित्व इनमें अनुभव कर रहे हैं। आर्थिक और राजनैतिक ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी पतन से उन्नति की ओर जाने की उत्कट अभिलाषा सार्वभौम हो गई थी। अपने अलौकिक और लौकिक महापुरुषों के जीवन और आदर्श ने देशवासियों को प्रेरणा दी। उसी प्रेरणा को अब लोकरंजनी करने के लिए इस काल के कवियों ने अपने उस अटल व्रत को तोड़ा जो तुलसीदास ने शपथ के साथ दिलाया था। तुलसी के आराध्य दाशरथि राम थे और दाशरथि राम में ही उन्होंने अपने ब्रह्म-रूप परमाराध्य के स्वरूप के दर्शन किये थे। राम को

उन्होंने अज-अनादि-अनन्त ब्रह्म का रूप माना, जो पृथ्वी का भार दूर करने के लिए अवतीर्ण हुआ है। उन्हीं के चरित में तुलसीदास ने लोक-कल्याण का आदर्श देखा। ऐसे अलौकिक स्वर्ग की ऊँचाई पर बैठकर वे नरक पर क्यों अपनी कविता को भेजते? घर, तुलसीदास के समय में ही कविगण स्वर्ण और रजत के आकर्षण से अभिभूत होकर दिल्लीश्वर को जगदीश्वर मानने लग गये थे अत: 'गुण-गान' की मर्यादा तो दूर हो गई थी। एक 'भक्त' ही उसका पालन कर सकता था।

आधुनिक युग में बौद्धिक आग्रह से इस काव्य-गत रूढ़ि का उच्छेद हुआ। इस काल में वे महामहिम महापुरुष भी श्रद्धा के आलम्बन बने जो अपने समय में जाति और समाज के सेवक, रक्षक और उन्नायक रहे। उनके जीवन के किसी आदर्श-प्रेरक तत्त्व को लेकर कवि ने इन आख्यान-काव्यों की रचना की। कई आख्यानों में तो उनके जीवन के स्फुट प्रसंग ही लिये गये।

'महाकाव्य' के योग्य नायक शताब्दियों में एक ही दो हुआ करते हैं; अत: गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के यशस्वी अनुवादक कवि श्रीधर पाठक ने ४ वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से अभिभाषण करते हुए कहा था—

"अपने इतिहास-पुराणों का मन्थन करके जो-जो हमारे जातीय बलवर्द्धक उपयुक्त प्रसंग मिलें उनके आधार पर उत्कृष्ट काव्य प्रस्तुत करने से क्या हमारी वर्तमान स्थिति के सुधार और उन्नति में विपुल साहाय्य मिलने की संभावना नहीं है? इसी प्रकार का साहाय्य दूसरे सभ्य देशों के साहित्य से अनुवाद द्वारा मिल सकता है। इसमें भी हमें सोद्योग होना चाहिए।"

इसी भावना से अब वीरों की गाथाएँ गाई गईं। वीरगाथा और वीर-गीत लिखने की प्रेरणा कवि में क्यों होती है? मानव-मनोविज्ञान के अनुसार इसका रहस्य यह है कि जाति और समाज के वर्तमान को अपेक्षाकृत मलिन देखकर वह अपने स्वप्नों के कल्पना-लोक में उज्ज्वल पक्ष की ओर भागता है और उनके स्तवन, अर्चन, पूजन और प्रशस्ति द्वारा महान् व्यक्तित्वों या सामान्य व्यक्तियों के आदर्श तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण से आत्म-सन्तोष अर्जित करता है। तब पीड़क, शोषक, आक्रामक विदेशी सत्ता के प्रति उसका आक्रोश वैरी से जूझते हुए वीर पुरुषों की ललकार में सुनाई देता है। इससे

जातीय चेतना को अभिव्यक्ति भी मिलती है और उद्बोधन भी। राजनीति चेतना से सम्बंधित होने के कारण इन प्रशस्ति-काव्यों को राष्ट्रीय कविता की कोटि में भी रखना पड़ता है।

आदर्श इतिहास-कथाएँ सामयिक भूमिका में तो उन्नयनकारी होती ही हैं परन्तु कभी-कभी समानान्तर परिस्थितियाँ होने पर भावी युगों में भी प्रतीकात्मक रूप में प्रेरणा देनेवाली सिद्ध होती हैं।

जबतक कविता का अस्तित्व है तबतक ये इतिहास-कथायें कवियों के कण्ठों से गाई जाती रहेंगी जबतक जाति में व्यक्ति और समाज के आदर्श के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रहेगा। श्री सियारामशरण गुप्त ने चन्द्रगुप्त और गोकुलचन्द्र शर्मा ने प्रताप महाराणा और गांधी महात्मा के वीरत्वपूर्ण रोमान्चकारी आख्यान कविता में सुनाये इसका यही रहस्य है।

छोटे-छोटे आख्यानों की तो कोई इयत्ता ही नहीं—जयशंकर 'प्रसाद' ने 'महाराणा का महत्त्व', कामताप्रसाद गुरु ने छत्रपति 'शिवाजी', 'वीरांगना' 'चाँदबीबी' और 'दुर्गावती' तथा भगवानदीन ने 'वीर पंचरत्न' में वीर-वीरांगनाओं के जीवन की झाँकियाँ दीं।

इनमें सबसे पहिला प्रयास जो खण्ड-काव्य है श्री सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय' है। उसमें कवि ने प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक वीर चन्द्रगुप्त मौर्य की गाथा गाई है। चन्द्रगुप्त मौर्य यूनान के सम्राट् अलक्षेन्द्र के विरोध में आर्यावर्त का प्रतिनिधि होकर अपने शौर्य और पराक्रम से उठ खड़ा होता है अतः भारत-गौरव उसमें मूर्त हो जाता है। कवि-मानस भी उसी भारत-गौरव से उच्छ्वसित हो उठा है—

जग में अब भी गूँज रहे हैं गीत हमारे,
शौर्य्य-वीर्य्य गुण हुए न अब भी हमसे न्यारे।
रोम-मिश्र चीनादि काँपते रहते सारे,
यूनानी तो अभी-अभी हमसे हैं हारे।
सब हमें जानते हैं सदा भारतीय हम हैं अभय,
फिर एकबार हे विश्व ! तुम गाओ भारत की विजय !

काव्य-कला की दृष्टि से 'मौर्य्य-विजय', देश-प्रेम और देशाभिमान के उदात्त भावों से उच्छ्वसित है। देश की विपज्जाल से मुक्त करने की प्रेरणा उसमें

युग की भावना की छाया के रूप में आई है। उत्साह का परिपाक उसमें वीर रस की अवस्थिति कर सका है। राष्ट्र का पददलित दर्प उसमें ऊर्जित रूप में फुंकार कर उठा है। सैनिकों का गीत बड़ा ओजस्वी है।

जयशंकर 'प्रसाद' ने मध्यकालीन क्षत्रिय वीर महाराणा प्रताप के तेजस्वी जीवन का एक प्रसंग लेकर 'महाराणा का महत्त्व' (१९१३) गीति-रूपक लिखा। नवाब रहीम की पत्नी को क्षत्रियों ने पकड़ लिया है, पर आर्यवीर राणा प्रताप के रहते कोई क्षत्रिय शत्रु-नारी पर भी हाथ नहीं उठा सकता—

'सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह
कहिये-कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दें, चाहें हों शत्रु की।'

महाराणा का महत्त्व इन दो पंक्तियों में समाविष्ट है—

शत्रु हमारे यवन—उन्ही से युद्ध है,
यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।

अकबर और प्रताप के (हिन्दू-मुसलिम) ऐक्य का स्वर भी इसमें है—

दो महत्त्वमय हृदय एक जब हो गये
फैलेगा फिर वह महान सौरभ यहाँ
जिसके सुखमय गंध-प्रेम में मत्त हो
भारत के नर गावेंगे यश आपका।

द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' ने औरंगजेब के द्वारा रूपनगर की राजकुमारी प्रभावती (चञ्चलकुमारी) को राजप्रासाद में माँगने की इतिहास-प्रसिद्ध घटना को लेकर वीररस पूर्ण लघुकाव्य—'आत्मार्पण' (१९१९)—लिखा। इस काव्य में चूंडावत सरदार की नववधू हाड़ी रानी के शिर काट कर देने का आख्यान भी अन्तर्भूत है। दो-दो रोमांचक क्षात्रोचित कर्मों का चित्र होने के कारण यह सहज ही प्राणोत्तेजक बन गया है। क्षत्रिय राणा राजसिंह को प्रभावती का पत्र मिलने पर उसने चूंडावत सर्दार को वहाँ भेजा। उसने शाह की सेना को पराजित किया परन्तु स्वयं भी आहूत हो गया! उसकी हाड़ी रानी पहिले ही उसे मुंडमाल दे चुकी थी! दो बलिदानों की यह गाथा रोमांचकारिणी है!

स्वाधीनता-संग्राम और स्वदेश के बन्धनों से मुक्ति के संघर्ष के दिनों में कवियों को महाराणा प्रताप का ओजस्वी जीवन सहज प्राण-प्रेरक हो गया। यह उल्लेखनीय है कि प्रताप को हिन्दुओं ने सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय वीर माना है—मुसलिम-विरोध की भावना की गंध लेकर इसे साम्प्रदायिक ही कहकर अवमानित करना आज अनुचित होगा। उसे सदैव एक राष्ट्रवीर के रूप में स्मरण किया गया है।[१] अस्तु

गोकुलचन्द्र शर्मा ने राणा प्रताप के जीवन का वह करुणोज्वल प्रसंग चित्रित किया है जिसमें उनके विपन्नावस्था में परिवार के साथ जंगल में रहने, घास की रोटी बनाकर बच्चों को खिलाने, अकबर को संधिपत्र लिखने, और अन्त में पृथ्वीराज के प्राणोत्तेजक पत्र से उद्बुद्ध होकर मातृभूमि उद्धार के लिए भामाशा के धन से फिर सेना खड़ी करके मुगल सम्राट से जूझने के वीरोचित प्रयासों का समावेश है। मानसिंह के अपमान की कहानी भी उसमें आ जाती है।

'प्रणवीर प्रताप' 'जयद्रथवध' की शैली में है—वही छन्द, वही ओज, वही भाषा-विन्यास। यह एक दुःखान्त काव्य है परन्तु उसकी कुछ पंक्तियाँ अत्यन्त प्राणोत्तेजक और ओजस्वी हैं—

> स्वामिन ! मिला स्वाधीनता का स्वर्ग सुख जो है यहाँ,
> है प्राप्त सो सिंहासनस्थित नृपति को जग में कहाँ ?
> अनिवार्य ही है मृत्यु तो निज देह क्यों बेचें अभी ?
> हो जायँगे भययुक्त क्या दासत्व स्वीकरके कभी ?
>
> (प्रणवीर प्रताप : १२८)

उसकी ये पंक्तियाँ तो मंत्र की भाँति हैं—

> वह व्यर्थ ही जन्मा जगाया देश को जिसने नहीं।
> जातीय जीवन की झलक आई कभी जिसमें नहीं।

'प्रणवीर प्रताप' का यही सन्देश है।

गोकुलचन्द्र शर्मा ने वर्तमान काल के राष्ट्र-वीर महात्मा गांधी को भी एक खण्डकाव्य का नायक बनाया है।

राजनैतिक पीठिका में कहा जा चुका है कि सन् ११ से ही सिन्धु की लहरों के साथ इस महामानव की कीर्ति स्वदेश के वातावरण में गूँजने

---

[१] प्रताप के पवित्र नाम पर गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने पत्र का नाम 'प्रताप' रक्खा था।

लगी थी। एक महात्मा के रूप में वे आदरणीय, पूजनीय हो गये थे। स्वयं कवि के शब्दों में—

"उनका हृदय मानवी प्रेम का पारावार है, परमात्मा में उनकी अविचल और अनन्य श्रद्धा है। वे सत्य के सेवक हैं। सेवा के सिपाही हैं। धर्म ही उनकी ध्वजा है। सत्याग्रह ही उनका अमोघ अस्त्र है। आत्मबल ही उनका तेजोमय तनुत्राण है। वे निर्भयता की मूर्ति हैं, सहिष्णुता के सह्याद्रि हैं। दया के अवतार हैं। नम्रता के नीरनिधि हैं और पतितों के वे प्राणाधार हैं। उनके मत में घृणा का प्रतीकार प्रेम है। 'पराजय' शब्द उनके कोष में ही नहीं। वे संयमशील हैं, कर्मवीर हैं, मातृभूमि के भक्त हैं, स्वतन्त्रता के उपासक हैं……।"

—'गांधी-गौरव' की भूमिका

ऐसे महामहनीय पुरुष को केवल 'धीरोदात्त' आदि विशेषण देना भी व्यर्थ है। भारतीय जीवन के सूत्रधार गांधीजी की गाथा इसमें ओज-प्रसादमयी भाषा में गाई गई है। कवि श्रद्धाप्लावित हृदय से गौरव-चित्रण करता है अतः उसमें रागात्मक तत्त्वों की बहुलता है; फिर भी शैली प्रायः वर्णनात्मक ही है। कविता में एक उदात्त स्वर है, राष्ट्र का उत्साह इसमें बोलता सा है। पशु-बल के विरोध में 'सत्याग्रह' के प्राण-संचारक आत्मबल की इसमें प्रशस्ति है—

(१) यदि धर्म-रक्षा इष्ट है तो मान पर मरते रहो,
सड़ते रहो, संकट सहो पर देश-दुख हरते रहो।

(२) मूर्च्छा कहाँ यदि मृत्यु भी आजाय तो फिरना नहीं,
इस दुःख से बच दास-बंधन में हमें गिरना नहीं।

स्वयं चरितनायक को राम का देवत्व भी मिला है—

गांधी तुम्हारी टेक किस अविवेक को न विवेक है ?
श्री राम के वनगमन से क्या प्रिय अधिक अभिषेक है?

और अन्त में 'सत्याग्रह' का विजय-घोष भी है—

है शक्ति सत्याग्रह अमोघ, अजेय है, अविवाद है।
इस विश्व में विश्रुत रहा इसका सदा जयनाद है।

वीर-गीत (Ballad)

लाला भगवानदीन की जातीय चेतना पौराणिक और ऐतिहासिक वीरों की पूजा बनकर आई। 'वीर पंचरत्न' में राणा प्रताप, तारा, वीरा और दुर्गावती, आल्हा-ऊदल-जैसे वीर और वीरांगनाओं की ओजस्वी कहानी कड़खे पर गेय हुई है। दीनजी के इन वीर-गीतों (ballads) में अपने धर्म, अपने देश और अपनी जाति के गौरव के स्वर अत्यन्त सशक्त हैं। इन झाँकियों का मंच पौराणिक काल से लेकर मुसलमान तक विस्तीर्ण है। वीर-रक्त के प्रति कवि के मानस में अबाध श्रद्धा उच्छ्वसित हुई है। वीर बालकों की वीर-क्रीड़ा उसने इसलिए गाई है कि—

लड़कों ही पै निर्भर है किसी देश की सब आस,
बालक ही मिटा सकते हैं निज देश की सब त्रास,
बालक जो सुधर जायँ तो सब देश सुधर जाय,
हरएक का दिल मोद से भण्डार सा भर जाय।

क्षत्रिय के प्रति कवि में अखण्ड श्रद्धा इसलिए है कि—

क्षत्री का परम धर्म है रणखेल मचाना।
रणभूमि में मरना है तुरत स्वर्ग में जाना।[1]

और कवि ने पौराणिक-ऐतिहासिक वीर-रक्त की ही पूजा नहीं की आधुनिक युग के अल्पख्यात वीर-रक्त को भी उसने पत्र-पुष्प चढ़ाया है। रायमती कोटा की, जसमा मालवा की, नीलदेवी नूरपुर (पंजाब) की और कमला मोहनपुर (बुलन्दशहर) की भूमिपुत्रियाँ हैं। कवि ने आभिजात्य और आवजात्य में भी कोई भेद नहीं माना है, वह तो शौर्य और वीरता के तत्त्व का उपासक है।

'वीर-पंचरत्न' में वीर-रस की धारा अजस्र है। रौद्र, वीर का मित्र, समय-समय पर प्रकट होकर ओज बढ़ा देता है। छन्द कड़खा भी ओज गुण और वीर-रसोत्पादक है। 'वीर क्षत्राणी' में वीर दर्प अधिक तीव्र है। कहीं उसमें युद्ध की ललकार है—

हाँ वीरो! खबरदार न हिम्मत को हराना।
तज वीर के बाने को न बन जनाना।

तो कहीं युद्ध के नाट्यचित्र हैं—

---

[1] 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।' —गीता

जिस ओर लपक जाती थी सरदार की तलवार।
मुण्डों के उधर ढेर थे, रुण्डों के थे अम्बार।

ध्वन्यर्थव्यंजना के कारण इन दृश्यों में नाटकीय सजीवता आ गई है—

चेतक कभी उछला, कभी कूदा, कभी दबका,
इस ओर को दपटा, कभी उस ओर को लपका।

वेशभूषा-वर्णन में, तलवार-बर्छी के प्रहारों में, शत्रु के प्रति ललकारों में, कवि ने प्रसंगानुरूप शब्द-योजना करके वर्णन में चित्रमयता भर दी है—

फर्राते अधर दोनों हैं भुजदण्ड फड़कते।
उत्साह से छाती के किवाड़े हैं धड़कते।
नथने हैं बने धौंकनी, हैं दाँत कड़कते।
पहनी हुई चोली के हैं सब बन्द तड़कते।

आल्ह-खण्ड से लेकर आज तक के वीर-गीतों का इतिहास जिस दिन लिखा जायगा उस दिन 'वीर-पंचरत्न' के वीर गीतों का मूल्यांकन होगा। वीरगीतों की प्रभावात्मकता वाद्य-साहचर्य से सिद्ध होती है। कड़खा गाने वालों के हाथों में जाकर ये गीत वस्तुत: प्राणोत्तेजक हो सकते हैं। छापे ने तो लोक-गीतों के मौखिक प्रचार की हत्या ही कर दी है। लोकगीतों के प्रचार का मूल्य जाननेवाले किसी राजनेता ने कहा था—मुझे वीरगीतकार चाहिएँ, फिर मैं विधान-निर्माता नहीं चाहूँगा। दीनजी ऐसे ही वीर-गीतों के गायक हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग' (१९०९) और विकट भट (१९१८) की रचना चारणों की गाथाओं के आधार पर ही की; इनमें यथार्थ और आदर्श का सम्मिश्रण है। इनमें जहाँ एक ओर राजपूत सरदारों के अहंकार से प्रेरित होकर तलवारें खींच लेने की संकुचित प्रवृत्ति की ओर इंगित है, वहाँ अपने आन-बान-मान की रक्षा के लिए अपने शरीर को होम देने का ऊँचा आदर्श भी व्यंजित है। 'रंग में भंग' गुप्तजी की प्रारम्भिक रचना है, पर 'जितनी ही कारुणिक है, उतनी ही उपदेशपूर्ण भी'।[1] 'विकट भट' की रचना बायें हाथ से कर ली गई जान पड़ती है। उसमें कवि ने 'मिताक्षरी'[2] वर्णवृत्त का प्रयोग किया है।

श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्री कामताप्रसाद गुरु, श्री वृन्दावनलाल वर्मा आदि-आदि अपने-अपने प्रदेशों अथवा जनपदों में प्रख्यात वृत्तों पर पद्याख्यान लिखते रहे हैं।

[1] भूमिका में महावीरप्रसाद द्विवेदी [2] इसकी परिभाषा के लिए देखिए पृष्ठ ९७

इसी नाम के उड़िया काव्य की स्वतन्त्र छाया श्री लोचनप्रसाद पांडेय की ऐसी कविता है 'केदार-गौरी', जिसमें दो प्रणयी युवक-युवतियों की हृदय-विदारक दुःखान्त प्रेमकथा है। इसी प्रकार की एक पद्य-कथा है 'सहगमन' जिसमें पति-पत्नी की अपने-अपने कर्तव्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने की घटना रोमांचक है।

मैथिलीशरण गुप्त ने जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की सीसोदिया रानी (विन्दुमती ?) के द्वारा रणक्षेत्र से भागे हुए पति की 'भयंकर भर्त्सना'[1] की घटना को लेकर क्षत्राणी के तेज के प्रति प्रशस्ति दी है। राणा प्रताप को उद्बोधन का प्रसंग भी अत्यन्त ओजस्वी है। पृथ्वीराज कवि का वह पत्र, डिंगल में, अत्यन्त प्रसिद्ध है। जब यह पत्र प्रताप को मिला तो राणा का क्षत्रियत्व जाग उठा और तब उस पत्र के उत्तर में महाराणा प्रताप, इस कवि के शब्दों में, कहते हैं—

तुम्हारी वाणी है अमृत, कवि जो हो तुम अहो।
जिया हूँ मानों मैं मरकर पुनः पूर्व सम हो।
सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातंत्र्य-सुख से।
करूँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से।[2]

दिसम्बर १६०६ की 'सरस्वती' में एक चित्र प्रकाशित करते हुए सम्पादक ने लिखा था—

"आज तक 'सरस्वती' में कितनी ही कविताएँ ऐसी निकली हैं जो चित्रों को देखकर उन पर लिखी गई थीं। आज हम एक ऐसा चित्र प्रकाशित करते हैं जो इस संख्या में अन्यत्र प्रकाशित पं० कामताप्रसाद गुरु कृत 'दासी-रानी' नाम की कविता के दृश्य के अनुरूप अंकित किया गया है।"

कुछ कवियों ने अपने देश के ऐतिहासिक वीर-वीरांगनाओं को प्रशस्तियाँ भी दीं, जैसे 'वीरवधू संयुक्ता' (हरिऔध), 'जननि-विलाप' (माधव शुक्ल) 'शिवराज स्तोत्र' (रामचरित उपाध्याय) आदि।

(ग) काल्पनिक आख्यान

कल्पना-प्रसूत आख्यानों की रचना भी इस काल में हुई है। यद्यपि संख्या और परिमाण में वे स्वल्प ही हैं, परन्तु मूल्य में वे अत्यन्त बढ़े-चढ़े हैं।

१. सरस्वती, सितम्बर १६१३ २. सरस्वती, नवम्बर १६१३

पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में काल्पनिक आख्यान की परम्परा खड़ी बोली में कविवर श्रीधर पाठक के अनुवादित प्रेमाख्यान 'एकान्तवासी योगी' द्वारा प्रवर्तित हुई थी। इस सरस अनुवाद के द्वारा हिन्दी कविता में एक नई दिशा का उद्‌घाटन हुआ था। वासनामूलक प्रेम (श्रृंगार) में जड़ीभूत कल्पना एक नये सञ्चरण-क्षेत्र को पाकर रोमांचित हुई थी। मानव-हृदय की प्रेम-संज्ञक शाश्वत वृत्ति के वासना-वलित चित्रण के स्थान पर सात्विक मानव वृत्ति का अंकन स्वस्थ जीवन-रक्त का संचार करनेवाला सिद्ध हुआ।

'एकान्तवासी योगी' की प्रशंसा में लन्दन के 'दि इंडियन मैगज़ीन' (जून १८८८ ई०) ने लिखा था—

"एक निरीक्षण-शील व्यक्ति का यह प्रयत्न देशवासियों को प्रेम वासना के अतिचार से छूटकर प्रकृति की अधिक सुखद सुषमाओं का साक्षात्कार करने में प्रेरक होगा। ऐसा प्रयास प्रोत्साहन का पूर्ण अधिकारी है, क्योंकि भावना के इस परिवर्तन का परिणाम सम्पन्न होने पर, भारत के लिए सबसे अधिक मंगलमय होगा। भारतीय कविता को उसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन विकृत कर देता है, मन को मेघाच्छन्न स्वप्न देश में उड़ा ले जाता है और मानव को महान् बनाने वाले व्यवहार्य गुणों को कुण्ठित कर देता है। दूसरी ओर, प्रकृति की सरलता हृदय का परितोष और उन्नयन करती हुई मानस को जगत की वस्तुस्थिति और सम्भावनाओं की परिधि में ही बनाये रखती है।"[१]

"It is obviously an attempt on the part of an observing man, to lead his countrymen from the extavagance of romance, and to induce them to realise the more satisfying beauties of nature. Such an effort deserves every encouragement, for the consequences of such a change of sentiment, if ever accomplished, would be most benficial to India. The exuberance of highperbole which disfigures Oriental verse and legend lifts the mind into the clouds of dreamland, and weakens the practical virtues which make a people great. The simplicity of nature, on the other hand, while satisfying and ennobling the heart keeps the mind within the range of fact and probability."

'एकान्तवासी योगी' में एक अत्यन्त मधुर आख्यान है। रमणी द्वारा प्रेम-परीक्षा के व्याज से उपेक्षित पुरुष निराशा और अवसाद में एकांतवासी योगी बन जाता है। उसके पास एक दिन एक युवकवेशधारी व्यक्ति उक्त पुरुष की खोज में आता है। योगी उसे विषण्ण देखकर उसकी व्यथा-कथा सुनना चाहता है। सुनते-सुनते उसे अचानक विदित होता है कि वह युवक नहीं, एक सुन्दरी है और उसी की प्रेमिका-प्रियतमा। इस प्रकार दो चिरवियुक्त और अनभिज्ञात प्रेमी नियति के इंगित से पुनर्मिलन द्वारा चिर संयुक्त हो जाते हैं।

कथा का अमिश्रित प्रेम-तत्त्व, वस्तुस्थिति का गोपन, कुतूहल और विस्मय का आवरण और अन्त में अमर प्रेमभाव की अभिव्यंजना 'एकान्त वासी योगी' काव्य की विशेषतायें हैं। पाठकजी का अनुवाद भी भारतीय भावना के अनुरूप ही हुआ था।

वस्तुतः पाठकजी की यह अनुकृति हिन्दी कविता में नई दिशा की उद्-भाविनी हुई। इस प्रेम-काव्य की कथा का सम्मोहन इसी से अनुमानित किया जा सकता है कि 'एकान्तवासी योगी' की नाटकीय पुनर्मिलन की परम्परा में आलोच्य काल के कवियों ने अनेक प्रेमाख्यानों की सृष्टि की। जयशंकर 'प्रसाद' के 'प्रेमपथिक' (ब्रजभाषा) में तो प्रेम का निराश चिंतन है। परन्तु इनके नवीन 'प्रेम-पथिक' (१९१३) में, रामचन्द्र शुक्ल के (ब्रजवाणी में लिखित) 'शिशिर-पथिक' में, रामनरेश त्रिपाठी के, 'मिलन' (१९१७) और आलोच्य काल की सन्ध्या वेला में रचित सुमित्रानन्दन पन्त के ग्रन्थि काव्यों में गोल्डस्मिथ के 'एकान्तवासी योगी' की मोहक मर्मस्पर्शी कल्पना-योजना की ही विविध प्रतिक्रियायें हैं।

'प्रेम-पथिक' (प्रसाद) के आख्यान में, अपनी कुटिया के कुञ्ज में बैठे हुए पथिक से उसकी कथा सुनाती हुई एक विधवा विधुरा तापसी (पुतली या चमेली) अचानक पाती है कि आनन्दनगर का वासी यह पथिक तो उसी का चिरपरिचित प्रेमी बाल-सखा है, जिसके साथ उसका परिणय न हो सका था। वही वियोगी प्रेम-पथ-पथिक आज इतनी वियोगावधि के पश्चात् उसके प्रणय-वृत्त में आ गया है, परन्तु वासना की तृप्ति के लिए नहीं, विश्वप्रेम और कल्याण में अपने साथ उसे भी मिलाने के लिए। 'प्रम-पथिक में प्रेम तत्त्व का दार्शनिक चिन्तन है—

पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर, तो नीचे काँटे बिछे हुए।

प्रेम एक यज्ञ है—

प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पाओगे !

प्रेम का आदर्शीकरण ही इसमें है—

प्रेम पवित्र पदार्थ; न इसमें कहीं कपट की छाया हो !

प्रेम वासनामूलक मनोभाव नहीं, विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने का एक मन्त्र है—जहाँ विरह है ही नहीं—

प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।

पथिक के शब्द—

"आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

में विवेकानन्द की वेदान्त-प्रकाशिनी वाणी ही बोल रही है।

ब्रजभाषा में रचित रामचन्द्र शुक्ल के 'शिशिर-पथिक' में एक सैनिक युद्ध से लौटकर पथिक रूप में स्वदेश आया है। शिशिर की रात्रि को एक वृद्ध ग्रामीण के घर में वह आश्रय पाता है। वहाँ वृद्ध की पुत्री से अपनी कथा सुनाने में उसे विदित होता है कि वह अपनी ही ससुराल में पहुँच गया है और पत्नी के पास पति ही पथिक के रूप में प्रस्तुत है।

'मिलन' और 'पथिक'

देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति में युवकों और युवतियों के आदर्श की व्यंजना करने के लिए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने आलोच्यकाल में 'मिलन' और 'पथिक' दो सुन्दर खण्ड-काव्य लिखे। कल्पना-प्रसूत आख्यान होते हुए भी इनमें देश का वर्तमान समाज ही चित्रित है—जिसके उद्धार की पुकार है। 'मिलन' में प्रजा विदेशी राज्य में पीड़ित है, 'पथिक' में स्वदेशी

राजा के राज्य में पीड़ित। 'मिलन' में विदेशी शासन के आततायी शासन से मुक्ति की प्रेरणा से और 'पथिक' में स्वदेशी एकतन्त्रीय शासन के अत्याचार और अन्याय के प्रति विद्रोह के रूप में, जन्मभूमि के लिए जीवन होम करने का आह्वान है! उस पुकार और आह्वान को सुननेवाले दो युवक-युवती ('मिलन' में आनन्द और विजया : 'पथिक' में पथिक और पथिक-प्रिया) हैं— जो प्रणयी-प्रणयिनी हैं, जिनकी धमनियों में प्रणय का उष्ण रक्त संचरित है। नायक-नायिका के आगे प्रणय अथवा जनसेवा (मिलन) समाज-विरक्ति या समाज-सेवा के समस्यामूलक अन्तर्द्वन्द्व हैं। अंत में प्रणयी-प्रणयिनी अपने प्रणय को जन-सेवा में पर्यवसित करते हैं। प्रेमयोगी देशयोगी बनते हैं।

'मिलन' में पति-पत्नी स्वतन्त्र किन्तु एक-दूसरे से अज्ञात, समाज-सेवा में लीन होते हैं, जनता संगठित होती है, विदेशी आततायी शासक से युद्ध होता है। नायक आहत होता है पर मृत्यु के मुख से निकल आता है। सहसा नायिका के आक्रमण से शत्रु पराजित होता है और विदेश स्वतन्त्र होता है।

'पथिक' में देश-सेवी पथिक एक सत्याग्रही है जो अत्याचारी राजा की पीड़ित प्रजा की सेवा का व्रती है। सेवा-पथ में संकट सहता हुआ वह पुत्र-कलत्र की मृत्यु देखता है और स्वयं भी बलि हो जाता है। बलिदान के उपरांत ही जनता अनुप्राणित होती है और असहयोग के उपाय द्वारा विजयी होती है। प्रजा अत्याचारी राजा को निर्वासित करती है और जनता का राज्य (स्वराज्य) स्थापित होता है। कवि के दो मधुर स्वप्न इन दो काव्यों में चित्रित हुए हैं।

(सर्वहारा का जीवन)

सबसे अधिक संतोष का विषय यह है कि स्वर्ण-मण्डित आभिजात्य से और मनोरंजिनी कल्पनाओं से अपने मन को हटाकर कुछ कवियों ने चिर-पीड़ित उपेक्षित सर्वहारा की ओर भी अपनी दृष्टि डाली। कल्पना ने केवल वस्तु-स्थिति में रंग भरने का काम किया। मैथिलीशरण गुप्त और उनके अनुज सियारामशरण इस दिशा में किसान और 'अनाथ' द्वारा अग्रणी रहे।

'किसान' वस्तुतः भारत के आर्थिक जीवन के दुःखद अध्याय गिरमिट-प्रथा की प्रतिक्रिया है। एक किसान फीजी द्वीप में पकड़कर ले जाये जाने के पश्चात् वहाँ भाँति-भाँति की यातनायें झेलता है और अन्त में वह किस प्रकार उद्धार पाता है यह किसान में चित्रित है।

'अनाथ' में एक भूमिपति-वणिक-शोषित अकिंचन मोहन किसान की आर्त्त-कथा है, जिसका ज्येष्ठ पुत्र रोग-शैय्या पर है, छोटे बेटे के रोटी माँगने पर वह लोटा गिरवी रखकर चून लेकर लौटा आता है कि बीच में चौकीदार उसे बेगार में पकड़ लेता है। थाने में उधर वह पकड़ा हुआ है, उधर घर में मरणासन्न पुत्र और वेदना-विकल पत्नी से ऋण माँगने काबुली पठान आ धमकता है और पत्नी को बेगार में पकड़ ले जाता है। मोहन थाने से बेगार से छूटा तो मालगुजार के सिपाही के फन्दे में फँस गया और वहाँ ले जाया गया जहाँ राग-रंग हो रहा था। वहीं उसे पुत्र की मृत्यु का दुःसंवाद मिला, लौटा, तो पत्नी भी वहाँ न थी। यह देखकर वह भी मृत्यु की शरण में चला जाता है। इस प्रकार एक ऋणभार-ग्रस्त त्रस्त कृषक की यह दुःखान्त कथा है जो कानों में कहती रहती है—

> पशु-तुल्य हम लाखों मनुज हा! जी रहे क्यों लोक में?
> जीते हुए भी मर रहे पड़कर विषम दुख-शोक में।

श्री केशवप्रसाद मिश्र ने छोटी-छोटी स्फुट कविताओं में दीन-जीवन की कहानी की रूप-रेखायें दीं। मातादीन उनकी कहानियों का नायक है। बाढ़ आने पर उसके

> बच्चे मोथे के समान कीचड़ में डूबे
> मातादीन बचा न सका, बिगड़े मन सूबे।[१]

और बेगार में पकड़े जाने पर

> दुखिया मातादीन न इससे बचने पाया;
> गठरी लादे भूखों मरकर प्राण गँवाया।[१]

'नौकर की रात' (सिवई गुलाबचन्द जैन) कविता में भी एक नौकर की दयनीय दशा की झाँकी है।

कुछ ऐसे कल्पित कथा-प्रबन्ध भी लिखे गये, जिनमें किसी नैतिक गुण-अवगुण का निदर्शन है। किसी आदर्श का इंगित करना ही उनका उद्देश्य था जैसे—'मक्खीचूस' (मैथिलीशरण गुप्त), 'जुआरी की आत्म-कहानी' (महादेव प्रसाद सेठ), 'सर्वोत्तम पुण्य कर्म' (दामोदरसहायसिंह)।

१ वर्षा और निर्धन : सरस्वती अगस्त १९१६

कई कवियों ने काल्पनिक प्रसंग बनाकर (जैसे 'बी. ए.' ने 'सोऽहं' में) समाज की बुराइयों का लेखा-जोखा किया।

पशु-जीवन की कथाओं के माध्यम से भी कोई नैतिक या सामाजिक उपदेश देने की दृष्टि से कई पद्याख्यान लिखे गये हैं जैसे 'जम्बुकी न्याय'[१] (महावीरप्रसाद द्विवेदी), 'पराधीन सिंह'[२] (रामचरित उपाध्याय) 'बन्धन ही मुक्ति-मार्ग है'[३] (प्रयागनारायण संगम) आदि। ऐसी भी कुछ कविताएँ लिखी गयीं जो किन्हीं निर्जीव पदार्थों के संभाषण या स्वगत-भाषण के माध्यम से आख्यान की व्यंजना करती है, जैसे लक्ष्मीधर वाजपेयी की 'असि और लेखनी' इन कविताओं का हार्द कुछ-न-कुछ उपदेश-दान ही होता था।

भाव-काव्य

विश्व के महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' एक अत्यन्त हृदयहारी काव्य है। इसका अगाध सम्मोहन काव्य-रसिकों पर है और रहेगा। इसकी सरसता का मूल कारण यह है कि इस अमर काव्य में मेघ एक मानव की प्रेमविह्वल आत्मा का, विरह-व्याकुल हृदय का प्रेम-संदेशवाही दूत बना है। यही उसके सौरस्य का मर्म है। पूर्णजी ने १९०२ में 'मेघदूत' का ब्रजवाणी में अनुवाद (धाराधर-धावन) किया था। श्री रामचरित उपाध्याय ने जो 'पवनदूत' कविता लिखी, उसमें स्पष्टतः 'मेघदूत' की प्रेरणा है।[४] उसी की परम्परा में उसकी सृष्टि हुई है। विरही हृदय के ये उद्गार कितने कोमल हैं!—

१—मम वियोग से मूर्च्छित जो वह होगी पड़ी विकल अबला,
तेरा स्पर्श अमित सुखदायक उसे लगेगा बहुत भला।
नेत्र सफल तेरे भी होंगे इसमें शंका नहीं समीर,
बिखरे केश वदन पर देखे कंचन सा अधखुला शरीर।

२—लिखती हो जो पत्र मुझे तो वहीं पास तू जाना बैठ,
देख देखकर सुख पावेगा बदन भाव भौंहों की ऐंठ।
सात्त्विक भाव उसे जब होगा बदन स्वेद से छावेगा,
उसे पोंछने को तब तेरा चञ्चल चित ललचावेगा।

---

१. सरस्वती : मार्च १९०६ २. मर्यादा : मार्च १९१२ ३. मर्यादा : जुलाई १९१३
४. धोयी कवि का 'पवनदूत' प्राचीन काव्य भी मिला है।

३—करती हुई ध्यान मेरा यदि सखी साथ बैठी हो मौन,
उसके हृदय अचानक लगकर ध्यान भंग मत करना पौन।

इस भाव-सरणी का अवगाहन करने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि 'हरिऔध' ने जो अपने 'प्रिय-प्रवास' में वियोगिनी राधा के लिए 'पवनदूती' की सृष्टि की है उसमें स्पष्टतया इस 'पवनदूत' की है, किंतु सूक्ष्म। हरिऔधजी की तूलिका ने अवश्य अपनी विशेष उद्भावनाओं के रंग भी उसमें भरे हैं।

रामचरित उपाध्याय ने आगे (१६१८ में) 'मेघदूत' के ही अनुकरण में अपना 'देवदूत' लघुकाव्य लिखा। वह निस्सन्देह एक सुन्दर प्रयास है। इसका विषय मानव-प्रेम नहीं देश-प्रेम है। उसमें देश के गौरव की, पराधीन वर्तमान की, भावी स्वाधीनता की प्रेरणा है।

(घ) अनुवादित आख्यान

रूपान्तरित आख्यान की भी परम्परा अच्छी है। सम्पन्न-समृद्ध भाषा के साहित्य को हिन्दी भाषा में रूपान्तरित करने की प्रेरणा अच्छे कवियों को आचार्य द्विवेदीजी ने दी थी। विविध भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान का यह प्रयत्न शुभ है। श्री केशवप्रसाद मिश्र और लक्ष्मीधर पांडेय ने 'मेघदूत' के रूपांतर खड़ी बोली में किये।

अनुवादित आख्यानों में कई मौलिक से भी श्रेष्ठ हुए। वे वस्तु में पौराणिक भी हैं और ऐतिहासिक या प्रख्यात और काल्पनिक भी।

श्रेष्ठ बंग-कवि श्री माइकेल मधुसूदन दत्त के अनेक आख्यानक काव्य हिन्दी में रूपान्तरित हुए और एक सबल-सफल लेखनी द्वारा। मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' महाकाव्य को ओजस्वी उदात्तता के कारण मिल्टन के 'पेरेडाइज लॉस्ट' महाकाव्य से समता दी जाती है; द्विवेदीजी ने इसका काव्य-गौरव स्वीकार किया था। बंग-भाषा में युगान्तरकारी काव्य के रूप में वह प्रतिष्ठित था। इसमें अमित्र छन्द का सफल प्रयोग कवि ने कर दिखाया था। गुप्तजी ने भी इसे हिन्दी 'वर्णवृत्त' में उतारकर अमित्रकाव्य की देन दी।

मधुसूदन दत्त का एक पौराणिक कथात्मक विप्रलंभ-श्रृंगार-काव्य है 'व्रजांगना'। इसके भी सर्ग 'सरस्वती' में 'मधुप' कवि के नाम से अनुवादित होकर क्रमशः प्रकाशित होते रहे: 'यमुना-तट पर राधिका' (मई १२), 'मयूरी' (जुलाई १२) 'मलय मारुत' (अगस्त १२), ऊषा (जुलाई १९१३)

और भ्रमरी (दिसंबर १४) इनके प्रकाशन ने यह सिद्ध कर दिया कि गुप्तजी सफल अनुवादक हैं। इस 'मधुप' ने वंग कविता का वास्तविक मधुपान करके उसे उतने ही मधुर रूप में हिन्दी को दिया। 'विरहिणी ब्रजांगना' के छन्द अनुवाद नहीं जान पड़ते :

आओ सखि, बैठें हम दोनों मौन परस्पर कण्ठ धरें,
तुम घन का, मैं मनमोहन का, निज-निज धन का ध्यान करें।
क्या तेरा होता वह यद्यपि देती है तू मन घन को ?
पावेगी अब और हाय क्या राधा राधा-रञ्जन को ?
('मयूरी')

'ब्रजांगना' के द्वारा विरहिणी के मनोभावों और अनुभूतियों का अन्तर्जगत उद्घाटित हुआ।

'सरस्वती' द्वारा प्रेरित पौराणिक चित्रों के पश्चात् ही गुप्तजी ने बंगकाव्य की इस भाव-कृति पर दृष्टि डाली थी।

बंगला की कृत्तिवासीय रामायण के स्फुट प्रसंगों ने भी एक-दो कवियों को आकृष्ट किया और हिन्दी में उसके आधार पर कुछ कवितायें प्रस्तुत हुईं जैसे द्वारकाप्रसाद गुप्त की 'वीरबालक'।[1]

उड़िया कविता से अनुवादित 'केदार-गौरी' (लोचनप्रसाद पांडेय) तथा बंगला के शुकदेव से प्रभावित वियोगी हरि के 'शुकदेव' की भी सृष्टि हुई। श्री पारसनाथसिंह भी सरस प्रसंगों को दूसरी भाषा (विशेषतः बंगला) से हिन्दी में लाने में विशेष सजग थे।

कामताप्रसाद गुरु ने यूलिसिस (Ulysis) और सत्यनारायण कविरत्न से होरेशस (Horatius) आदि विदेशी वीरों पर आख्यान लिखे।

परन्तु इन सब में बड़ा प्रयत्न था एड्विन आर्नल्ड के प्रसिद्ध काव्य 'लाइट ऑव एशिया' (Light of Asia) का ब्रजभाषा में रूपान्तर— 'बुद्ध-चरित'। यह हमारे ऐतिहासिक पुरुष बुद्ध का काव्य-चरित है। इस काव्य में कवि ने अनुवाद में मौलिकता का पुट देकर उसका भारतीयकरण किया है।

लघु आख्यान-काव्य के लिए स्वदेश में ही विपुल पौराणिक-ऐतिहासिक आधार हैं। 'सोने की थाली'२ (कामताप्रसाद गुरु) को पढ़कर कदाचित यह भ्रम होगा कि वह मौलिक कृति है। परन्तु वह अंग्रेजी के 'प्लेट ऑव गोल्ड'

१. सरस्वती. दिसम्बर १९१६ २. सरस्वती, दिसम्बर १९११

(Plate of gold) का छायानुवाद है। अंग्रेजी साहित्य में ऐसी कई गाथायें और आख्यायिकायें भारतीय संस्कृति के तत्त्वों की प्रेरणा से लिखी गई हैं। भारतीय जीवन ने विदेशी लेखकों को भी प्रभावित किया है।

उदात्त भावों की प्रेरणा उदात्तभावी कवि को विश्व के रंगमंच पर घटित घटनाओं से मिलती रहती है, फिर उसमें यह संकीर्णभाव नहीं रहता कि यह मेरे देश का गौरव है, यह विदेश-विजाति का—'अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्'। इसका एक उदाहरण है टाइटैनिक जलयान के डूबने की घटना पर लिखी गुप्तजी की कविता 'टाइटानिक की सिन्धु-समाधि'। कविता का अंतिम छन्द 'भरतवाक्य' की भाँति सुन्दर भावों से स्पन्दित है—

बौद्ध भिक्षुओं की वह वाणी अब भी मुग्ध कर रही प्राण
सम्भव नहीं, बौद्ध होकर जो करें प्रथम हम अपना त्राण
हमें अपेक्षा करनी होगी—बुद्ध देव की है यह उक्ति—
कब तक? "जब तक तुच्छ कीट तक पा न सकें पृथ्वी पर मुक्ति!"

२: सामाजिक कविता-धारा

सम्पूर्ण हिन्दी कविता की परम्परा में यदि किसी काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने का धर्म पालन करती है तो वह है द्विवेदीकाल की कविता। वास्तव में सामाजिक कविता का सूत्रपात भारतेंदु-काल में हो चुका था, परन्तु उसको परिपूर्णता मिली इस काल में।

ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों की सामाजिक गतिविधि का पूर्ण प्रतिबिम्ब सामाजिक कविता में है। वह समाज के प्रति जितनी अधिक जीवित और जागरूक है उतनी पहिले कभी नहीं थी।

सामाजिक जीवन की भूमिका में हम देख चुके हैं कि भारतीय जीवन मैथिलीशरण के शब्दों में 'कुरीतियों का केन्द्र', 'सभी गुणों से हीन' और रूढि जर्जर हो गया है। आर्य्य समाज ने सामाजिक पक्ष को लेकर अपना सुधार-कार्य बड़ी सफलता से किया है। समाज राज की भित्ति है अतः समाज का निर्माण करने के लिए प्रत्येक कवि अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है।

कवि वर्ग समाज के उत्थान का मर्म जानता है और वह सुधार और उन्नति का कविता में अभिनन्दन ही नहीं करता उसकी प्रेरणा भी देता है। सुधार के स्वरूप पर सब कवि एकमत हैं,-कुछ धार्मिक विषयों पर मतभेद झलकता है परन्तु वह नगण्य है।

उस जीवन-भूमिका को देखने के पश्चात यदि कविता का अनुशीलन करें तो हम यह कह सकते हैं कि इस काल की कविता का मूल स्वर सामा-

१. हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा।—भारत-भारती

जिक ही है। यदि दूसरे शब्दों में हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि कवियों का एक हाथ समाज के हृदय पर है, कान उनके जनपथ पर उठने वाली ध्वनि के साथ हैं और और हाथ में लेखनी है। हृदय की धड़कन को उनका बायाँ हाथ सुनता है और दायाँ लिखता है और कान से सुनी हुई जन-ध्वनि को भी उसमें अंकित कर देता है। इस प्रकार की है द्विवेदीकाल की समाज-परक कविता।

भारतेन्दुकालीन कविता में भी भारतीय जन-समाज का क्षीण निश्वास-प्रश्वास सुनाई देता था, परन्तु उस काल का कवि समाज की दीन-हीन दशा पर केवल क्षुब्ध था, उसके स्वर में उच्छ्वास मात्र था; आलोच्यकाल के कवि की विशेषता यह है कि वह समाज का यथार्थ दिखाने में बड़ा निर्मम है और आदर्श की ओर इंगित करने में बड़ा सतर्क और जागरूक है! सामान्य मानवता के जीवन और अनुभूतियों का चित्रण पहली बार इस काल के कवियों ने किया है।

—समाज की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ—

आर्य्य-समाज ने नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नवचेतना की सृष्टि की थी और राष्ट्रसभा की प्रवृत्तियों ने समाज की आर्थिक अवनति और अगति की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। इस प्रकार इन प्रेरणाओं से कवि में सामाजिक दृष्टि का सृजन हुआ था। चिर उपेक्षित विषय कविता को मिलने से शत-शत अभिव्यक्तियाँ हुईं। इस काल का कवि आदर्शवाद का कवि है। आदर्श की व्यंजना में भी दो प्रकार की दृष्टि है—एक समीक्षक की, दूसरी सुधारक की; एक को हम यथार्थवादी और दूसरी को आदर्शवादी प्रवृत्ति कह सकते हैं।

यथार्थवाद की धारा में दो प्रकार की व्यंजना की लहरें उठी हैं। एक तो वह जिसमें कवि की दृष्टि व्यंग्यात्मक है; दूसरी वह जिसमें वह करुणात्मक है। एक से रोष ध्वनित होता है दूसरी से करुणा। दोनों में वेदना प्रच्छन्न रूप से है। इसी को हमने निषेधात्मक (Negative) आदर्शवाद कहा था।

उनकी सेवा करने की प्रेरणा है तथा उनके सुख-समृद्धि की अभिलाषा आशा, याचना और प्रार्थना है ! यह विधायक आदर्शवाद है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद में विभाजित इस सामाजिक कविता का अब हम अनुशीलन करेंगे। वह स्मरणीय है कि इस कविता में यथार्थ चित्रण प्रखर और मुखर होते हुए भी उसे आदर्शवाद ही कहना होगा। कवियों की दृष्टि में आदर्श ही लक्ष्य है; यथार्थ का अंकन तो उसी ओर इंगित करता है। यह आदर्श यथार्थ की भित्ति पर आधारित है और यथार्थ आदर्श की दृष्टि कोण से है।

सामाजिक कवियों में अग्रणी कवि-युग्म श्री श्रीधर पाठक और राय देवी-प्रसाद पूर्ण अपनी सौम्य और उदात्त वाणी में समाज की दुर्बलताओं को चित्रित करते हैं। वे आर्द्र नेत्रों से उसे देखते हैं और पाठक की करुणा को जगाते हैं। उनके स्वर में एक प्रकार की अनुभवजन्य गंभीरता है।

छोटे छोटे पद्य-प्रबन्धों में रुग्ण समाज पर सशक्त व्यंग्य लिखनेवालों में अग्रणी हैं कवि-शंकर। उनका स्वर एक आर्यसमाजी आलोचक का है। लोभ-लालच, दम्भ-पाखण्ड, छल-कपट, लूट-खसोट, छुआछूत, मद्यमांसभक्षण भ्रूण-हत्या, व्यभिचार, ऋण, बालवृद्ध-विवाह, फूट, विदेशी सभ्यता आदि समाज के नैतिक, धार्मिक-सांस्कृतिक किस दोष पर कवि की दृष्टि नहीं गई ? आर्यसमाजी सुधारक की दृष्टि से उन्होंने समाज में दोष-दर्शन किया है। उनका 'अविद्यानंद का व्याख्यान' 'कह्लीकलाप', 'प्रशस्त पाठ,' 'पंचपुकार' आदि में उनकी खरी व्यंग्योक्तियां भरी पड़ी हैं।

'भारत-भारती' के वर्तमान खण्ड में कवि मैथिलीशरण गुप्त ने सामयिक समाज का चित्र खींचा है। इसमें भी उनका उद्देश्य सुधार की प्रेरणा है।

उन्होंने कभी व्यंग्यपूर्ण कण्ठ से और कभी करुणा-विगलित कण्ठ से देश की दरिद्रता और दुर्भिक्ष की, पीड़ित कृषकों और श्रमिकों की निकृष्ट अर्थ-व्यापार और वाणिज्य की, अविद्या और अशक्ति की, नैतिक और धार्मिक रूढ़ियों (अनमेल विवाह, वरकन्या-विक्रय, भिक्षावृत्ति, दासता, मद्यपान, गृहकलह, अनाचार, विलासिता, तीर्थों का व्यभिचार) और हिन्दी भाषा और साहित्य के तथा संस्कृति के प्रति अनास्था आदि दूषणों की निन्दा की है। 'भारत-भारती' में वर्तमान खण्ड के इन विविध चित्रांशों को देखकर समाज का यथार्थ स्वरूप पुतलियों में झूलने लगता है। उनकी 'भारत-भारती' भारत की त्रिकाल-दर्शिनी आरसी ही है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के अंतस में करुणा की धारा बहती है। चौतुकों, चौपदों, छतुकों व छपदों में वे करुणा के आवरण में समाज-कल्याण की स्रोतस्विनी प्रवाहित करते हैं। इनमें उपदेशों के ताने-बाने में समाज-हित बुना गया है। वे 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियं' के समर्थक हैं, अतः कभी उग्र नहीं हुए। वे दुखी होते हैं, पर दुख में वे 'अपने दिल के फफोले' दिखाकर या 'दिल की आह' उठाकर ही रह जाते हैं।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने समाज के शोषित-पीड़ित वर्ग पर प्राणों के रक्ताश्रुओं से अभिसिंचन किया है। विधवाओं, भिखारियों और अनाथ किसानों पर उनकी करुणा अजस्र रूप से प्रवाहित रही है।

'शंकर' जी ने विधवा-विवाह के प्रश्न पर प्रचारक-सुधारक की दृष्टि से 'गर्भरण्डा रहस्य' लघुकाव्य लिखा जिसे समाज के इस पाप के ऊपर घोर घृणा उत्तेजित होती है।

इन सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है श्री रामनरेश त्रिपाठी का, जिनकी लेखनी ने कवि की भाव-प्रसू कल्पना से 'मिलन' और 'पथिक' जैसे काव्यों में भारतीय समाज के आज को प्रतिबिम्बित किया। उसमें यथार्थ का मर्मस्पर्शी अंकन है, और वह बड़ा प्रेरणादायी है।

(१) नैतिक पक्ष

आर्यसमाज ने धर्म-कर्म सम्बन्धी नैतिक पतन की ओर और विवेकानन्द ने हमारी सांस्कृतिक अधोगति की ओर ध्यान दिलाया था। इन विचारों का प्रभाव कवियों की भावना में आना स्वाभाविक था। द्विवेदी जी ने मांसाहार की निन्दा करते हुए 'मांसाहारी को हंटर' लगाकर नैतिक दोष-दर्शन का श्रीगणेश कर दिया था। उन्होंने तो सृष्टिकर्ता विधि की अनीति पर भी व्यंग किया है :

> दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है,
> कुत्सित कर्म-कुशल कुटियों की अन्तरङ्ग उपजाता है।
> मूर्ख धनी विद्वज्जन निर्धन उलटा सभी प्रकार,
> तेरी चतुराई को ब्रह्मा! बार-बार धिक्कार।
>
> (विधि-विडम्बना, मई १९०१)

परंतु ईश्वर से प्रार्थना करते हुए वे समाज की दयनीयता भी नहीं छिपाते।

आलस्य, मोह, मद, मत्सर में हमारे,
जो ये मनुष्य सब डूब गये विचारे।
(भारत की ईश्वर-प्रार्थना)

यह प्रवृत्ति इस काल के अंत तक चलती है क्योंकि ईश्वर की प्रार्थना में भी जाति और राष्ट्र का ध्यान कवियों को नहीं भूलता। 'भारत-भारती' में सभी नैतिक पापों को दूर करने की प्रार्थना भगवान से है—'भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्यभूमि बनाइये।'

वस्तुतः इस काल के कवियों में समाज के सामान्य वर्ग की आन्तरिक निराशा ध्वनित हो उठी है।

धन मान वैभव ज्ञान सतगुण शील आदिक खो चुके,
अबनाश के सामान कर हम क्या रहे सब हो चुके।
(देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर')

समाज के नैतिक पार्श्व को कवि शंकर ने देखा है जहाँ अवगुणों और दुर्गुणों की पराकाष्ठा है—

पाखण्ड भरी पवित्रता है,
छल-बल के साथ मित्रता है।
अस्थिर मन घर घमण्ड का है,
डर है तो राजदण्ड का है।

जहाँ पाखण्ड है—

व्यभिचारी पेट के पुजारी,
बन बैठे बाल ब्रह्मचारी।
मिथ्या सब 'सोहमस्मि' बोलें,
साकार अनेक ब्रह्म डोलें।

और है चरित्रभ्रष्टता—

विधवा रिस रोक रो रही हैं,
लाखों कुल कानि खो रही हैं।
जारों के गर्भ धारती हैं,
जनती हैं और मारती हैं।

ऐसी स्पष्ट और खरी बात कहनेवाला कवि कहाँ मिलेगा?

सरस्वती : अगस्त : ६

'शंकर'जी ने तो विधवा-विवाह के सुधार-अनुष्ठान का प्रचार करने के लिए ही गर्भ में ही विधवा हो गई एक बालिका के जन्म से लेकर समाज-सेविका बनने तक की दुखान्त-सुखान्त कथा 'गर्भरण्डा रहस्य' में सुनाई। पढ़ते-पढ़ते समाज की रूढ़ि के ऊपर क्षोभ और पापाचार पर घृणा और रोष जाग्रत हो जाते हैं।

नैतिक विशृंखलता को उग्रतम रूप में चित्रित करनेवालों में नाथूराम शंकर 'शर्म्मा' का नाम प्रमुख रहेगा। भारत की आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक विपदा का कारण धर्म का पतन होना उन्होंने आर्य समाज के प्रवक्ता के स्वर में ही कहा है—

वर वैदिक बोध बिलाय गयो छल के बल की छवि छूट पड़ी।
पुरुषारथ साहस मेल मिटे मत-पंथन के मिस फूट पड़ी।
अधिकार भयो परदेसिन को धन-धाम धरा पर लूट पड़ी।
कवि शंकर भारत भारत पै भय भूरि अचानक टूट पड़ी।
('शंकर-सरोज')

कवि ने समाज-सुधारक की दृष्टि से सामाजिक पतन को देखा है—

नर नीच अनीति प्रचार करें, अपवित्र प्रथा पर प्यार करें।
खल-मण्डल का उपकार करें, बिगड़ें न समाज-सुधार करें।
अपकार अनेक प्रकार करें, व्यभिचार सुकर्म बिसार करें।
कवि शंकर मन्द विचार करें, बिन ज्ञान बुरे व्यवहार करें।
('प्रशस्त-पाठ')

आचार-विचार, धर्म-कर्म, नीति-रीति की समस्त अधोगति कवि एक ही स्वर में कह गया है।

'हरिऔध'-जी ने समाज-कल्याणी भावना से स्पन्दित होनेवाला हृदय पाया था। छोटी-छोटी कविताओं में उन्होंने समाज की सभी नैतिक दुर्बलताओं पर अपने 'दिल के फफोले' दिखाये हैं। 'जी की कचट' सुनाते और 'अपने दुखड़े' रोते हुए वे 'दुखियों के आँसू' अपनी लेखनी से बहाते हैं परन्तु उनके 'आठ-आठ आँसू' भी पाठक के चित्त को व्यथित कम, चमत्कृत अधिक करते हैं। फिर भी यह कहना होगा कि मनुष्य की बाह्य और आन्तरिक दुर्बलताओं की व्यञ्जना करने में कदाचित ही कोई उन्हें पा सकता है।

उन्होंने समाज के स्वार्थ का ऐसा ताण्डव देखा है कि यह समाज-सेवा-लोक-सेवा भी स्वार्थ से लिप्त है—

जाति के हित की सभी तानें सुनीं
देश-हित के भी लिए सब राग सुन
लोक-हित की गिटकिरी कानों पड़ी
पर हमें सबमें मिली मतलब की धुन

वहिरंग ही नहीं संसार के मानवों का अंतरंग भी उन्हें प्रत्यक्ष था—

प्यार डूबे लोग कहते हैं उमग,
जो कहो अपना कलेजा काढ़ दूँ
पर अगर वे निज कलेजा काढ़ दें
तो कहेगा वह कढ़ा मतलब से ।

(मतल की दुनिया)

की लेखनी शब्द-शिल्प में लीन हो ; है तो वह हृदय है परन्तु चित्त को भी चमत्कृत करती है अतः आर्द्रता क्षणिक ती है।

साद पूर्ण भी सनातन धर्म की नैतिक अधोगति पर क्षुब्ध हैं—

धर्म सनातन रत कहाँ बैठे हो तुम हाय ?
पूज्य सनातन देश का सोच समस्त विहाय !

('स्वदेशी-कुण्डल')

(२) सांस्कृतिक जीवन

अविद्या, अविचार, अनाचार की बुराइयाँ सांस्कृतिक जीवन की बुराइयाँ हैं। 'भारत-भ ी' ने के कवि इन्हें दिखाया है—

छाई अविद्या की निशा है, हम निशाचर बन रहे;
हा ! आज ज्ञानाऽभाव से वीभत्स रस में सन रहे !
विद्या बिना अब देख लो, हम दुर्गुणों के दास हैं;
हैं तो मनुज हम किन्तु रहते दनुजता के पास हैं !
दायें तथा बायें सदा सहचर हमारे चार हैं—
अविचार, अन्धाचार हैं व्यभिचार, अत्याचार हैं !

भारत के अविद्यांधकार पर इस प्रकार आलोक डालते हुए दासत्व के परिणाम वाली शिक्षा पर भी कवि ने विद्रूप किया है—

वह आधुनिक शिक्षा किसी विध प्राप्त भी कुछ कर सको—
तो लाभ क्या, बस क्लर्क बन कर पेट अपना भर सको!
लिखते रहो जो सिर झुका सुन अफ़सरों की गालियाँ!
तो दे सकेंगी रात को दो रोटियाँ घरवालियाँ!

वकालत की कवि भर्त्सना करता है क्योंकि यह एक वृत्ति है जो पारस्पारिक द्वेष को प्रोत्तेजन देती है—

वे वीर हाय! स्वदेश का करते यही उपकार हैं—
दो भाइयों के युद्ध में होते वही आधार हैं!

और विदेशागत उच्च-शिक्षितों की भी—"बारह बरस दिल्ली रहे पर भाड़ ही झोंका किये।" वाली सभ्यता पर अपनी पिचकारी छोड़नेवाले कवि 'शंकर' की यह कविता भी विदेशी सभ्यता के दूत 'जैटिलमैनों' पर तीक्ष्ण व्यंग्य है—

ईश गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय
'शंकर' सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे
बूट पतलून कोट कम्फर्टर टोपी डाट,
जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पियेंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार सी उड़ाय अँगरेजी पढ़
मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे।

हिन्दी को उसका न्यायोचित अधिकार दिलाने के संघर्ष के उन दिनों में बड़े-से-बड़े से लेकर छोटे-से-छोटे हिन्दी प्रेमी की एक प्रमुख वेदना रही है नागरी का निरादर और हिन्दी की हीनता। सभा-समितियों और लोकनेताओं को हिन्दी-स्वत्व के अर्जन के लिए अपने प्राण-पण से आन्दोलन करना पड़ा है। पत्र-पत्रिकाओं में इस आन्दोलन की स्पष्ट गूँज है। कवियों ने भी कविता में कभी तर्क से पाठक को अभिभूत किया कभी भावुक भावना से।

कवि द्विवेदी ने 'ग्रन्थकार-लक्षण' में लेखकों की कई बुराइयों की ओर इंगित किया था। 'भारतभारती' के 'वर्तमान-खण्ड' में कवि गुप्त जी ने हिन्दी-साहित्य की दीनता को दिखाया है—

अब सिद्ध हिन्दी ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो रही,
पर है वही सबसे अधिक साहित्य के हित रो रही !

उस काल के रीतिकालीन अवशेषों की कविता में विलास-वासना का पुट बढ़ता देखकर उदात्त-चेता कवि की लेखनी को लिखना पड़ा—

उद्देश कविता का प्रमुख श्रृंगार रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया।
व वि-कर्म्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ,
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहाँ !
(वर्तमान : १६१)

उसे उपन्यास इत्यादि में अश्लीलता के राज्य को देखकर रोष होता है :

लिक्खाड़ ऐसे ही यहाँ साहित्य-रत्न कहा रहे,
वे वीर वैतरणी नदी का हैं प्रवाह बहा रहे ।
वे हैं नरक के दूत किंवा सूत हैं कलिराज के !
वे मित्ररूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के।
(वर्तमान : १६७)

श्री केशवप्रसाद मिश्र की कविता 'हमारी मातृभाषा हिन्दी और हमारे एम० ए० बी० ए० सपूत' में भी इसी उग्रता की प्रतिध्वनि है—

चाहे विदेशी वर्णमाला आपके पीछे लगे,
चाहे बृहस्पति से अधिक हों आप इंग्लिश के सगे।
जबतक नहीं निज मातृभाषा-प्रीति होगी आपमें,
तब तक नहीं अन्तर पड़ेगा देश के सन्ताप में !

श्री रामचरित उपाध्याय ने भी समाज के मध्यवर्ग की कुप्रथाओं पर व्यंग्य किया। ये कुप्रथायें हैं—परदा-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दम्भ-प्रदर्शन आदि। स्त्री शिक्षा और बालवृद्ध विवाह लीजिए—

१ यदि स्त्रियाँ शिक्षा पातीं तो 'परदा सिस्टम' होता दूर,
और शिक्षिता हो वे धारण क्यों करतीं चूड़ी-सिन्दूर ?
२ बाल-विवाह रोक हम देते यदि हमको मिलते अधिकार,
वृद्ध-ब्याह का किन्तु देश में कर देते हम खूब प्रचार।
क्योंकि साठ के होकर के भी दूल्हा अभी बनेंगे हम;
किसी बालिका से विवाह कर इसमें कभी सनेंगे हम।

छोटी-सी नौकरी पाकर फूले न समानेवाले साहबों के ठाठ-बाट पर यह अच्छी फबती है—

यदि बेगार किसी दफ्तर की किसी तरह भी मिल जावे,
हृदय-सरोवर में वाञ्छा का तो वारिज वन खिल जावे।
फिर क्या इन्द्रासन से घटकर कुरसी पर सुख पाते हम ?
ठाठ बनाकर रोब दिखाते, फूले नहीं समाते हम।

'नीचता के मनोमोदक' में भी उपाध्याय जी ने छुआछूत, आलस्य, लम्पटता, विलासिता, मद्यपान, अशिक्षा आदि नैतिक दुर्बलताओं पर व्यंग्य बाण छोड़े हैं। पर उपदेश-कुशल व्यक्तियों के लिए इन मनोमोदकों में कितनी तीखी मिर्च है !

१. सभी जातियाँ आर्यों के सम बनें, कहूँगा मैं भी
सभा-समाजों में जाकर के बैठ रहूँगा मैं भी
सबसे सबका खाना-पीना, अच्छा है हो जा
पर ईश्वर ! मेरे चौके में कोई कभी न आवे

२. पालन करें एक पत्नीव्रत प्रण करके सब कोई,
रोग-शोक से दीन दशा में तो न रहे फिर कोई
पर मैं कलि का कुँवर कन्हैया बना रहूँ तो क्या है ?
भारतीय सब दुःख सहें पर मैं न सहूँ तो क्या है ?

३. गाँजा भंग अफीम आदि का यदि प्रचार रुक जावे,
तो होकर नीरोग देश यह सदा सभी सुख पावे।
छिपकर किंतु साथ चण्डी के ब्राण्डी पिया करूँ मैं
हानि नहीं जो खुलकर खण्डन इनका किया करूँ मैं

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति रामचरित उपाध्याय जी भी 'ईश्वरता' पर दोषाक्षेप करने से न चूके—

दुखड़ा रोवे सती और असती सुख पावे;
अज्ञ बने धनवान, विज्ञ भूखों मर जावें;
दुर्जन मक्खन चखें, सुजन हैं सत्तू खाते।
तो भी हे जगदीश ! नहीं तुम तनिक लजाते।

उपाध्याय जी ने प्रायः व्यंग्य का ही आश्रय लेकर दुर्बल समाज की अच्छी ख़बर ली है—

मनुजी की वाणी की दुहाई देते हुए 'रामचरितमानस' की 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' पंक्ति पर 'कान्यकुब्ज अबला विलाप' में प्रहार हैं—

महामलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन-रात,
दुखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो कृश करतीं गात।
हे भगवान हाय! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं।
'ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी" हमीं बनाई जाती हैं।[1]

अबलाओं की ओर से करुण स्वर में यह एक मार्मिक क्रन्दन है।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कुप्रथाओं पर वर्षों तक उनकी लेखनी अश्रुपात करती रही। उनकी कविता में करुण-व्यंजना के साथ-साथ काव्य-कौशल भी है। जब बाँसवन में आग लगाते हैं तो अपना ही नाश पहिले करते हैं। 'दहेज की कुप्रथा' भी तो 'वंश' में लगी हुई आग है जिसमें तापकर हम होली मनाते हैं—

यह दहेज की आग सुवंशों ने दहकाई।
प्रलय वह्नि सी वही आज चारों दिशि धाई।
घर उजाड़ बन बना रही कर रही सफाई
ताप रहे हम मुदित समझते होली आई।[2]

श्री केसवराम फड़से ने तो 'परदा' पर मानों एक वक्तृता ही दे डाली उसे पढ़कर परदा-विरोध में बोलने के लिए अच्छी सामग्री तो मिल जाती है। एक मनोरंजक तर्क देखिए—

नख शिखान्त ओढ़े जब नारी
निकले होकर पथसंचारी।
दिखती है तब वह बेचारी।
मानो प्राणी द्विपादचारी।

(परदा, 'मर्यादा': अक्तूबर, १४)

---

१ 'कान्यकुब्ज' अंक ८, १९०६   २ सरस्वती: अगस्त १९१४

(३) धार्मिक जीवन

धार्मिक जीवन के क्षेत्र में यद्यपि आर्य-समाज का सुधारक स्वर ही प्रमुख था परन्तु सनातन धर्म की चिन्ता-धारा भी अभी तक प्रतिरोध करती थी—दोनों की उग्र-क्षीण ध्वनि कविता में मिलती है। कवि 'शंकर' तो भारत की विपदा का कारण धर्म का पतन ही मानते हैं। अपनी सबला लेखनी से यह कवि आर्य समाज के विचारों को कविता में अवतरित करता था।

सांस्कृतिक जीवन-पीठिका में समाज को प्रभावित करनेवाली आर्य समाज की बौद्धिक चिंता का उल्लेख हो चुका है।

आर्यसमाज जिस प्रकार जड़ीभूत समाज की धर्मगत रूढ़ियों के प्रति खड्गहस्त हुआ उसी प्रकार यह कवि भी अपनी वाणी द्वारा उनपर व्यंग्यवाण छोड़ता हुआ आया। वह समाज के मलिन पक्ष का उद्घाटन करने में अत्यन्त निर्मम है।

मूर्ति-पूजा इस आर्यसमाजी कवि को असह्य है। उसकी शंकर भगवान पर लिखी हुई यह व्यंग्य-स्तुति (व्याजस्तुति नहीं) प्रसिद्ध है—

शैल विशाल महीतल फोड़ बढ़े तिनको तुम तोड़ कढ़े हो।
लै लुढ़की जलधार धड़ाधड़ ने धर गोल मटोल गढ़े हो।
प्राणविहीन कलेवर धार विराज रहे न लिखे न पढ़े हो।
हे जड़देव शिलासुत 'शंकर', भारत पै करि कोप चढ़े हो।

मूर्ति पूजा पर इससे कठोर व्यंग्य क्या होगा ?

कर्म और प्रारब्ध पुनर्जन्म और मुक्ति के वितण्डा से घबराकर वे खीझ उठे हैं और उस खीझ में चोट करते हैं—

सने स्वर्ग से लौ लागते रहो।
पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से।
करो मुक्ति की कामना भोग से।

समाज की भाव-भूमि पर विद्रूप काव्य (Satire) उन्होंने लिखे। धार्मिक अनाचार और पापाचार से, दंभ और पाखंड से कवि अत्यन्त क्षुब्ध और व्यथित होता था और उसका समस्त आक्रोश कविता में आकर

उतरता था। हिन्दू-समाज को उन्होंने व्यंग्य के कशाघात से जगाना चाहा है। एक बिचार-रूढ़ि देखिए—

महीनों पड़े देव सोते रहें!
महीदेव डूबें डुबोते रहें!

सनातन धर्म के मन्दिरों में जो विलास-लीलाएँ होती हैं उन्हें नग्न और बीभत्स रूप में उनकी लेखनी ने अंकित किया। अपनी परिहास की पिचकारी कृष्ण पर भी कवि छोड़ता है—

फरिया चीर फाड़ कुबरी को
पहिना लो पचरंगी गौन
अबलक लेडी लाल तिहारी
कहिये और बनेगी कौन?

आर्यसमाजी होने के कारण कवि अपनी साम्प्रदायिक तीव्रता में सनातनी पंडों के प्रति भी उग्र हो गया है—

जाति-पाँति के धर्म जाल में उलझे पड़े गँवार
मैं इन सब को सुलझा दूँगा करके एकाकार
वैतरणी का ठेका लूँगा देकर दाढ़ी मूछ
धर धर वाटर वाइसिकल पर बिना गाय की पूँछ
मरों को पार उतारूँगा! किसी से कभी न हारूगा!!

(पंचपुकार : सरस्वती, मई १६०८)

इसी 'पंचपुकार' की अनुकृति में उसके 'उपसंहार' रूप में गुप्त जी को भी इसी प्रकार व्यंग्यात्मक उक्ति देने की प्रेरणा हुई, जिसमें उन्हीं की भाँति कलंकियों पर छींटे डाले गये हैं। गुप्त जी ने जो आर्य समाजियों पर व्यंग्य किया है वह उनकी सनातनी संस्कृति के कारण—

देश-दशा उन्नत करने की पूर्ण करूँगा टेक।
द्विज होकर भी सबका खाना खाऊँ बिना विवेक।
एकता यों संचारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।

(सरस्वती : जून १६०८)

धर्माडम्बर के ही विरुद्ध आर्य-समाज ने झंडा उठाया था अतः इनकी कविता उग्र है। कटूक्तियों में 'शंकर' जी सचमुच खड़ी बोली के 'कबीर' थे। वे सुधारक हैं, परन्तु कटुभाषी।

सामाजिक सुधार की भाव भूमि पर विचरण करनेवाले ऐसे ही सिद्ध कवि थे राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'। 'शंकर जी आर्यसमाजी थे तो पूर्ण जी सनातनधर्मी। आर्यसमाजी प्रतिपक्षियों के प्रति वे उसी प्रकार उग्र थे जैसे शंकर जी सनातनियों पर। सत्य के खोजनेवालों को इन्होंने एक 'चेतावनी' दी है—

धातु-कोशिला अशुच बताया,
स्याही-कागज़ पर मनभाया
चित्र बनाय, प्रेम बढ़ाय, कमरे में लटकावैं
भाई भोले भाले तुम्हें बहकावैं,
भूले भुलाव और को !

'तिलक और टीका' कविताओं में हरिऔध जी ने हमारे धार्मिक दम्भ पर अच्छी चोटें की हैं।

यथातथ्य-चित्रण में व्यंग का पुट देने में 'भारतभारती' की कई उक्तियाँ ली जा सकती हैं। धर्म की दशा पर 'भारत-भारती' के ये शब्द कितने सटीक है—'हैं लाख में दो चार सु-हृदय शेष बगुला भक्त हैं।'

भारतीय समाज में धार्मिक द्वेष और मत-भेद का राक्षस सदैव जागरूक रहा है—उसी ने समाज को खंड-खंड में छिन्न-विछिन्न किया है :

यों फूट की जड़ जम गई अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न भिन्न समाज सारा दीन दुर्बल पड़ गया।

मंदिर-मठों के महन्तों की पोप-लीलाओं-पर कवि सौम्य स्वर में भी तीक्ष्ण व्यंग्य लिये हुए है—

अब मन्दिरों में रामजनियों के बिना चलता नहीं
अश्लील गीतों के विना वह भक्ति-फल फलता नहीं
वे चीरहरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल है,
भक्तस्त्रियाँ हैं गोपियाँ, गोस्वामि ही गोपाल हैं !

(भा-भा. वर्त॰ १९६)

और तीर्थों के पंडों को कवि ने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है—

वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य हैं,
लड़ना, झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं।

वर्णाश्रम धर्म की अव्यवस्था पर भी कवि ने आलंकारिक व्यंग्य किया है।

(४) आर्थिक जीवन

आर्थिक विषण्णता को कवियों ने अपनी आँखों देखा है। ६७ का दुर्भिक्ष और उसकी त्राहि-त्राहि उन्होंने अपने कानों से सुनी है। ब्रजभाषा में महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'भारत-दुर्भिक्ष' और 'त्राहि, नाथ, त्राहि' हमारे आर्थिक चीत्कार को व्यक्त करती हैं। 'रंक-रोदन' इन कविताओं में सदा सुनाई देता है। 'बलीवर्द' में गो-वध पर कवि को भर्त्सना व्यक्त हुई है—

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज!
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज।
तुम्हें खण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी जन-सिरताज,
धिक उनको उनपर हँसता है; बुरी तरह यह सकल समाज।

'स्वदेशी आन्दोलन' के क्रियाशील होने के पहिले इन हमारे जागरूक कवि के मुख से यह वाणी सुनाई देती है—

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझे है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!
('स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार')

भारतेन्दु केवल 'पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी' कहकर रह गये थे। आलोच्यकाल का कवि उसके कारण भी बतलाता है। देशोपालंभ में कवि का स्वर अधिक स्पष्ट हो गया है।

वाणिज्य-व्यापार ('भारत भारती') में मैथिलीशरण गुप्त ने स्वदेशी से घृणा करने की वृत्ति पर दुख किया है। सुई, माचिस, छड़ियों जैसी वस्तु तो दूर चूड़ियाँ तक विदेश से मँगाना उन्हें व्यथित करता है—

कुल-नारियाँ जिनको हमारी हैं करों में धारतीं—
सौभाग्य का शुभ चिन्ह जिनको हैं सदैव विचारतीं।
वे चूड़ियाँ तक हैं विदेशी देख लो बस हो चुका;
भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका।

भारतीय कला-कौशल के ह्रास पर, भारत में गो-वंश के विनाश पर भी कवि ने कितने ही छन्द लिखे हैं।

दुर्भिक्ष तो इस कविता में मूर्त्त हो गया है—

दुर्भिक्ष मानों देह धर के घूमता सब ओर है
हा अन्न, हा हा अन्न ! का रव गूँजता घनघोर है ?
सब विश्व में सौ वर्ष में रण में मरे जितने हरे
जन चौगुने उससे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे !

गोवध के जघन्य पाप पर कवि की वाणी गाय के स्वर में द्रवित हो उठी है, उसमें एक मर्मस्पर्शी व्यंजना है—

दांतों तले हैं तृण दबाकर दीन गायें कह रहीं—
हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही ?
हमने तुम्हें माँ की तरह हैं दूध पीने को दिया,
देकर कसाई को हमें तुमने हमारा वध किया !

(भा० भा० वर्त० : ६३, ६५)

भिखारी की दयनीय दशा की भी एक झाँकी है—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।
निकले हुए हैं, दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं घुसे,
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे।

(वर्तमान खंड : १४)

इसे पढ़कर तो कवि 'निराला' की ये पंक्तियाँ सम्मुख आ जाती हैं—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता—
पछताता पथ पर आता !
पेट पीठ मिलकर दोनों हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता !

नारी-जाति की आर्थिक दुर्दशा भी कवि ने देखी है—

नारी नरों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो ! जो वस्त्र भी पाती नहीं !
जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे,
देखा गया है, किन्तु वे माँ-पुत्र दोनों हैं मरे !

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के हृदय में भी वेदना है—

है सूना अति दीन संपदा सुख से रोता;
है आश्चर्य अपार कि है वह कैसे जीता!
सुनौ रमापति! हाय! प्रजा धन हीन रैन दिन.
हैं अति व्याकुल वृन्द कुमुद के यथा चंद बिन!

(स्वदेशी-कुण्डल)

'स्वदेशी-कुंडल' काव्य में उन्होंने भारत के आर्थिक पतन का चित्र खींचते हुए उसके पुनरुद्धार के अनेक उपाय करने की प्रेरणा की है।

शंकर कवि ने भी सामाजिक चित्रों में आर्थिक पक्ष पर कुछ रंग-रेखाएँ दी हैं—

क्यों जी बे जोड़ ब्याज खाना!
दोनों को रात दिन सताना!
समझे हैं जो सुशील इनको,
कहते हैं वे कुशील किनको?

समाज की आर्थिक विपन्नता पर प्रकाश डालनेवालों और सहानुभूति के तत्व के साथ भावात्मक तादात्म्य करनेवालों में उल्लेखनीय कवि हैं श्री केशवप्रसाद मिश्र। दरिद्रता, दुर्भिक्ष, भुखमरी आदि उनकी कविता में मुखर हो उठी हैं—

सभा-समाज, देश की सेवा, एवं वाद-विवाद,
जठर-पिठर में चारा रहते आते हैं सब याद।
किन्तु आज ये सभी वस्तुएँ मुझे दीखतीं भार;
हा! हा!! हन्त!!! बिना ही खाये बीत गये दिन चार।

किसान की पीड़ा को वैषम्य में उन्होंने दिखाया है—

जो करता था पेट काट कर सरकारी कर-दान;
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का मान;
आज वही भूखों मरता है मातादीन किसान।

और समाज-वैषम्य के चित्रण में वह बड़ा प्रखर है—

हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास,
फिर कैसे ये तोंद फुलाये खाते विषमय ग्रास?

आर्थिक सभ्यता को वह धिक्कार देता है—

> अगर सभ्यता आज भरे ही को है भरना,
> नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना।
> तो सौ-सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी,
> जीव मात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी ?

('वर्षा और निर्धन' : केशवप्रसाद मिश्र सरस्वती : अगस्त १९१६)

इस दिशा में रामनरेश त्रिपाठी का प्रयत्न विशेष अभिनन्दनीय है जिन्होंने अपने 'मिलन' और 'पथिक' काव्यों के द्वारा संकेतात्मक रीति से समाज के आर्थिक संकट और अभाव का चित्रण किया—

> अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, उद्यम कान उपाय,
> वन भी नहीं और टिकने को, कहाँ जायँ, क्या खाँय।
> लाखों नहीं करोड़ों की है सुख से हुई न भेट,
> मिलता नहीं जन्म भर उनको खाने को भर पेट।

इस प्रकार के हृदयद्रावक चित्र 'मिलन' में हैं।

पीड़ित-शोषित वर्ग

किसान

आलोच्य-काल में आज की ही भाँति कृषकों की दशा दयनीय थी। वे पीड़ित, शोषित और आर्त्त थे। प्रारम्भिक राष्ट्रीय आन्दोलनों का वह सबसे प्रबल पक्ष था। भारतीय समाज के दलित-पीड़ित अंग दीन-दरिद्र किसान को इस काल के कवियों ने अपनी सजल आँखों से देखा है, और कविता में अंकित किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में कृषि और कृषक पर ३२ छन्द लिखे। कवि कृषि-समस्या पर विचार करता है तो कृषकों के आलस्य और प्रमाद पर भी प्रकाश डालता है—

> करते नहीं कर्षक परिश्रम और वे कैसे करें ?
> कर-वृद्धि है जब साथ तब क्यों वे वृथा श्रम कर मरें ?

हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ी हुई 'भारत-भारती' की ये पंक्तियाँ भारत के कृषक-जीवन का यथार्थ चित्र हैं, जिसमें उनका खरा पसीना है—

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा,
है चल रहा सन-सन पवन तन से पसीना ढल रहा।
देखो, कृषक शोणित सुखाकर हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे!

और उसके बदले में मिली हुई रूखी-सूखी रोटी भी—

मध्यान्ह है, उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुंची वहीं,
है रोटियाँ रूखी, खबर है शाक की हमको नहीं
सन्तोष से खाकर उन्हें वे काम में फिर लग गये,
भर पेट भोजन पा गये तो भाग्य मानों जग गये।

पूँजीवाद के चंगुल में फँसे हुए इस कृषक-वर्ग पर स्वतन्त्र रूप से गुप्तजी ने 'किसान' लघु काव्य लिखा है जो भारतीय किसानों की 'गिरमिट' नामक बिपदा में पड़े एक किसान की करुण-कथा है। 'कृषक कथा', 'भारतीय कृषक' आदि स्फुट कविताओं में भी मार्मिक अंकन है—

बनता है दिन-रात हमारा रुधिर पसीना.
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी छीना।
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिए नाथ! हमें अब ऐसा जीना।

(भारतीय कृषक : सरस्वती, मई १९१६)

दीन-हीन अकिंचन जनों के प्रति एक करुणाधारा सच्ची आत्मीयता पूर्ण हृदय से प्रवाहित करनेवाले कई कवि इस काल में मिलते हैं। 'सनेही' जी का हृदय तो सर्वहारा की करुण कहानी से ही स्पंदित है। कविता में इस पीड़ित वर्ग की कहानी को उन्होंने सुनाया है और वह 'आर्त-कथा' पढ़कर 'कृषक क्रन्दन' बन गई है।

'हरिऔध' के चौपदों में, षट्पदों में सामाजिक चित्रण के अन्तर्भूत 'दीन की आह' भी सुनाई देती है—

चहल-पहल है जहाँ वहाँ मातम छा जाता
स्वर्ण छटा है जहाँ वहाँ रौरव उठ आता
दीन आह की ध्वनि यदि हरि कानों में जाती
नन्दन वन है जहाँ आज मरु वहाँ दिखाती

(दीन की आह : मर्यादा, चैत्र '७२)

केशवप्रसाद मिश्र की सरल-सजल कविता में एक प्रत्यक्ष मार्मिकता है। उदाहरण के लिए 'जाड़ा और निर्धन' कविता में कुछ ऐसे ही यथार्थ चित्र हैं जो आज की 'प्रगतिवादी' कविता के अवतरणों से तुलनीय हैं—

(१) सिर पर सदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत;
हाय! हाय! कम्पित होता है जाड़े से भारत का पूत।
छोटे छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट।
किंतु आज वह दुःखित लौटा विफल हुई है उसकी हाट।

(२) एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिनभर काम;
किंतु पेट भर रोटी मिलना उसको है जय सीताराम।
आशावश हो वही खेत की रखवाली करता है रात,
उस जाड़े में वहीं बिताते अपने दुख की सारी रात।

(सरस्वती : फरवरी १९१५)

(५) राजनैतिक जीवन

राजनैतिक जीवन के प्रतिबिम्ब का समावेश राष्ट्रीय कविता के अन्तर्गत होता है, परन्तु वह समाज का ही राजनैतिक पक्ष होता है। सामन्तवाद के राजनैतिक अत्याचार पर काल के कवियों की दृष्टि गई है। राजा-रईसों की विलासिता पर 'भारत-भारती' के कवि ने परिहास के स्वर में कहा है—

'हो आध सेर कबाब मुझको, एक सेर शराब हो।
नूरेजहाँ की सल्तनत है, खूब हो कि खराब हो!'
कहना मुग़ल सम्राट् का यह ठीक है अब भी यहाँ.
राजा-रईसों को प्रजा की है भला परवा कहाँ?

(भारतभारती : वर्त० ७)

तो 'शंकर' जी ने कुछ राजनीति के दम्भी नेताओं पर व्यंग-बाण छोड़े हैं—

अगुआ बनूँ, जेल में जाऊँ, आऊँ पिंड छुड़ाय,
नर-यानों पर बैठ-बैठकर पूरी पूजा पाय।
बड़प्पन यों विस्तारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।

('पंचपुकार' : शंकर)

कवि 'पूर्ण' ने भी समाज का यह पक्ष उपेक्षित नहीं किया। राजनीतिक जगत् में फैले हुए हिन्दू-मुस्लिम द्वेष की ओर देखकर तो कवि के हृदय से आह निकल पड़ी—

हाय हिन्द ! अफसोस ज़माना कैसा आया ;
जिसने करके सितम भाइयों को लड़वाया !
मुसलमान-हिन्दुओ ! वही है कौमी दुश्मन ;
जुदा जुदा जो करे फाड़कर चोली-दामन।

एक ग्रामीण ने 'हमारे प्रतिनिधि' कविता में राजनैतिक प्रतिनिधियों का अच्छा दोष-दर्शन किया है।

रामनरेश त्रिपाठी ने राजनीतिक जीवन को काल्पनिक कथावस्तु द्वारा 'मिलन' और 'पथिक' काव्यों में अंकित किया। 'मिलन' में समाज की राजनैतिक यंत्रणा बोलती है—

नरक-यन्त्रणा से बढ़कर है छाया संकट घोर।
मानव दल में मची हुई है त्राहि-त्राहि सब ओर।

आदर्शवाद की धारा

कविता में शिवत्व की प्रतिष्ठा आदर्शवाद है। हेय से श्रेय की ओर गति इसमें होती है। आलोच्य-काल की सामाजिक कविता में आदर्शवाद दो रूपों में झलकता है। एक रूप है सुधारवाद का और दूसरा सिद्धान्तवाद का। सुधारवाद में कवि सामाजिक श्रेय की एक भावना कविता में अंकित करता है और सिद्धांतवाद में समाज के आदर्श रूप की कल्पना को प्रस्तुत करता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में—आदर्शवाद यथार्थ की विरूपताओं की ही प्रतिक्रिया है। साथ ही आदर्श की अस्पृश्यता यथार्थवाद को जन्म देती है अतः वह दूसरे अतिवाद की प्रतिक्रिया हुई।

आलोच्य-काल में यथार्थवाद से अधिक आदर्शवाद की पूजा रही है। समाज की उत्थान-वेला में आदर्शवाद एक अनिवार्य तत्व होता है।

कविता के स्थायित्व और उच्चत्व की कसौटी देते हुए श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'चोखे चौपदे' की भूमिका में लिखा है—

"जो विचार व्यापक और उदात्त होते हैं, जिनका संबन्ध मानवीय महत्त्व अथवा सदाचार में होता है, जो चरित्र-गठन और उसकी चरितार्थता के सम्बल होते हैं, जिन भावों का परम्परागत सम्बन्ध किसी जाति की सभ्यता और आदर्श से होता है, जो उद्गार हमारे तेजोमय मार्ग के आलोक बनते हैं, उनका वर्णन अथवा निरूपण जिन रचनाओं अथवा कविताओं में होता है वे रचनाएँ और उक्तियाँ स्थायिनी होती हैं। जिस साहित्य में वे संग्रहीत होती हैं वह साहित्य स्थायी माना जाता है।"

हरिऔध जी की इस उक्ति से कदाचित् कई विद्वान पूर्ण सहमत न हों, परन्तु आलोच्य-काल में 'आदर्शवाद' की प्रमुख प्रवृत्ति पर यह समुचित आलोक है।

इसी आलोक में हरिऔधजी के राशि-राशि चौपदे सामाजिक आदर्श की ही मंगल भावना से स्पन्दित होते दिखाई देते हैं। उनमें समाज-कल्याण और मानव-हित की उदात्त और शिव भावना है।

समाज के नैतिक और सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक तथा राजनैतिक पार्श्वों को कवि की आँख ने देखा है और उनके उन्नयन तथा उत्कर्ष के लिए आदर्श की व्यंजना की है। छोटे-छोटे पद्य-प्रबन्धों में, गीतों में, तो वे प्रत्यक्ष आदर्श का व्याख्यान करते हैं, परन्तु आख्यानक कविताओं और काव्यों में वे उसे व्यंजित करते हैं। कदाचित ही ऐसी कोई काव्यकृति हो जिसमें व्यक्ति का सामाजिक आदर्श व्यंजित या अंकित न हुआ हो।

श्री हरिऔध अपने 'चुभते चौपदे' में समाज के धनी वर्ग को अपने जन्म-लाभ की कुंजी देते हैं—

> है भला धन लगे भलाई में।
> हो भले काम पर निछावर तन।
> लोभ यश लाभ का हमें होवे।
> लोकहित लालसा लुभा ले मन।

और वित्तहीन वर्ग को जाति-सेवा की प्रेरणा देते हैं—

> काम मुँह देख देख कर न करे,
> मुँह किसी और का कभी न तके।

जाति-सेवा करे अथक बनकर
न थके आप औ न हाथ थके।

धर्म-पालन की महत्ता पर उनका विश्वास है—

जाति जो हो गई कई टुकड़े
धर्म हिल मिल उसे मिलाता है।
जोड़ता है अलग हुई कड़ियाँ
वह जड़ी जीवनी पिलाता है।

एक वीर का आदर्श देखिए—

सामने पाकर विपद की आँधियाँ
वीर मुखड़ा नेक कुम्हलाता नहीं।
देखकर आती उमड़ती दुःख घटा,
आँख में आँसू उमड़ आता नहीं।

वेदना के ताने-बाने में भी 'हरिऔध' जी ने समाज-हित ही चुना है। व्यक्ति का सर्वोच्च आदर्श वे जगत-हित और लोकसेवा ही मानते हैं—

जी से प्यारा जगत-हित औ लोकसेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।[1]

समाज की कल्याणी शक्ति नारी के प्रति हरिऔध जी सदैव श्रद्धारत रहे हैं। 'प्रियप्रवास' के विरही कृष्ण और विरहिणी राधा समाज-सेवी और लोक-संग्रही नायक-नायिका हैं।

श्री नाथूराम शंकर शर्मा आर्य समाज के प्रतिनिधि प्रवक्ता थे। उनकी व्यंग्योक्तियों में समाज-हित की यह पयस्विनी भी मिल जाती है—

विदुषी उपजैं, समता न तजैं, व्रतधार भजैं सुकृती वर को
सधवा सुधरैं, विधवा उबरैं सकलंक करैं न किसी घर को
दुहिता न बिकैं, कुटनी न टिकैं, कुल बोर छिकैं तरसैं दर को
दिन फेर पिता, वर दे सविता, करदे कविता कवि 'शंकर' को

भारत की प्राचीन आर्य नारी को प्रशस्ति देते हुए अतीत के उसी स्वर्णिम रूप को पुनः अपनी जीवन-ज्योति से लाने की नारी जाति से कवि श्रीधर पाठक भी आशा करते हैं—

---

१ 'प्रियप्रवास'

अहो पूज्य भारत महिलागण अहो आर्यकुल प्यारी।
अहो आर्य गृहलक्ष्मि सरस्वति आर्य लोक उजियारी।
आर्य जगत में पुनः जननि निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य हृदय में पुनः आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ।

यह स्मरणीय है कि विद्यार्थी वर्ग को श्रीधर पाठक, हरिऔध, गोपाल-शरणसिंह आदि कवियों ने भी समाज-सेवा की प्रेरणा दी है।

'पूर्ण' जी ने कबीर की भाँति हिन्दू-मुसलिम समाज को, राम-रहीम की एकता की प्रेरणा 'स्वदेशी कुंडल' में दी है—

बन्दे हैं सब एक के नहीं बहस दरकार;
है सब कामों का वही खालिक औ' करतार।
खालिक औ' करतार वही मालिक परमेश्वर;
है जबान का भेद नहीं मानी में अन्तर।
हो उसके बर अक्स करौ मत चर्चे गन्दे;
कहकर 'राम' 'रहीम' मेल रक्खो सब बंदे।

भारत की सामाजिक समृद्धि का एक भविष्य कल्पना-चित्र कवि श्री रामचरित उपाध्याय ने 'भारत का भविष्य' में दिया है :

सुलझ जायँगे सभी तुम्हारे घर के झगड़े,
मतभेदों के निखिल मिटेंगे रूखे रगड़े।
एकस्वर से सदा सत्य वाणी बोलोगे,
प्रज्ञा-दृग पर बँधी हुई पट्टी खोलोगे।
भारत! यद्यपि हो बने बड़े अभागे आज तुम;
पर हो जाओगे कभी फिर जग के सिरताज तुम।

(सरस्वती : मई १९१४)

भारत गाँवों का देश है; गाँवों के उत्थान में ही राष्ट्र का आर्थिक उत्थान है। उनमें अब भी नगरों की बुराइयाँ नहीं हैं। गाँव की महिमा पर 'शहर और गाँव' के संभाषण में कवि गुरु द्विवेदी जी ने जो बालकोचित भाषा में कह दिया था—

खुली साफ बेरोग हवा में
जो गुन है, वह नहीं दवा में

काम अदालत से क्या हमको !
क्या वकील की परवा हमको ?

उसी को तो 'ग्राम्य-जीवन' में मैथिलीशरण गुप्त ने पल्लवित किया—

जैसा गुण है यहाँ हवा में,
प्राप्त नहीं डाक्टरी दवा में।
मरे फौजदारी की नानी,
दीवाना करती दीवानी ।

(शहर और गाँव : सरस्वती अप्रेल १९०६)

गिरिधर शर्मा किसान को 'कर्मयोगी' के रूप में देखकर उसे श्रद्धांजलि देते हैं—

"संन्यासकर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।"
है गीता का गूढ़ ज्ञान
तू इस पर चलता सुजान
गिरिधर जो जन हैं महान्
करते तेरा कीर्ति-गान !

(कृषक-कीर्तिगान : सरस्वती सितंबर १४)

आत्मिक आदर्शीकरण में गीता का देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता का संदेश वस्तुतः शृगाल को शार्दूल में परिवर्तित कर सकता है—

जो साहसी नर हैं जगत में कुछ वही कर जायगा।
निज देश-हित साधन करेगा, अमर यश धर जायगा॥
आत्मा अमर है देह नश्वर है समझ जिसने लिया,
अन्याय की तलवार से वह क्यों भला डर जायगा ?

(कर्त्तव्य : सनेही)

गांधी का दर्शन आत्मत्याग और बलिदान सिखाता है, उत्पीड़न और हिंसा नहीं—

जो नर दृढ़व्रत हैं, नहीं टलते कभी निज मार्ग से,
पद तो न बाहर जायगा, गर जायगा सर जायगा।
दुख दे न-दुखियों को कभी धारण अहिंसा धर्म कर,
यह याद रख सन्तत कभी उस ईश के घर जायगा।

(उपर्युक्त)

इधर गांधी के अहिंसा-धर्म की उच्च प्रेरणा कविता में प्राण-तत्त्व बनकर समा रही थी, उधर रवीन्द्र भी 'गीतांजलि' के गीतों में कर्मयोग का संदेश दे रहे थे—

'कर्मयोगे ताँर साथे एक हये धर्म्म पड़ुक् झरे !'

इस प्रकार 'कर्म पर आओ हो बलिदान !' का मंत्र जीवन में प्रेरक बन गया था। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' का गीत कर्मयोग की दीक्षा दे रहा था और उसकी प्रतिध्वनि हिन्दी की श्रुतियों में गूँजने लगी थी :

आँखें खोल देख तू सम्मुख तेरा पूज्य वहाँन,
वह है वहाँ, जोतता धरणी जहाँ गरीब किसान,
मन्दमति कहना मेरा मान !
और जहाँ मजदूर सड़क पर तोड़ रहा पाषाण,
धूप मेह में उनका साथी उसे सदा तू जान।
मन्दमति कहना मेरा मान !
पहने मैले वस्त्र उधर ही उसने किया प्रयाण।
फेंक पवित्र वस्त्र, आ तू भी लड़ा काम में जान।
मन्दमति कहना मेरा मान ![1]

(अनु० 'सनेही')

'नवयुग का स्वागत' करते हुए कवि मैथिलीशरण गुप्त ने मुक्ति और भुक्ति (भोग) का समन्वय साधित किया है—

मिले भुक्ति से मुक्ति
मुक्ति भी भुक्ति से !

---

१. गीतांजलि के अंग्रेजी संस्करण से अनूदित यह गीत है और मूल अंश इस प्रकार है—

Open thine eyes and see thy God is Not before thee !

He is there where the tiller is tilling the hard ground and where the pathmaker is breakings stones. He is with them in sun and in shower, and his garment is covered with dust. Put off thy holy mantle and even like him come down on the dusty soil. [गीतांजलि अं : ११]

जिस समय जातीय निर्माण का अनुष्ठान हो रहा था तब हिन्दी के जागरूक कवि कैसे सुषुप्त रहने दे सकते थे अपनी जाति को? 'कर्त्तव्य पंचदशी' कविता में द्विवेदी जी ने युवकों को कर्त्तव्य-प्रेरणा दी है:—

मैथिलीशरण जी की वीणा पर विश्व-शांति की 'झंकार' भी सुनिए—

कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम
होता नहीं भले ही तू भी रहता केवल नाम
दया धर्म होता बस घट में जिसपर तेरा प्यार
यही होता है जगदाधार!
छोटा सा घर आँगन होता, इतना ही परिवार।

इसी प्रकार अपनी 'श्रूयताम्' कविता में श्रीधर पाठक ने सामाजिक स्नेह और सुख-शांति के द्वारा विश्व-प्रेम का ही उद्बोध किया है:

क्या तुम हो सब सुखी,
स्नेह के मृदुल पाश में बँधे हुए?
सुखमय जीवन के साधन में
तन मन धन से सधे हुए?
क्या तुम एक दूसरे का मिल
सुख सम्पादन करते हो?
करके प्रबल प्रयत्न जगत में
सौख्य सुधा रस भरते हो?

आलोच्यकाल में एक विचारधारा राजभक्ति की भी थी। कुछ कवियों ने उस काल का राजभक्ति का आदर्श व्यक्त किया है—

परमेश्वर की भक्ति है मुख्य मनुज का धर्म;
राजभक्ति भी चाहिए सच्ची सहित सुकर्म।
सच्ची सहित सुकर्म देश की भक्ति चाहिए।[1]

(स्वदेशी-कुण्डल)

---

१. "For God, Crown and Country"—Annie Besant

राष्ट्रसभा के नेतृत्व में जब राष्ट्र इंग्लैण्ड की कृपा पर निर्भर होकर अपनी स्वतंत्रता की याचना करने लगा था तब समाज की मनस्थिति यह थी कि भीतर-भीतर अवसाद और निराशा की छाया थी, बाहर-बाहर यह आशा की मृग-मरीचिका थी।

कई उदारचेता कवियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को व्यवहार्य करने के नियम भी दिये—

सबके होकर रहो सहो सबकी व्यथा
दुखिया होकर सुनो सभी की दुख-कथा
परहित में रत रहो प्यार सबको करो
जिसको देखो दुखी उसी का दुख हरो
वसुधा बने कुटुम्ब प्रेम-धारा बहे
मेरा तेरा भेद नहीं जग में रहे

(हृदय : रामचन्द्र शुक्ल बी० ए०)

देश-भक्ति को अब कविजन मानवता का आवश्यक तत्त्व मानने लगे हैं। शरीर का सौन्दर्य यदि पुष्प-विकास है तो देशभक्ति उसकी सुगंध :

इसका है शरीर ही इसके संयम का सुप्रमाण
तो क्या होगा नहीं हृदय में देश-भक्ति मय प्राण
सुन्दर रूप रुचिर आकृतिमय शोभित मंजु विकास
सुमन सुगंध-रहित है कैसे करे शीघ्र विश्वास

(मिलन : रामनरेश त्रिपाठी)

'मिलन' और 'पथिक' के मुनि भी सामान्य जन को देशसेवा, समाज, सेवा की ही प्रेरणा देते हैं—संसार के कर्मक्षेत्र की ओर ही इंगित करते हैं, अध्यात्म-साधना के लिए प्रोत्साहित नहीं करते।

रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' और 'पथिक' काव्यों में सामाजिक आदर्शों की मनोरम व्यंजना की है। प्रणय और प्रेम के आगे, समाज के जीवन को सुखी और शान्तिमय बनाने का ज्वलन्त आदर्श उनके काव्यों के नायक- और नायिका प्रस्तुत करते हैं। उसमें कथा के मध्य में सुन्दर आदर्श-वाक्य बिखरे हुए मिलते हैं; जैसे—

जग में ही जाना जाता है मनुष्यता का मोल।

राजनीतिक आदर्शवाद की एक धारा सैद्धान्तिक प्रतिपादन और विवेचन की भी है। राज्य का उद्देश्य और समानाधिकार का उद्घोष देखिए—

राज्य नहीं एकार्थ, प्रजार्थ बना
सावधान, सुन रक्खें स्वार्थमना
उद्घोषित करता है तू भी बस सब के समान अधिकार
(नवयुग का स्वागत : मै० श० गुप्त)

व्यक्ति की 'राष्ट्र' में निरपेक्ष सत्ता नहीं होती, वह व्यक्ति की ही पुञ्जीभूत समष्टि है। अतः समता, न्याय आदि के सिद्धान्त राष्ट्रवाद में समाविष्ट हैं। इसी आदर्श का दर्शन कवि ने अपनी इस आकांक्षा में किया है—

अंग राष्ट्र का बना हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो,
केंद्रित नियमित किये सभी को राज शक्ति हो।
भरा हृदय में राष्ट्र-गर्व हो देशभक्ति हो,
समता में अनुरक्ति विषमता से विरक्ति हो।
राष्ट्रपताका पर लिखा रहे 'न्याय-स्वाधीनता'
पराधीनता से नहीं बढ़कर कोई हीनता।
(सनेही)

साम्यवाद को बन्धुत्व और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सनातन भारतीय आदर्श में पर्यवसित होने की मंगल प्रार्थना भी कवि ने की है—

देखें कब भगवान हमें वह दिन दिखलावें,
सकल जातियाँ देश राष्ट्र की पदवी पावें,
क्षीर नीर की भाँति परस्पर सब मिल जायें,
वृहद् राष्ट्र बन जायँ शांति की उड़ें ध्वजायें
साम्यभाव बंधुत्व से पूरा आठों गाँठ हो,
फिर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का घर घर में पाठ हो।
('सनेही')

३ : राष्ट्रीय कविता-धारा

भूमि, भूमि-वासी 'जन' और जन-संस्कृति, तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है। भूमि अर्थात् भौगौलिक एकता, जन अर्थात् जनगण की राजनैतिक एकता, और जन-संस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक एकता—तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है! 'राष्ट्र' में भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक इकाइयाँ पुंजीभूत हैं।

इन तीनों इकाइयों के संकोच और विस्तार के साथ 'राष्ट्र' और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी संकुचित और विस्तृत होता रहता है। राष्ट्रीयता की इस व्याख्या के प्रकाश में देखने पर हमें विदित होगा कि भारत की राष्ट्रीयता की भावना विकासशील ही रही है।

भौगोलिक एकता की हमारी कल्पना अति पुरातन है, जम्बु द्वीप के भरत खंड के रुप में हम इस देश को देखते आये हैं—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति !
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु !!

में एकता ही की स्वीकृति है।

चन्द्रगुप्त मौर्य्य से लेकर शिवाजी तक हमारे देश में एक भौगोलिक एकता की कल्पना चली आ रही है। हिन्दू-काल के 'चक्रवर्तित्व' में आसमुद्र-क्षितीश सम्राट् होने की कल्पना की जाती थी। यों यह तिथि राम के समय तक ले जाई जा सकती है। परन्तु प्रागैतिहासिकता पर हम इस समय विचार करना छोड़ सकते हैं। पूर्व मध्ययुग में जब इस भूखंड में हिन्दू गण-राज्य स्थापित हुए तो उसकी भौगोलिक इकाइयाँ पृथक् हो गईं, फलतः 'राष्ट्र' का

अर्थ 'राज्य' में संकुचित हो गया। चन्द्रगुप्त के समय विदेशी सत्ता का आक्रमण भौगोलिक अभिन्नता की धारणा के कारण राष्ट्रीय विपत्ति थी, और चन्द्रगुप्त के रूप में 'राष्ट्र की भौगोलिक एकता' प्रबुद्ध हो उठी थी। पृथ्वीराज के समय देश में उसी के प्रतिद्वन्द्वी थे जिनकी आस्था अपने-अपने खंड-राष्ट्रों में सीमित थी, फलतः मुहम्मद गोरी के विरुद्ध जयचन्द में राष्ट्रीयता उद्बुद्ध नहीं हो उठी। पृथ्वीराज को हम राष्ट्रीय वीर कह सकते हैं।

यवन-राजत्व काल में विदेशी सत्ता के द्वारा भारत को भूमि पर, भारत के जन पर, और जन की संस्कृति पर आघात हुए और हमारी राष्ट्रीयता पीड़ित हुई। इसी कारण देश में यत्र-तत्र ऐसे विरोधात्मक-विद्रोहात्मक प्रयत्न हुए जो राष्ट्रीयता के प्रतीक कहे गये—राणा प्रताप और शिवाजी तथा कुछ और नाम लिये जा सकते हैं। भारत की भूमि पर, हिन्दू जन पर, और और उनकी धर्म-संस्कृति पर एक विदेशी शक्ति का उत्पीड़न असह्य हो उठा। यहाँ यह स्मरणीय है कि उत्तर-मध्ययुग में राष्ट्र की राजनैतिक चेतना इतनी प्रमुख नहीं थी जितनी धार्मिक-सांस्कृतिक। महाराणा प्रताप देश की राजनीतिक एकता के प्रतिनिधि-प्रतीक नहीं थे, यदि होते तो वे राष्ट्रीय युद्ध का सूत्रपात कर सकते थे। उनका विरोध अपने व्यक्तिगत राज्य, और अधिक से अधिक अपने धर्म राज्य, की रक्षा में ही केन्द्रित था। कुछ हेर-फेर के साथ यही बात महाराज शिवाजी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार ये आंशिक राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि थे।

राजनैतिक स्वतंत्रता विदेशी-विजातीयों के हाथ में चली जाने से सांस्कृतिक स्वतंत्रता की ओर ध्यान गया और देश में धार्मिक एकता का सूत्र-पात्र हुआ। मध्ययुग में धर्म का उदार नवोत्थान इसी के फलस्वरूप हुआ था। काव्यों में राष्ट्र की राष्ट्रीय चेतना रावण के ऊपर राम की, और कंस के ऊपर कृष्ण की विजय में प्रतिध्वनित हुई। इसे सांस्कृतिक ही कहेंगे।

जो मरहठा-राज्य मुगलकाल में थे, वे भी देश की राजनीतिक एकता के विच्छेदक थे! इसी समय आई एक तीसरी शक्ति। उसने धीरे-धीरे तत्कालीन शासक-शक्ति को अपदस्थ करके अपनी राजसत्ता जमा ली। पूर्व शासक वर्ग की शासक-सत्ता छिन जाने पर उसका विद्रोह स्वाभाविक था। फलतः सामन्तवादी शक्तियों ने मिलकर राष्ट्रीय मोर्चा बनवाया और एक विस्फोट हुआ।—१८५७। इसे हम आत्मगौरव की भावना से राष्ट्रीय संग्राम का प्रथम अभियान कहते हैं, परन्तु इसमें 'जनगण' की एकता' का प्रतिनिधित्व कहाँ था?

सामंतवादी चारणों को छोड़कर कोई उस विद्रोह के गीत न गा सके। वह विद्रोह सफल न हो सका, परन्तु वह राष्ट्रीय चेतना के बीज बो गया।

इसी समय देश में राजा राममोहनराय और रामकृष्ण परमहंस, दयानंद सरस्वती और विवेकानन्द सांस्कृतिक मंच पर आये। उन्होंने देश को सांस्कृतिक नव-चेतना दी। इन सबने हिन्दुओं का गौरवोज्वल अतीत आदर्श की ओर इंगित किया। मुसलमानों में सर सैयद अहमद और मौलाना शिबली भी यही नवचेतना दे रहे थे। भौतिक अवसाद की प्रतिक्रिया में दोनों धर्म-जातियों में पृथक् पृथक् सांस्कृतिक चेतना प्रतिफलित हुई। जन की (राजनैतिक) एकता की चेतना अभी तक दूर थी। राष्ट्रीयता का यह रूप सांस्कृतिक था। सामाजिक उत्थान और सुधार इसका विधायक पक्ष था। यही हमारी राष्ट्रीयता १६ वीं शताब्दी के अन्त तक थी। १६ वीं शताब्दी के अन्त की यह राष्ट्रीयता संस्कृति प्रधान थी। हिन्दुओं की आँख आर्य्यसंस्कृति सभ्यता और वेद-उपनिषद् पर थी, और मुसलमानों की आँख अरब-ईरान देशों, मुसलिम संस्कृति और इस्लाम पर।

सांस्कृतिक चेतना के पश्चात् अब राजनैतिक चेतना का जन्म हुआ। प्रथम विस्फोट (१८५७) का बीज अब पल्लवित और पुष्पित हो उठा था। जो राष्ट्रीयता 'जन' की एकता के अभाव में एकांगिनी थी, अब वह जन की एकता की संघटना के कारण सर्वांगीण बनने लगी थी और १८८५ में एक शक्ति का जन्म हुआ—वह भारत की राजनैतिक चेतना की प्रतीक-प्रतिनिधि थी : राष्ट्र-सभा (कांग्रेस)।

शताब्दियों की पराधीनता ने देश को राजकीय दृष्टि से निःसत्व कर दिया था। अतः सांस्कृतिक चेतना ही हमें अधिक अभिभूत कर सकी। सांस्कृतिक चेतना के स्वर थे—अपनी भाषा, अपनी भूषा, अपना राज, अपनी संस्कृति। समग्र जन की एकता अभी नहीं आ सकी थी। प्रथम दशक तक कुछ यही स्थिति रही।

१९०६ में पूर्व अंचल में एक ज्वार की लहर (स्वदेशी आन्दोलन) उठी। वह सारी 'भूमि' को आप्लावित करने लगी। फलतः राष्ट्रीयता का एक और उत्थान हुआ। 'स्वराज' की चेतना मुखरित हुई। परन्तु पूर्ण जन-एकता अब भी न हो सकी, क्योंकि तीसरी शक्ति ने हिन्दू-मुसलमानों में भेद की नीति रक्खी। अतः राष्ट्रीयता यह भी आंशिक-अपूर्ण ही रही।

हिन्दू-मुसलिम एकता से जन-एकता की सिद्धि हो सकती थी, परन्तु वह १६ से पूर्व न आ सकी। यह एकता भी 'आन्तरिक' से अधिक 'बाह्य' थी। फिर भी निश्चित रूप से भारतीय राजनीति में १६-२० की जन-एकता दर्शनीय थी इस प्रकार 'राष्ट्र' की पूर्ण आत्मा प्रस्फुटित हो गई थी, यह कहा जा सकता है।

इस विकास को यों कह सकते हैं कि मुसलमानी काल में भारतीय राष्ट्र सुप्त (कलि) है, १८५७ से लेकर १८८५ तक अँगड़ाई लेता हुआ (द्वापर) है; १८८५ से १६०५ तक बैठने की चेष्टा करता हुआ (त्रेता) है और १६०५ से आगे चलता हुआ कृत (सत) है।—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति कृत संपद्यते चरन् ॥
[ऐ० ब्रा० : 'चरैवेति]

कहा जा चुका है कि भूमि, जन और जन-संस्कृति ही राष्ट्र की आत्मा का विधान करते हैं। भूमि उसका 'कलेवर' है, जन उसका 'प्राण' है और संस्कृति उसका 'मानस' है।

हिन्दी कविता ने अपने सुदीर्घकालीन जीवन में राष्ट्रीयता का स्पन्दन इससे पूर्व नहीं पाया था। वीरगाथा-काव्यों का तो उपजीव्य अन्तर्युद्ध का शौर्य था, भक्तों और सन्तों के भक्ति-काव्यों का गेय भक्ति और ज्ञान था, रीति-काव्यों का प्रधान लक्ष्य सामन्त-नरेश थे और उपलक्ष्य शृंगार था, परन्तु आधुनिक युग की कविता का ध्येय समाज और राष्ट्र हो गया है।

'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' की पूर्ण धारणा हिन्दी कविता में नई ही थी। भारत को अनेक रूपों में श्री भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने देखा अवश्य था, परन्तु उसे राष्ट्र के रूप में २० वीं शताब्दी के कवि ने ही देखा।

राष्ट्रीय भावना यद्यपि भारतेन्दु-काल की देशभक्ति में आंशिक रूप से है, परन्तु वह राजभक्ति के उत्संग में क्रीड़ा करती हुई दिखाई देती है। उसका पूर्ण स्वरूप अव्यक्त है।

हम यह देखेंगे कि देश-भक्ति का अस्तित्व ही राष्ट्रीयता नहीं है। हमारे विश्लेषण के अनुसार राष्ट्रीयता की भावना एक सापेक्ष संघटना है, जो इतिहास की घटनाओं के द्वारा निर्धारित होती रही है। मध्ययुग की

राष्ट्रीयता एक धर्म में, जाति में और प्रदेश में सीमित थी। देश में उसका अधिष्ठान इसी विकास-पथ से हो सका। राष्ट्रीयता की भावना पृथ्वीराज से लेकर आजतक उत्क्रान्ति करती रही है। राजनीति के साथ वह स्वरूप बदलती रही है।

जिस कविता में समग्र 'राष्ट्र' की चेतना प्रस्फुट हो, वह राष्ट्रीय कविता है—इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र के रूप पर ही राष्ट्रीय कविता का स्वरूप अवलम्बित है। वाल्मीकि का रामायण राष्ट्रीय काव्य है, और वेदव्यास का महाभारत भी; और इसीलिए वे हमारे महाकाव्य (epic) हैं। तुलसीदास का 'रामचरित मानस' सांस्कृतिक राष्ट्रीय काव्य था, 'पृथ्वीराज रासो' आदि वीरगाथा-काव्य अंशतः ही राष्ट्रीय काव्य है क्योंकि उनका जीवन गृह-युद्ध (civil war) का शौर्य था। इसीलिए चंद बरदाई की जो कविता उस समय 'राष्ट्रीय' थी, वह आज 'जातीय' रह गई है। हिन्दू-मुसलिम राष्ट्रीयताओं के युग में 'भूषण' की कविता भी पूर्ण 'राष्ट्रीय' कैसे कही जाय? केवल हिन्दू या मुसलिम धर्म-सांस्कृतिक चेतना 'आज की' राष्ट्रीय चेतना से संकुचित रह गई है। वह अपने समय की राष्ट्रीयता तो अवश्य है।

आधुनिक युग में जब इस मुसलमान-शासित हिन्दू देश पर एक विदेशी ईसाई-धर्मी, राष्ट्र का प्रभुत्व स्थापित होने लगा, तो यहां के शासक और शासित दोनों शासित वर्ग में आ गये। फलस्वरूप दोनों को निकटता की समानुभूति होनी चाहिए थी। परन्तु हुआ इसका उलटा। हिन्दू और मुसलिम जातीयताएं दोनों पदाहत सर्प की भाँति फुंकार कर उठीं। तीसरी जातीयता के आक्रमण में जहाँ इनमें एकता आनी चाहिए थी वहाँ ऐतिहासिक कारणों से दोनों में पृथक्त्व की चेतना जागृत हुई। शासक और शासित की मित्रता सहसा तिरोभूत नहीं हो सकी। जयी शक्ति ने मुसलमानों की उपेक्षा की और हिन्दुओं को प्रश्रय दिया। फलतः मुसलमानों और हिन्दुओं में भिन्नता की प्राचीर खड़ी हो गई। जब देश में राजनीतिक चेतना आई और 'राष्ट्र' का जन्म हुआ तो मुसलमान उनसे सशंक रहने लगे। सर सैयद अहमद जैसे जातीय नेता ने मुसलमानों को राजभक्ति के पथ पर चलाया और राष्ट्रभक्ति के पथ को घातक बताया। इस विभेद से दो जातीयताएँ इस देश में पनपने लगीं। मुसलमानों में हाली और इकबाल जैसे कवि जाति को जगाने उठे तो हिन्दुओं में बंकिम और भारतेन्दु। बंकिम बंगाल में हिन्दू राष्ट्रीयता के ही अग्रणी कवि थे। 'वंदेमातरम्' की मूल-भावना सांस्कृतिक

राष्ट्रीयता है । मद्दो जज्र-इस्लाम (मुसद्दस) और 'भारत भारती' में ऐसी ही राष्ट्रीयता मुखरित हुई । कविता में 'भूमि' और 'संस्कृति' ही मुखरित थे— 'जन' (राजनीतिक एकता) नहीं ।

(पीठिका)

भारतेन्दु जैसे देशभक्त कवि की कवितायें भारत की वेदना की वाणी तो हैं, परन्तु राष्ट्रीय चेतना विश्वेश्वर और सोमनाथ, उज्जैन, मगध और कन्नौज आदि में ही केन्द्रित है । उनमें भारत के सामाजिक पीड़न और आर्थिक शोषण का बोध तो है, परन्तु राजनीतिक चेतना राजभक्ति के रूप में ही आई है—

श्रीमति भई राज राजेसुरि जबै हमारी ।
भई सुतन्त्र नाम सो हम सब प्रजा पुकारी ।

भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविता का उच्चतम स्वर था—

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दिर ।
तहँ महजिद बनि गई होत अब अल्ला अकबर ।

प्रतापनारायण के मुख पर हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान का ही स्वर था—

चहहु जो साँचो निज कल्याण,
तो सब मिलि भारत-सन्तान,
जपो निरन्तर एक जबान,
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान !

कांग्रेस में जिस राजनीतिक चेतना का आविर्भाव हुआ वह धर्म-सांस्कृतिक चेतना को आत्मसात् करती हुई पूर्ण हो गई है—आलोच्यकाल में राष्ट्रीयता उदार और विशाल भी हो गई है । आज के राष्ट्रवाद में हिन्दू-मुसलमान का विभेद मान्य नहीं है । राजनीतिक की शक्तियों ने किस प्रकार हमारी राष्ट्रीय-धारणा को प्रभावित किया है—यह उसका एक उदाहरण है । राष्ट्रीय कविता का अनुशीलन हम इसी विकास की भूमिका में करेंगे ।

'भूमि', 'जन' और संस्कृति की त्रिमूर्ति 'राष्ट्र' का जन्म कविता में हुआ, और उसका विविध रूप में भावन और अंकन हुआ ।

'भूमि' (भौगोलिक स्वरूप) के, 'जन' (राजनैतिक स्वरूप) के और 'संस्कृति' (सांस्कृतिक स्वरूप) के पार्श्वों का, कवि की मानव-भावना से

रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ । इसकी कविता में अभिव्यक्ति अनेक दिशाओं में हुई ।

(१)

'गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात् ।'[1]

कवि का रागात्मक सम्बन्ध 'भूमि', 'जन' और 'संस्कृति' से होने के फल-स्वरूप ही देशानुराग की कविता का जन्म हुआ । भारत की भूमि का प्राकृतिक सौन्दर्य स्वर्ग से स्पर्द्धा करने लगा। यह सुजला-सुफला मलयज शीतला शस्यश्यामला भूमि हिमकिरीटिनी मानवी और देवी बन गई । गंगा-कण्ठहार हो गई। रत्नाकर चरण-प्रक्षालन करते हुए लंका का शतदल चढ़ाने लगा, जनकण्ठ में स्तवन ध्वनित होने लगा ।

(२)

'माताभूमि : पुत्रोऽहं पृथिव्याः'[2]

जन अर्थात् भारत के वासी उसके पुत्र हो गये। भूमि मातृभूमि हो गई। जन में समता, बन्धुता और एकता की भावना आई। 'हिन्दू-मुसलिम बौद्ध-पारसी-सिक्ख-जैन-ईसाई' के सम्मिलित रूप में ही 'जन' मान्य हुआ। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का भावन हुआ।

(३)

'पितः सेइ स्वर्गे भारतेरे कर जागरित'[3]

जन के मन में यह भावना हुई कि भारत हमारी मातृ-भूमि है; उसे स्वाधीन-सुखी रहना चाहिए। अतः उसकी स्वाधीनता की कामना और चेतना मुखरित हुई। उसकी स्वाधीनता के संग्राम में कवि की रागात्मक वृत्ति जमी। उसकी राष्ट्रीय चेतना हृदय में स्पंदित और कण्ठ में मुखरित हुई। उसके विविध आरोह-अवरोह मुखरित हुए। शासक के प्रति रोष-आक्रोश जाग्रत हुआ—कभी वह हिंसा के उग्र स्वर में प्रस्फुट हुआ और कभी अहिंसा के सौम्य स्वर में उसकी रक्षा के लिए जन का आत्म-विश्वास, उसकी सेवा जन का पवित्र और दृढ़ संकल्प उसके उद्धार के लिए उठ खड़े होने का हुंकार और प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा एक साथ कविता में मुखरित हुए।

---

१. विष्णु पुराण २. अथर्ववेद १२. १ १२ ३. रवीन्द्र 'गीतांजलि'

'जन' की संस्कृति जन का आराध्य और प्रणम्य है। उसकी प्रतिष्ठा प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा है, उसकी उन्नति प्रत्येक की उन्नति है। यह संस्कृति भी अतीत से लेकर वर्तमान तक विकासशील रही है, परन्तु 'वर्तमान' गर्व का आधार न होने के कारण 'अतीत' ही हमारे लिए वरणीय हो गया। वर्तमान की अधोगति हमारे लिए चिन्त्य हो गई, वेदना को अनुभूति हुई। परन्तु अतीत के आलोक ने और वर्तमान के रंगों ने भावी संस्कृति का भी रूप हमने अपनी आँखों में चित्रित किया। दार्शनिक भाषा में, हमने राष्ट्रीय संस्कृति का चिन्तन किया और कविता ने उसे भावना में उतारा।

राष्ट्रीयता के पक्ष

इस प्रकार विविध स्वर-लहरियोंवाली भावना-धारा को हम दो शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं—

(१) देशभक्ति की धारा

इसका पहला पक्ष रागात्मक पक्ष है जिनमें भारत-भूमि, भारत-जन, भारत-संस्कृति—भारत देश की भक्ति की विविध अनुभूतियाँ हैं। इसमें वन्दना के, गौरव के, जय के, जागरण के, अभियान के गान मुखरित हैं। दूसरा पक्ष नैतिक-सांस्कृतिक पक्ष है, जिसमें राष्ट्र की नीति-संस्कृति का स्वरूप चित्रित है।

(२) राष्ट्रवाद की धारा

जिसमें राष्ट्र-जन की संपूर्ण चेतना अनुप्राणित है, और विकासशील राष्ट्रीयता के तत्त्वों का दर्शन और भावन है।

देशभक्ति (Patriotism), जन-एकता और जन-संस्कृति राष्ट्र के तीन पार्श्व हैं—परन्तु देश-भक्ति आधारभूत है; उसके बिना 'राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती। साथ ही जन-एकता और जन-संस्कृति की चेतना के बिना 'राष्ट्रवाद' एकांगी और अपूर्ण है। यह सम्भव है कि देश-भक्त पूर्ण राष्ट्रवादी न हो, इसी प्रकार केवल संस्कृति-भक्त और जन-एकता का प्रतिनिधि और प्रवक्ता भी अपूर्ण राष्ट्रवादी हो सकता है।

राष्ट्रवाद (Nationalism) एक व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत (सामूहिक) चेतना है, जिसकी दृष्टि 'समूह' या 'सर्व' के अभ्युदय और प्रगति पर है । और वह प्रगतिशील तत्व भी है ।

'देशभक्ति' 'राष्ट्रीयता' का सनातन स्वरूप है और 'राष्ट्रवाद' उसका प्रगतिशील (ऐतिहासिक) रूप है ।

१ : देशभक्ति की धारा (Patriotism)

देश (राष्ट्र) की वन्दना, स्तुति, अर्चना, आराधना, पूजन, भक्ति और प्रेम की और जयगान की, भारतीय गौरव की और जीवन-जागृति-बल और बलिदान के राष्ट्रवाद की विविध अनुभूतियाँ इसमें में मुखरित हुई हैं ।

देश-स्तुति के गीतों का प्रथम उन्मेष राष्ट्रसभा (कांग्रेस) के जन्म (१८८५) के समय हुआ था । वस्तुत: उसके जन्म से भी पहिले श्रीधर पाठक ने देश के चरणों में कुछ गीतियाँ समर्पित की थीं । राजनीतिक जागृति के वातावरण में देश की वन्दना के गान मुखरित हो उठे थे ।

वन्दना गीत-परम्परा

वन्दना-गीतों की परम्परा श्रीधर पाठक के 'हिन्द वन्दना' गीत से प्रारम्भ हुई थी । देश के प्रति ऐसा सुन्दर मंत्रपूत गीत कदाचित् अन्य भाषाओं में भी न मिले । उसमें भारत का मानवीकरण तो है ही, देवीकरण भी है । उसमें भारत के शक्ति, शौर्य्य, धन वैभव, विद्या-ज्ञान, धर्म-भक्ति की वेदना के साथ साथ उसकी स्वाधीनता की जय-घोषणा है, और स्वाधीन होने की कामना—

जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द !
("हिंदवन्दना : मनोविनोद : १८८५)

'मनोविनोद' के अन्य गीतों 'भारत श्री' और 'भारत प्रशंसा' में भी मानवीकरण और देवीकरण है:—

गिरिवर भ्रू-भंग धारि, गंगधार कण्ठहार
सुर-पुर-अनुहार, विश्ववाटिका-विहारी

उपवन वन वीथि-जाल सुन्दर सोइ पट-दुसाल
कालिमाल विभ्रमाऽलि मालिकाऽलिकाऽली।

(भारत-प्रशंसा : भाद्र० शु० ३; १६४२)

इस प्रकार श्रीधर पाठक भारत के महागायक थे। १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उन्होंने जो परम्परा प्रवर्तित की थी, वही आज तक भी गतिशील है। श्रीधर पाठक की कविताओं में स्तवन की सी तन्मयता के साथ बात यह है कि देश को उसकी भौगोलिक एकता की पीठिका में देखा गया है। राष्ट्र की भावना की यही मूलभूत भित्ति है।

दूसरी बात यह है कि इनमें देश में एक मानवमूर्त्ति अथवा देवमूर्त्ति की भावना और कल्पना की गयी है। 'भावना' अमूर्त्त रूप में भी हो सकती है, जिसमें देश का स्मरण एक सूक्ष्म भाव या तत्व के रूप में ही किया जाता है।

परन्तु कल्पना में मूर्ति की अपेक्षा होती है, अत: वह मूर्त्त होती है। श्रद्धा की पुंजीभूत प्रतिमा की ही मनुष्य के द्वारा देवता के रूप में कल्पना की जाती है। इसे दैवीकरण (deification) कहा गया है।

देवता की तो हिन्दू-संस्कृति में गणना ही नहीं, परन्तु यहाँ हम उसका अर्थ साधारण और सामान्यरूप में ही ग्रहण करते हैं। देवता का रूप भावक की वैयक्तिक भावना पर अवलम्बित होता है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'आनन्दमठ' नामक अपने प्रसिद्ध उपन्यास में मातृभूमि की देवी दुर्गा के रूप में कल्पना की और इस प्रकार उसका दैवीकरण हुआ था।

श्रीधर पाठक हिन्दी में भारत दैवत के प्रथम महागायक थे—उनके भारतोत्थान (१६३६ वि०) भारत श्री गीत आदि पदों में भी भारत माता की भावना स्पन्दित है। जिस समय देश में 'देशवंदना' एक अपरिचित भावना थी, तब कवि ने केवल 'कांग्रेस-बधाई' ही नहीं लिखी—'हिन्द-वन्दना' भी की। विशेष उल्लेखनीय है कि इस पहिली किन्तु लम्बी कविता में भी संस्कृत की मुद्रा इतनी सुन्दर है कि यह इसके कुछ शब्दों (सुखमा, नेम, प्रांचुरी) को अरण करदें, तो वह खड़ीबोली की मानी जासकती है। अस्तु, पाठक जी भारत-स्तुति के गीतों के प्रवर्तक के रूप में स्मरणीय होंगे। भारत गीत की यह परम्परा हिन्दी में पूरी—चार शताब्दी से चलती रही है। उनको

'भारत-गीत' संग्रह में देश के चरणों में चढ़े हुए श्रद्धा-सुमन सग्रहीत हैं। इन गीतों में अनेक आलोच्य काल के हैं।

पाठक जी के 'भारत-गीत' माला की विशेषता यह है कि उस में गीत 'पद' ('भजन'), 'ग़ज़ल' और प्रगीत के सभी गीत-रूपों में हैं। गीतिकाओं के स्वर में गाई हुई 'भारत-गीत' की 'भारतवन्दना' गीति लीजिए—

प्रनमामि सुभग सुदेश भारत सतत मम मनरंजनम्।
मम देश मम सुखधाममय तन-प्रान-धन-जन जीवनम्।
मम तात-मात-सुतादि प्रिय निज-बंधु-गृह-गुरु-मंदिरम्।
सुर-असुर-नरनागादि-अगनित-जाति-जनपद-सुन्दरम्।[1]

'भारत-स्तव' में गीत-गोविन्द (जयदेव) की और 'वंदेमातरम्' की मुद्रा है—

वन्दे भारत-देशमुदारम्
सुखमा-सदन-सकल-सुख-सारम्।
× ×
भाल-विशाल हिमाचल भ्राजम्
चरन-विराजित अर्णवराजम्।
तप-धृत सहस कोटि करवालम्।
दुसह- दुराप प्रतापविशालम्।[2]

अपने गीतों को संस्कृत भाषा के स्तवनों का पुट देने में श्रीधर पाठक अद्वितीय थे। यह कुछ युग की प्रवृत्ति ही प्रतीत होती है—बंगाल के बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध 'वन्देमातरम्' गीत में भी संस्कृत की मुद्रा ही थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'जन्मभूमि भारतभूमि' के प्रति गीत निवेदित किया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रेरणा से "जन्मभूमि" (मातृभूमि) भारत में एक गृह की भावना की—

यह जो भारत भूमि हमारी
जन्मभूमि हम सब की प्यारी
एक गेह सम विस्तृत भारी
प्रजा कुटुम्ब-तुल्य है सारी।

---

१ अषाढ़शुक्ल ९ १९७४ वि. २ श्रावण कृष्ण ३० १९७४ वि.

('जन्मभूमि भारतभूमि' : सरस्वती, फरवरी-मार्च १६०३)

और 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना भी व्यक्त हुई—

जन्मभूमि की बलिहारी है
यह सुरपुर से भी प्यारी है।

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

भारत-गीतों का द्वितीय उन्मेष वंग-भंग और स्वदेशी-आंदोलन के साथ हुआ। राष्ट्र का राजनीतिक जागरण कवियों को फिर भारत-वन्दना की प्रेरणा देने लगा।

वंग-कवि बंकिम का प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' मंत्र-पूत होकर राजनीतिक आन्दोलन को लहर के साथ सारे देश में गुंजित होने लगा था।

वन्दे मातरम्!
सुजलाम् सुफलाम् मलयज-शीतलाम्
शस्य श्यामलाम्, मातरम्!

वंगमाता भारतमाता में पर्यवसित हुई और 'वन्देमातरम्' गीत वंगभूमि के जातीय गीत से ऊपर उठकर राष्ट्रीय गीत बन गया।

'वन्देमातरम्' का प्रथम प्रतिबिम्ब हिन्दी-मानस में कवि द्विवेदी के 'वन्देमातरम्' के रूप में पड़ा। उक्त गीत में जन्मभूमि के प्राकृतिक वैभव के संकेतों को स्पष्ट किया गया—

पानी की कुछ कमी नहीं है, हरियाली लहराती है,
फल औ फूल बहुत होते हैं रम्य रात छबि छाती है।
मलयानिल मृदु मृदु बहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है।
वन्देमातरम्।

"स्वदेशी-आन्दोलन" के साथ-साथ यह गीत अनेक कवि-कण्ठों से उच्छ्वसित और प्रतिध्वनित होता रहा। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' ने अपने काव्य 'स्वदेशी-कुण्डल' में इसी से पूर्णाहुति की है।

वन्दे-वन्दे मातरम् सदा पूर्ण विनयेन।
श्रीदेवी परिवन्दिता या निज-पुत्र-जनेन।
या निज-पुत्र-जनेन पूजिता मान्याऽनूपा
या धृत-भारतवर्ष देश-वसुमती-स्वरूपा।

तामहमुत्साहेन शुभे समये स्वच्छन्दे !
वन्दे जनहित करी मातरम् वन्दे-वन्दे !
(रायदेवीप्रसाद पूर्ण)

गिरिधर शर्मा की 'भारतमाता' कविता पर भी इसकी मुद्रा है—

"सुजल सुफल" है मही यहाँ की,
"सस्यश्यामल" मही यहाँ की
"मलयज शीतल" मही यहाँ की ।
विबुध-मनोहर मही यहाँ की ।
(भारतमाता : सरस्वती सं० १६०५)

इन कुछ प्रतिध्वनियों का अनुशीलन करने के पश्चात् निस्संकोच कहा जा सकता है कि वंगभूमि के जन-मानस के ज्वार ने अब बढ़कर अन्य प्रांतों को भी आप्लावित कर दिया था, और 'वन्देमातरम्' उत्तरापथ के नगर-नगर का गान हो चुका था । राष्ट्र-जीवन में 'वन्देमातरम्' रणघोष की भाँति प्राणोत्तेजक हो गया और इस काल के अन्त में असहयोग-आन्दोलन के समय पुनः उच्चरित होने लगा ।

वंगभाषा के मूर्द्धन्य-कवि रवीन्द्र ने भुवन-मन-मोहिनी भारत-जननी की स्तुति की थी—

अयि भुवन-मन-मोहिनी
अयि निर्मलसूर्यकरोज्ज्वलधारिणि, जनकजननि जननी !
नीलसिन्धु जलधौत चरणतल
अनिल विकम्पित श्यामल अञ्चल
अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल शुभ्र तुषार किरीटिनी !

सियारामशरण गुप्त की 'भारत-लक्ष्मी' इसी की छाया है—

जय जनक जननी जननि जय भुवन मानस हारिणी !
धौत तेरा चरण-तल है नील नीरधि-नीर से ।
जय अनिल-कम्पित मनोरम श्याम अंचल धारिणी
व्योमचुम्बी भाल हिमगिरि है तुषार किरीट है
जय जयति लक्ष्मी-स्वरूपा दैन्य-दु:खनिवारिणी !

रामनरेश त्रिपाठी ने भी 'मातृभूमि' का स्तवन किया—

विविध-सुमन-समूह-चित्रित
शस्य-श्यामल-वसन-सज्जित
मलय-मारुत से सुगंधित
रत्नगर्भा जननि !
मङ्गल-करणि संकट-हरणि !

उसमें कवि ने दुर्गा की ही रूप देखा है जैसे 'वन्देमातरम्' में। यह गीत तब लिखा गया था जब राष्ट्र उद्बुद्ध होकर शासक सत्ता से संघर्ष करने के लिए सन्नद्ध था—

अभय दुर्जया शक्ति-धारिणि,
निमिष में अरि उर-विदारिणि,
खड्गहस्ता तेजरूपिणि,
देवि दुर्जन-दलनि !
"मातु ! जीवन पुष्प यह मम
है समर्पित चरण पर तव !"

(मातृभूमि)

भारत को श्रीधर पाठक के पश्चात् एक दूसरा महागायक मिला श्री मैथिलीशरण गुप्त के रूप में। भारत के स्तवन में गुप्त जी का योग प्रशंसनीय है। देश की स्तुतियों में 'मेरा देश' उनके स्वर्गिक स्वप्न का चित्र है जिसमें भारत की आत्मा ब्रह्म के समान विराट् हो गई है—

है तेरी कृति में विक्रान्ति,
भरी प्रकृति में अविचल शान्ति
फटक नही सकती है भ्रान्ति
आँखों में है अक्षय कान्ति
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत, मेरे देश !

रवीन्द्र का प्रसिद्ध गीत है—

जन गण मन अधिनायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता !
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल वंग,

विन्ध हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि-तरंग,
तव शुभ नामे जागे तव शुभ आशिष मागे
गाहे तव जय गाथा
जनगण मंगलदायक जय हे भारत भाग्य विधाता!
जय हे जय हे जय हे, जय जय जय जय हे !

यह गान आज भारत का राष्ट्रगान हो चुका है। इसी के अनुवाद में श्रीधर पाठक ने भी गाया—

उन्नत-भाल-विराजत-चारु हिमाचल हे
प्रनत पयोधि-प्रसर्पित-पद-चल-अंचल हे
जय जय भारत हे !
जय भारत, जय भारत, जय जय भारत हे !
(भारत आरती : 'भारत गीत')

भारत की वन्दना में हिन्दी के कवियों ने इस काल में जितने गीत गाये हैं उतने कभी नहीं गाये। सिद्धकवि श्रीधर पाठक से लेकर सामान्य छन्द-कार तक भारत के जयगान गाने में तत्पर हैं। जय-गान का मनोविज्ञान यह है कि कवि देश का जय-जय गान करता है तो उस जय-ध्वनि में अपनी आत्मा की जय की अनुभूति करता है।

मैथिलीशरण गुप्त की 'जय जय भारत माता' कविता में पराधीनता में भी गौरव और अभिमान के साथ अर्थ-गौरव की व्यञ्जना है—

तेरे प्यारे बच्चे हम सब
बन्धन में बहु बार पड़े
जननी, तेरे लिए भला हम
किससे जूझे कब न अड़े ?
भाई भाई लड़े भले ही
टूट सका कब नाता ?
जय जय भारत माता !

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि स्काट की 'ब्रीदस देयर द मैन विद सोल सो डैड ?' कविता की भाँति सच्चा 'स्वदेशानुराग' कवियों में जाग उठता है क्योंकि—

होगा ऐसा कौन अभागा नर तनु धारी ?
जिसे न हो निज मातृभूमि प्राणों से प्यारी ?
('देशानुराग'—परशुराम चतुर्वेदी)

श्री रामचरित उपाध्याय ने 'देवदूत' में मातृभूमि को स्वर्ग से भी ऊँचा उठा दिया है—

नहीं स्वर्ग की मुझे चाह है, नहीं नरक की भीति
बढ़ती रहे सदा मेरी बस जन्मभूमि में प्रीति।

एक कवि की 'अन्तिम प्रार्थना' भी इसी देशानुराग की उत्कट प्रेरणा से अनुप्राणित है—

जगदीश! यह विनय है जब प्राण तन से निकलें,
प्रिय देश रटते रटते ये प्राण तन से निकलें।

—"जोशी" (प्रताप)

(प्रशस्ति गीत)

वन्दना प्रत्यक्ष भी होती है और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष वन्दना 'सम्बोध' (Cde) की शैली में परिगणित हो सकती है और परोक्ष वन्दना प्रशस्ति कही जा सकती है। प्रशस्ति में वन्दना के साथ गौरव-वर्णन रहता है।

इस काल में अनेक प्रशस्तियाँ गाई गई हैं—'मातृगान' (शिवनारायण द्विवेदी), 'मातृभूमि' (रूपनारायण पाण्डेय) 'जन्मभूमि' (कामताप्रसाद गुरु), 'हमारा देश' (लोचनप्रसाद पांडेय), 'मातृभूमि (गोपालशरण सिंह), ,'जन्म-भूमि भारत' (रामनरेश त्रिपाठी), 'मातृभूमि' (मन्नन द्विवेदी), 'जननी' (सियारामशरण गुप्ता), 'भारतमाता' (गोपालशरण सिंह)।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की लिखी हुई 'मातृभूमि' इस कोटि की श्रेष्ठ कविता है। कवि ने इसमें भारतमाता को सर्वेश की सगुण मूर्त्ति मानते गाया है—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह सूर्य-तारे मण्डन हैं।
वन्दी विविध विहंग-शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
है मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

(सरस्वती : मार्च १९११)

रूपनारायण पांडेय ने 'मातृभूमि' में भारतमाता को शक्ति और अन्नपूर्णा जगदम्बा की मूर्ति माना है, जिसके मस्तक के तिलक 'तिलक' हैं, राम-कृष्ण

रत्न हैं, प्रताप और चन्द्रगुप्त वाहुविभूषण हैं, भक्त जन 'सिंह' है, आत्म-त्याग 'गणेश' है, 'उद्देश्य-सिद्धि का नियम' कार्तिकेय है—

आत्म-त्याग 'गणेश' गोद में पूजनीय जो प्रथम हुआ,
'कार्तिकेय' कर शक्ति लिये 'उद्देश्य सिद्धि का नियम हुआ।
सत्साहस है सिंह, सत्य-संकल्प-आसनी आसीना।
मोह-महिष-मर्दिनी देवि जय, जय, जय भक्तजनाधीना।

अन्त में उसके भक्त भारत की सभी धर्म जातियाँ हैं—

जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई
कोटि कण्ठ से मिलकर कह दो—'हम सब हैं भाई-भाई'!

(मातृभूमि, दिसम्बर १६१२)

रामनरेश त्रिपाठी 'जन्मभूमि भारत' के नैसर्गिक स्वर्गोपम सौंदर्य पर मुग्ध हैं :

जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर हैं।
उत्तर में हिमराशिरूप सर्वोच्च शिखर है।
जिसमें प्रकृति विकास रम्य ऋतुक्रम उत्तम हैं।
जीव-जन्तु फल फूल शस्य अद्भुत अनुपम है।
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है।

(जन्मभूमि भारत : सरस्वती : जनवरी, १४)

'स्वदेश संगीत' प्रशस्ति-गीतों का एक गीतिमाल्य है। 'स्वर्ग-सहोदर' एक ऐसा ही प्रशस्ति-गीत है—

जितने गुणसागर नागर हैं,
कहते यह बात उजागर हैं
अब यद्यपि दुर्बल आरत है,
पर भारत के सम भारत है!

(सरस्वती : अगस्त १६०६)

भारत के गायकों में तीन नाम मूर्द्धन्य हैं—श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और माधव शुक्ल। मैथिलीशरण ने 'भारतवर्ष' 'स्वर्ग-सहोदर', आदि अनेक प्रशस्ति-गीत लिखे।

माधव शुक्ल ने अनेक गीतों की अञ्जलियाँ स्वदेश और राष्ट्र के चरणों में अर्पित कीं--जैसे 'स्वदेश गीताञ्जलि' और 'भारत-गीताञ्जलि'।

(वर्तमान-चिन्तन)

कवि देश की वर्तमान अवनति पर चिंतित होकर अतीत का अभाव अनुभव करता है और कई बार वर्तमान को देखकर निःश्वास छोड़ता है। 'चिन्तारत भारत' कविता देखिए—

विश्व, तुम्हारा भारत हूँ मैं ?
हूँ या था चिंतारत हूँ मैं !

इस गीत में भारत स्वयं वर्तमान से अतीत की ओर दृष्टि डाल रहा है—

वह बोधिद्रुम कहाँ गया है ?
महावीर की दया कहाँ है ?
जो कुछ है, सब नया यहाँ है ;
वही पुराना भारत हूँ मैं ?
हूँ या था, चिन्तारत हूं मैं ?

दूसरे का उदाहरण है 'प्राचीन भारत' जिसमें कवि अतीत गौरव के वातायन से वर्तमान की झाँकी ले रहा है—

जगत ने जिसके पद थे हुए,
सकल देश ऋणी जिसके हुए,
ललित लाभ कला सब थी जहाँ,
अब हरे वह भारत है कहाँ ?
(प्राचीन भारत : मैथिलीशरण गुप्त)

भारत के सांस्कृतिक गौरव की महत्ता एकता में है—

तू ने अनेक में एक भाव उपजाया,
सीमा में रहकर भी असीम को पाया,
पाती है तुझ में प्रकृति पूर्णता मेरी।
भारत फिर भी हो सफल साधना तेरी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'भारत-तीर्थ' गीत में इसी प्रकार गौरव-गान किया था। और जिस प्रकार इस गीत में कवि ने लिखा था—भारत के एक शरीर में शक और हूण, पठान और मुगल दल विलीन हो गये—

स्वर्गिक शीश फूल पृथिवी का।
प्रेम मूल प्रिय लोक त्रयी का।
सुललित प्रकृति नटी का टीका!
ज्यों निशि का राकेश।
जय जय प्यारा! भारत देश!

(देश गीत : भारत गीत : का० शु० १५ : १६७४ वि०)

जयदेव की 'गीत-गोविन्द' शैली, तुलसीदास की गीतिका-शैली और आधुनिक प्रगीत-शैली के अतिरिक्त पाठक जी ने ग़ज़ल शैली में भी गाया—

उपवन सघन बनाली सुखमा सदन सुखाली।
प्रावृट के सान्द्र घन की शोभा निपट निराली।
कमनीय दर्शनीया कृषि-कर्म की प्रणाली।
सुर-लोक की छटा को पृथिवी पै ला रहा है।
भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है!

(सुन्दर भारत : श्रीधर पाठक)

जागरण-गीत

गाँधी की अहिंसात्मक रणनीति के उद्‌घोष के साथ गुप्तजी ने देश का जय-गान किया—

हमारी असि न रुधिर रत हो।
न कोई कभी हताहत हो।
शक्ति से शक्ति न अवनत हो।
भक्तिवश जगत एक मत हो॥
वैरियों का वैरक्षय हो।
दयामय, भारत की जय हो॥

(भारत की जय : मै० श० गुप्त)

देश-भक्ति के इन गीतों का एक पार्श्व वह भी है, जिनमें कवि भारत की वर्तमान स्थिति को देखकर क्षुब्ध होता है, परन्तु उसके उद्‌बोधन और जागरण का स्वर उठाकर अपनी आकांक्षा की अभिव्यक्ति करता है—कभी वह प्रार्थना होती है, कभी प्रेरणा!

जिस समय राष्ट्र में स्वराज्य या स्वशासन की सार्वभौम आकांक्षा जन-कण्ठ से मुखरित हो रही थी देश-प्रेम की वह भावना जो केवल मानस के कक्ष में उच्छ्वास बनकर मंडरा रही थी अब प्राणों की उत्कट चेतना लेकर वज्र की भाँति गर्जन करने लगी। उस वज्रनाद को सुनकर हिन्दी की राष्ट्रीय वीणा में स्वाधीनता के तार बजने लगे।

स्वाधीनता के जागरण की एक उदात्त प्रार्थना कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'गीताञ्जलि' के एक गीत[1] में की थी। उसी का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार हुआ—

जहाँ निडर मन शिर ऊँचा हो, बिना बन्ध मिलता हो ज्ञान।
जहाँ तङ्ग दीवारें टुकड़े टुकड़े, करें न विश्व महान।
जहाँ सत्य की गहराई से, शब्द निकलते प्यारे हों।
जहाँ अथक उद्योग पूर्णता की दिशि बाहु प्रसारे हों।
जहाँ विवेक विमल का सुन्दर, बहता स्रोत सुहाया हो।
रूढ़ि रूप मरुभूमि भयानक में जाके न समाया हो।
जहाँ सदा विस्तीर्ण विचारों और कर्म में मन रत हो।
हे पितु ! उसी स्वतन्त्र स्वर्ग में, जगता प्यारा भारत हो ॥१

(अनुवादक : सनेही)

भारत को हिन्दी के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने जड़ता से जागने की प्रेरणा दी है—

---

1. Where the mind is without fear and the head is held high; Where knowledge is free, Where the world is not broken into Fragments by narrow domestic walls; Where words come out from the depth of truth;

Where tireless striving stretches its arm towards perfection:

Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit; Where the mind is led forward by thee into ever widening thought and action—Into that Heaven of Freedm my Father let my country awake.

Gitanjali : 35

अरे भारत ! उठ, आँखें खोल !
उड़कर यन्त्रों से, खगोल में घूम रहा भूगोल !
अवसर तेरे लिए खड़ा है,
फिर भी तू चुपचाप पड़ा है।
तेरा कर्मक्षेत्र बड़ा है,
पल पल है अनमोल !

(चेतना : 'स्वदेश-संगीत')

गुप्त जी की 'जगौरी', 'प्रेरणा' आदि ऐसी ही प्रेरणादायी कवितायें हैं।

भारत की राष्ट्रीय आत्मा के पूर्ण प्रतिनिधि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनके 'भारत-सन्तान' गीत में कोटि-कोटि भारतीयों का कण्ठ उद्घोष कर उठा है—

हाँ, गूँज उठे आकाश अनिल के द्वारा।
अगणित कण्ठों से बहे एक स्वर-धारा।
कह दो पुकारकर, सुने चराचर सारा।
है अब तक भी अस्तित्व अखण्ड हमारा।
अब तक भी है, कुल-कीर्ति हमारी छाई।
हम हैं भारत-सन्तान करोड़ों भाई।

(भारत सन्तान)

विवेकानन्द ने मनुष्य-आत्मा में ईश्वरी शक्ति का दर्शन किया और जब रवीन्द्र ने पुजारी की भर्त्सना में कहा—

रुद्धद्वारे देवालयेर कोने केन आछिस ओरे।
नयन मेले देख, देखि तुइ चेये देवता नाइ घरे !
तिनि गेछेन जेथाय माटि भेङे करचे चाषाचाष ॥

(गीताञ्जलि)

तो हिन्दी का कवि भी इसी के स्वर में भारतभक्ति की प्रेरणा देताहै—

करते हो किस इष्टदेव का,
आँख मूँद कर ध्यान ?
तीस कोटि लोगों में देखो,
तीस कोटि भगवान।

मुक्ति होगी इस साधन से।
भजो भारत को तन, मन से।

(सनेही)

'भक्ति' को किस प्रकार 'कर्मयोग' में पर्यवसित किया गया है और कर्म योग में ही राष्ट्र की भक्ति का अधिष्ठान दिखाया गया है—यह इसका उदाहरण है।

अभियान गीत

जब राष्ट्र के जन-जीवन में स्वराज्य की विराट् हलचल हो रही हो तब जन के प्रतिनिधि कवियों की काव्य-वीणा पर राष्ट्रीय चेतना की झंकृतियाँ उठना सहज-स्वाभाविक था। सन् १४ से हिन्दी काव्याकाश इन गीतों और झंकृतियों से गुंजित हो उठा था। वस्तुतः समस्त राष्ट्र का दर्प और ओज इन कवियों के कंठ में मुखरित हो रहा था। श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के राष्ट्रीय साप्ताहिक 'प्रताप' में इस काल में शत-शत राष्ट्रीय कवितायें प्रकाशित हुईं। इन गीतों का कई खण्डों में प्रकाशन हुआ है। राष्ट्र में सर्वांगीण जागरण था। नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में सेवा, त्याग, देश सेवा और कर्मयोग की भावना सर्वोपरि थी, सामाजिक क्षेत्र में रूढ़ि-रीतियों के मूलोच्छेदन की तथा राजनीतिक क्षेत्र में स्वत्व और अपना जन्मसिद्ध अधिकार माँगने की चेतना—इन सब की प्रतिध्वनि—'राष्ट्रीय वीणा' की झंकृतियों में हमें सुनाई देती है। मैथिलीशरण गुप्त, एक भारतीय आत्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही-त्रिशूल', सत्यनारायण कविरत्न, बदरीनाथ भट्ट, सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय 'मयंक' भगवन्नारायण भार्गव, आदि के अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात अनेक कवियों की राशि-राशि राष्ट्रीय गीतियों का संकलन इसमें है। इसके स्वर-सप्तक में एक तन्मयता है, एक ऊर्जस्विता है, जिसमें कहीं समता और 'एकात्मता' के दर्शन के लिए मनुष्यता की देवी का आह्वान है—

देवी मनुष्यते! तू वीणा मधुर बजा दे।
सुन्दर सुरीला गाना चित-शान्ति का सुना दे।
काला कलह का परदा, कृपया उसे हटाकर
एकात्मा का दर्शन, दुनिया को फिर करा दे।

(मधुर वीणा : सत्यनारायण कविरत्न)

तो कहीं तन-दान, जन-दान, जीवन-दान करनेवाले 'मनुष्यता' के प्रतीक देश के 'हृदय' के प्रकट होने की कामना है—

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ ?
दासता की हाय ! हथकड़ियाँ पड़ी।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी ?
कण्ठ में जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं
दास्य भावों के हलाहल से हरे !
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
यह पिशाची उच्चशिक्षा-सर्पिणी-
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?
वह सुनो आकाशवाणी हो रही—
"नाश पाता जायगा तब तक विजय !"
वीर ? 'ना', धार्मिक ? 'नहीं', सत्कवि ? 'नहीं'।
देश में पैदा न हो जबतक 'हृदय' !

(हृदय : एक भारतीय आत्मा)

और कहीं स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना उद्बुद्ध करने की प्रखर प्रेरणा है—

वह है गुणी या निर्गुणी, वह रंक या श्रीमान है,
वह है निरक्षर भट्ट या उद्भट महाविद्वान है।
वह विप्र, क्षत्रिय, वैश्य है या शूद्र क्षुद्र अजान है,
वह शेख ही है या कि सैयद, मुगल या कि पठान है,
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है !

(स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान : 'सनेही')

'सनेही' जो परतंत्रता के ऊपर आक्रोश दिखाते हुए उस पर 'त्रिशूल' लेकर टूट पड़े हैं—

क्रूरपना कर चुकी बहुत अब दूर निकल तू,
है त्रिशूल का वार अरी निशचरी संभल तू ॥

कवियों ने 'देश-हित' के लिए सर्वस्व बलि चढ़ाने को जीवन का आदर्श माना है—

अमर होकर रहेंगे लोक में परलोक में भी वे।
कि जो तन प्राण अपने देश पर कुरबान करते हैं।

कवियों ने जन्मभूमि के क्लेश हरण के लिए प्राणोत्सर्ग का भी व्रत लिया है—

घुलने दे, घुटने दे, मिटने दे स्वदेश-हित मरने दे।
प्यारी जन्मभूमि के सारे कलेशों को अब हरने दे।

(शान्ति-स्वागत : 'विकसित)

इसीलिए कवियों ने सच्चे 'राष्ट्रीय वीर' का आह्वान किया है—

एक राष्ट्र, सम स्वत्व साम्यपद का उद्देश्य महान्।
इसीलिए सब कुछ उनका हो तन, मन, धन अरु प्राण।
उनकी हृदय-तन्त्रियों में से निकले ऐसा गान।
उस स्वर्गीय तान को सुन, भारत हो स्वर्ग समान।

(राष्ट्रीय वीर: जयन्त)

वस्तुत: कवियों की हृदय-तंत्रियों पर राष्ट्रीय जाग्रति की शत-शत गीतों में अभिव्यक्तियाँ हुईं, जिनमें कई तो लोक-प्रचलित लयों के आधार पर थे। गीत में अभिव्यक्ति तन्मयता के बिना नहीं होती, और लोक-गीतत्व लोक-लय के बिना नहीं होता। 'राष्ट्रीय वीणा' में कवित्व का सौन्दर्य चाहे न हो परंतु संगीत का माधुर्य और भावना का प्राचुर्य है।

(सांस्कृतिक स्तवन)

यजुर्वेद का प्रसिद्ध आब्रह्मन-सूक्त है—

आ ब्रह्मन ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथी जायताम्। दोग्ध्री धेनुः, बोढानड्वान्, आशुः सप्तिः पुरंधिर्योषाः जिष्णू रथेष्ठाः, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो ऽजायताम्। निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतः।

और वह कवि मैथिलीशरण की 'वैदिक विनय' में इस प्रकार प्रतिच्छायित हुआ है—

विभो, विनती है वार वार,
धर्म्म कर्म्म पर अटल रहें हम, बढ़ें विशुद्ध विचार।

ब्राह्मण व्रती शुभाचारी हों,
क्षत्रिय तेजोबलधारी हों,
शूद्र करें उपचार।
युवक हमारे उपकारी हों,
रूपशील युत नरनारी हों,
पशु हों पुष्ट, धेनु प्यारी हों,
बहे दूध की धार।
मेघ समय पर जल बरसावें,
लता-वृक्ष फल-फूल बढ़ावें,
योग-क्षेम जड़ जङ्गम पावें।
बढ़े विमल विस्तार।

यह केवल अतीत का भारतीय राष्ट्रीय आदर्श नहीं है इसमें भविष्यत् की एक चिरन्तन रूप-कल्पना भी है। नैतिक गुणों जैसे आत्मगौरव, उत्साह, स्वाभिमान और देश-प्रेम की व्यंजक शत-शत रचनाएँ इस काल में प्रस्तुत हुई हैं।

२ : राष्ट्रवाद (Nationalism) की धारा

राष्ट्रीयता के इस प्रगतिशील स्वरूप में उन तत्त्वों का विधान है जो राष्ट्र के जन-जीवन की धारा के साथ चलते हैं। वे सब प्रबंध काव्य या मुक्तक कवितायें जिनमें राष्ट्र की जन-चेतना स्पेन्दित है, इसके अन्तर्गत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विकासशील राष्ट्रीय जन-चेतना का स्वरूप इनमें प्रस्तुत होता है।

इसके भी दो पार्श्व हैं—

(१) सांस्कृतिक
(२) राजनैतिक

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कविताओं में उन तत्त्वों का समावेश है जो राष्ट्र के विकासशील सांस्कृतिक रूप का संघटन करते हैं। सांस्कृतिक रूप की कल्पना यदि एक राष्ट्र के 'जन' में समान हो तो वह आदर्श वस्तु होती है, परन्तु इस देश में संस्कृति का सम्बन्ध धर्म और भूमि से ही जोड़ दिया

गया है, इसलिए हिन्दू भारतीयों की सांस्कृतिक कल्पना, मुसलमान भारतीयों की सांस्कृतिक कल्पना से भिन्न हो गई है। एक न एक दिन तो इन्हें समन्वित होना पड़ेगा परन्तु आलोच्यकाल में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता हिन्दी कविता में हिन्दू संस्कृति के रूप में ही मिलती है। ठीक इसके विपरीत मुसलमान कवियों की उर्दू-कविता में मुस्लिम संस्कृति की प्रेरणा मुखरित हुई है। पृथक्-पृथक् दृष्टि से दोनों राष्ट्रवाद की ही प्रवृत्तियाँ कही जायेंगी परन्तु वह राष्ट्रवाद संस्कृति-प्रधान होगा। भारत का अतीत आर्य्य या हिंदू-जाति का गौरव था परन्तु वह आज के मुसलमान भाई का भी गौरव है कि नहीं यह एक प्रश्न है।

राजनैतिक राष्ट्रवाद में राजनैतिक जीवन का स्पंदन देनेवाली कविताओं का समावेश होगा। आलोच्यकाल में, राजनीति की धारा के आरोह-अवरोह के साथ-साथ इन कविताओं का स्वर परिवर्तित होता रहा है! प्रारम्भ में राजभक्ति, फिर राजभक्ति के प्रति विद्रोह, राष्ट्र को स्वतन्त्र देखने की उत्कटता, ब्रिटिशराज्य के प्रति सौम्य विरोध, परन्तु दासता और पराधीनता के प्रति उग्र क्रोध स्वतन्त्रता की भावना के लिए आत्मार्पण करने का तीव्र उत्साह और अन्त में एक अहिंसक क्रांति की प्रेरणा आलोच्यकाल की कविता में है। यह राष्ट्र की राजनीतिक गतिविधि की ही पूर्ण प्रतिच्छाया है।

राष्ट्रवाद की इस धारा का

(सांस्कृतिक पक्ष)

(१) कल कल स्वर है : राष्ट्र के अतीत का गौरव-गान
(जिसमें राष्ट्र के गौरव-रंजित अतीत का चित्रण है।)

(२) उद्वेलन है : वर्तमान के प्रति क्षोभ और आक्रोश
(जिसमें राष्ट्र के वेदना-रंजित वर्तमान का अंकन और भावी का इंगित है।)

(राजनैतिक पक्ष)

(३) प्रवाह है : राष्ट्रीय जीवन का स्पन्दन
(जिसमें राष्ट्रीय अभियानों की प्रतिध्वनि है)

(४) गर्जन है : राष्ट्र-मुक्ति के मार्ग की बाधा के प्रति विद्रोह और विध्वंस की प्रेरणा :

(जिसमें स्वतंत्रता-प्रेमी और सत्याग्रही वीरों के उत्साह और उल्लास की अभिव्यक्ति है।)

सांस्कृतिक और राजनैतिक पक्षवाले इस राष्ट्रवाद की प्रतिनिधि कविताओं का अनुशीलन करने से पूर्व यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारी 'राष्ट्र' की कल्पना और 'राष्ट्रीयता' की स्थापना की दृष्टि से राष्ट्रीय भावना का निरन्तर विकास हुआ है। राजा राममोहनराय के युग में वह देशभक्ति और वैयक्तिक राष्ट्रवाद के रूप में थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द के समय में वह धर्म-सांस्कृतिक (हिन्दू-मुसलिम) राष्ट्रवाद के रूप में रही और तिलक तथा गांधी के युग में वह जन-गत (राजनीतिक) राष्ट्रवाद के रूप में परिणत हो गई। उसकी भावी दिशा विश्वगत राष्ट्रवाद की होगी; तब राष्ट्रवाद विश्वमानववाद में पर्यवसित हो जायगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध के आलोच्य-काल के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रवाद (हिन्दू-मुसलिम) संस्कृति-प्रधान रहा है और उत्तरार्द्ध में वह जन-प्रधान हो गया है।

सांस्कृतिक पक्ष

१—अतीत का गौरव-गान

इस काल की राष्ट्रीय वीणा का सबसे ऊंचा सांस्कृतिक स्वर अतीत का गौरव-गान ही है यह अतीत हिन्दू जाति का ही होने के कारण आज की दृष्टि से मुसलमानों का भी गौरव नहीं है—इसलिए उसे उसी भूमिका में देखना उचित है। स्वर्गोपमा भारत-भूमि के स्वर्णिम अतीत के दर्शन और चित्रण में गुप्त-बन्धुओं ने अपनी संचित श्रद्धा उड़ेल दी। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' के राशि-राशि छन्दों में भारत के अतीत का गौरवोज्ज्वल रूप दिखाया और सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य विजय' खण्ड काव्य में उसका विक्रम चित्रित किया।

स्वामी दयानन्द और उनके आर्य-समाज ने जिस आर्य्य-भारतीय गौरव-गरिमा का दर्शन कराया था उसकी चेतना 'भारत भारती' में है। धर्म, ज्ञान, विज्ञान, कृषि, योग, दर्शन, पारलौकिक सिद्धि में अग्रगण्यता, सभ्यता

और संस्कृति में अग्रगामिता आदि के कारण संसार का शिरमौर और 'देवलोक समान' भारतवर्ष—

भगवान की भव-भूतियों का वह प्रथम भंडार है।

स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम में भारत का मस्तक उन्नत किया। उन्होंने पूर्व का ज्ञान उसे दिया था। इससे भारतीय कवि का प्राण गौरवान्वित है। विद्या, कला, धर्म, शौर्य्य, शील, भक्ति, सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान के उस चरम उत्कर्ष की अभिव्यक्ति में कवि कहता है :—

१ ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला।
२ ईसा मुहम्मद आदि का जग में न था तब भी पता
कब की हमारी सभ्यता है कौन सकता है बता ?
संसार में जो कुछ जहाँ फैला प्रकाश-विकास है,
इस जातिकी ही ख्याति वा उसमें प्रधानाभास है।
देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था,
नर देव थे हम और भारत देवलोक समान था।

'भारत-भारती' वस्तुत: भारतीय गौरव-गरिमा का उदात्त चलचित्र है। आर्य्य संस्कृति और भारतीय सभ्यता के प्रति कवि की आस्था अविचल और अजस्र रूप से उसमें मुखरित हुई है।

वैदिक काल से 'भारत-भारती' की चित्ररेखा चलती है और रामायण-महाभारत युगों में से होती हुई, बौद्धकाल को पार करती हुई, विक्रम का स्मरण करती हुई उस सीमारेखा पर आ पहुँचती है जिसके आगे यवन-राजत्व का सूत्रपात होता है। देश की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना यही उद्‌बुद्ध होती है और कवि पृथ्वीराज, राणा-प्रताप और छत्रपति शिवाजी को तिलक-विन्दु लगाता हुआ अन्त में ललकार उठता है।

अन्यायियों का राज्य भी क्या अचल रह सकता कभी,
आखिर हुए अंग्रेज शासक राज्य है जिनका अभी।

हिन्दू संस्कृति का उद्‌बोधक होकर कवि मुसलिम-विरोधी नहीं है। मुसलिम शासन को अन्यायी कहना तो एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में ही ग्रहीत होना चाहिए।

'भारत-भारती' के राष्ट्रवाद के स्वरूप पर अभी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तत्कालीन भारत की उदात्त भारती उसमें मुखरित है। वर्तमान

की अवनति-अधोगति में भी अतीत-दर्शन के द्वारा भारत को अपना मस्तक उन्नत करने की भावना 'भारत-भारती' ने दी ।

सियारामशरण गुप्त ने अपने 'मौर्य्यविजय' खण्ड काव्य में उस भारतीय चेतना को मुखरित किया जो उस पुराकाल में यवनों (यूनानियों) के आक्रमण के प्रहार से उद्बुद्ध हो उठी थी। इसके नायक चन्द्रगुप्त मौर्य्य में भारतीय राष्ट्रवीर का ही उदात्त गौरवोज्ज्वल रूप प्रस्तुत हुआ है। इस प्रकार की श्रद्धा को वीर-प्रशस्ति की भावना कह सकते हैं। राष्ट्र का ओजस्वी हुंकार भारतीय वीरों के कण्ठ में सुनाई देता है।

सियारामशरण गुप्त की वीर पूजा की भावना जिस प्रकार चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणत हुई उसी प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' तथा कामताप्रसाद गुप्त की भावना महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, चाँदबीबी, दुर्गावती आदि दूसरे ऐतिहासिक वीर-वीरांगनाओं को प्रशस्ति गाने में तत्पर हुई। 'महाराणा का महत्त्व' में कवि 'प्रसाद' ने आख्यान के माध्यम से हिन्दू और मुसलिम संस्कृति के वैषम्य द्वारा हिन्दुत्व और 'हिन्दुआँसूर्य' प्रताप को श्रद्धांजलि चढ़ाई। मुगल सम्राट् द्वारा पराजित विपन्न होकर भी महाराणा की महानता इसमें है कि वे शत्रु-पक्ष की, विधर्मिणी नारी को अपने कुमार और सामन्तों द्वारा अपमानित होने से बचाते हैं। शिवाजी के विषय में भी ऐसी ही उच्चचरित्रता की कहानी कही जाती है। कवि ने अपने इस मात्रा-वृत्त में लिखे लघुकाव्य में अपने जातीय वीर पर गर्व करने के लिए हिन्दुओं को दृढ़ आधार दिया है।

'भारत भारती' ने अतीत-दर्शन का एक गौरव-गर्वित वातावरण बनाया। और उसकी प्रतिध्वनि कई वर्षों तक कवियों के कण्ठों से स्फुट कविताओं के रूप में होती रही। ऐसी कुछ कविताएँ हैं रामचरित उपाध्याय लिखित 'भारतवर्ष', लोचन प्रसाद पांडेय लिखित 'प्रार्थना' (मर्यादा फरवरी १९११) कवि कुमार महेश्वर प्रसाद सिंह लिखित 'भूत भारत' (मर्यादा अप्रैल १९)।

मिश्र-बन्धुओं ने ब्रज-खड़ी मिश्रित बोली में 'भारत-विनय' की रचना भी 'भारत भारती' की ही प्रेरणा से की। उसमें भारत अपनी कहानी वैदिक काल, स्मार्त्तकाल, पौराणिककाल, गौतमकाल, हिन्दू पुनरुत्थान, मुसलमानकाल, महाराष्ट्रकाल, कम्पनीकाल, बृटिश काल की भूमिका में सुनाता हुआ वर्तमान

काल के समाज और राज का दोष-दर्शन करता है। इस काव्य का दृष्टिकोण राजभक्ति का अधिक है अतः राष्ट्र-भावना को अभिव्यक्ति कम मिली है। ग़दर को भारत 'कुपुत्रों की करतूत' कहता है—

> कारतूस से भ्रष्ट तुरक हिन्दू मत कहकर
> किया किंतु विद्रोह सुतों ने अमरष गहकर

और ब्रिटिश राज्य को प्रशस्ति देता है—

> किया राज सुख-साज तेज जितने फैलाये,
> पाली प्रजा सप्रेम नीति मारग चित लाये!

ब्रजभाषा का पुट इसमें अधिक गहरा है और खड़ी बोली की आभा प्रस्फुट नहीं हुई है।

२—वर्तमान के प्रति क्षोभ और आक्रोश

'अतीत के गौरव-गान' का ही पूरक वर्तमान के प्रति क्षोभ का चित्रण है। 'भारत-भारती' का कवि देश के वर्तमान को देखकर भी विक्षुब्ध होता है। वस्तुतः 'भारत-भारती की रचना का मूल्य उद्देश्य ही देश की वर्तमान अवनति और अधोगति की भावभूमि में अतीत की प्रेरणा देने का है। अंग्रेजों के राज्य में कितनी ही व्यवस्था और शांति मिली हो परन्तु कवि जाति के पतन पर भीतर-भीतर अश्रुपात करता रहा है। यह वेदना-व्यथा कभी क्षोभ, कभी क्रोध, कभी करुणा, कभी उद्बोधन और कभी आक्रोश बन गई है। इस प्रकार 'भारत-भारती' में अतीत के गौरवगान के तार स्वर में वर्तमान के अधःपतन की भर्त्सना का मन्द्र स्वर भी मिश्रित है। तीसरी स्वर-लहरी—भविष्यत् की कल्पना इस संगम में सरस्वती की भाँति अन्तःप्रवाहिनी है। इस प्रकार कवि उसमें त्रिकालदर्शी है—

> हम कौन थे,
> क्या हो गये हैं,
> और क्या होंगे कभी?

अतीत के गौरवोज्ज्वल रूप को दिखाकर दूसरे ही पल वर्तमान के म्लान-मलिन रूप को दिखाने की अद्भुत प्रतिभा 'भारत-मारती' के आलेखक में है।

संसार रूप शरीर में, जो प्राण रूप प्रसिद्ध था;
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था;
हा हन्त जीते जी वही अब हो रहा म्रियमाण है,
अब लोक रूप मयंक में भारत कलंक समान है।

भारतीय जीवन के सामाजिक-नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पार्श्वों को कवि ने देखा है। कभी वर्तमान भारत का दारिद्रय उसे उदास करता है, कभी दुर्भिक्ष उसे विकल करता है, कभी राजा रईसों की विलासिता पर उसे क्षोभ होता है। सामाजिक स्वरूप का चित्रण सामाजिक कविता के अन्तर्गत अनुशीलित किया जा चुका है।

राजनीतिक जगत में फैले हुए साम्प्रदायिक भेद और अभेद की ओर भी कवि ने इंगित किया है।

क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो?

इस चित्र में उज्ज्वल भविष्यत् की झलक भी है।

जो कोकिला नन्दनविपिन में प्रेम से गाती रही
दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।

इन पंक्तियों में अतिरञ्जन नहीं है। वस्तुतः कवि की लेखनी वर्तमान के दावाग्नि-दग्धारण्य में रो उठी है और उसे सुनकर देश-भक्त का हृदय आर्द्र हो उठता है।

'स्वदेश-संगीत' में भी कई गीत वर्तमान के करुण आलेख हैं—

किसलिए भारत भला यह दीनता है?
विभव-जन्मा क्यों भवोदासीनता है?
कर्म्मयोगी किसलिए तू दुःखभोगी?
लक्ष्य तेरा मुक्ति है, स्वाधीनता है!!

निश्चय ही 'भारत-भारती' में और 'स्वदेश संगीत' में वेदना से सिक्त कवितायें और गीत हैं, परन्तु उनमें देश के पुनरुत्थान की आशा और अभ्युदय की प्रच्छन्न प्रेरणा है।

'भारत-भारती' में संस्कृति-चेतना का स्वर वादी है, परन्तु राष्ट्रीय चेतना का स्वर विवादी नहीं, संवादी ही है। फिर भी समीक्षा के क्षेत्र में 'भारत-भारती' की भावना को प्रशस्ति नहीं दी जाती—

"'भारत-भारती' में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना।"[1]
और कदाचित इसी स्वर में कई आलोचकों ने 'भारत-भारती की मूल भावना को साम्प्रदायिक कहकर अवमानित किया है।

हम पहले कह चुके हैं कि राष्ट्रीयता के विकास में हिन्दू-मुसलिम जातीय संस्कृति का वही महत्त्व है जो इतिहास में घटित घटनाओं का। कोई संघटना, घटना या भावना प्रगतिशील है या प्रतिगामी ? इसकी कसौटी आज का 'आज' नहीं हो सकती; इसकी कसौटी उस समय का 'आज' होगी। जिस समय 'भारत-भारती' की रचना हुई थी उस समय की राष्ट्रीयता की पूर्ण प्रतिनिधि 'भारत-भारती' है कि नहीं ? यह प्रश्न किया जाना चाहिए ! जबतक ऐतिहासिक दृष्टि हमारी नहीं होगी इसका सम्यक् उत्तर हमें नहीं मिलेगा।

'भारत-भारती' की प्रेरणा

'भारतभारती' पर कोई निर्णय देने से पूर्व तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन की भूमिका देखनी होगी। भारतीय 'विप्लव' (५७) के पश्चात् जो जन-जागरण हुआ था उसमें मुसलमानों का जातीय जीवन भाटे की भाँति उतार पर था। अंग्रेजों की कृपादृष्टि उस समय हिन्दुओं पर थी। मुसलमानों से वे शंकित थे। उनके वहाबी आन्दोलन को दबा दिया गया था। मुसलमानों की उस निराशा में फिर से प्राण फूँके सर सैयद अहमदखाँ जैसे सांस्कृतिक नेता ने। अपनी जाति को उन्नत, शक्तिशाली और प्रगतिशील बनाने के लिए उन्होंने क्या-क्या न किया ! उन्हीं की प्रेरणा से मुसलिम-जातीय चेतना के प्रतिनिधि कवि हाली (भारतेन्दु के समकालीन) ने "मद्दो जज्रे इस्लाम" अर्थात् 'इस्लाम का ज्वार-भाटा' दिखाने के लिए लेखनी उठाकर एक ऐसा काव्य लिखा जिसने मुसलमानों में प्राण-प्रेरणा फूँक दी। मुसद्दस (षट्पदी) में यह काव्य था, अतः 'मुसद्दस' के ही नाम से प्रसिद्ध हैं।

"मुसद्दस" के लेखक हाली ने स्वयं लिखा है—

"जमाने का नया ठाठ देखकर पुरानी शायरी से दिल भर गया था और झूठे ढकोसले बाँधने से शर्म आने लगी थी। कौम के एक

---

१ 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' : नन्ददुलारे वाजपेयी ('हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी')

सच्चे खैर-ख्वाह[1] ने आकर मलामत[2] की और गैरत[3] दिलाई कि हैवाने नातिक[4] होने का दावा करना और खुदा की दी हुई जबान से कुछ काम न लेना बड़े शर्म की बात है।

आगे लिखा—

"कौम की हालत तबाह है।...मगर नज़म[5]...कौम को जगाने के लिए अबतक किसीने नहीं लिखी !"

और आगे लिखा—

"बरसों की बुझी हुई तबीयत में एक वलवला[6] पैदा हुआ, और बासी कढ़ी में एक उबाल आया। अफसुर्दा[7] दिल बोसीदा[8] दिमाग जो अमराज़[9] के मुतवातिर[10] हमलों से किसी काम के .. रहे थे, उन्हीं से काम लेना शुरू किया और एक मुसद्दस की बुनियाद डाली।"

इस प्रकार जातीय चेतना की दृष्टि से मुसलमान वर्ग इस देश में हिन्दू वर्ग से आगे था! हाली के 'मुसद्दस' की प्रतिक्रिया कई जाति-भक्त हिन्दुओं पर होती यह स्वाभाविक ही था।

राजा रामपाल सिंह ने इस 'मुसद्दस' का प्रतिरूप हिन्दी में प्रस्तुत करने की गुप्तजी को प्रेरणा दी जिसका फल था 'भारतभारती' का प्रणयन।

'भारत-भारती' ने अकेले राजा रामपाल सिंह की ही कामना की तृप्ति नहीं की वरन् समस्त हिन्दू-वर्ग की सांस्कृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की। निस्सन्देह हाली का 'मुसद्दस' मुसलमानों के लिए प्राणोत्तेजक हुआ होगा, अन्यथा सर सैयद अहमद यों न लिखते—

"जब खुदा पूछेगा कि तू क्या लाया, मैं कहूँगा कि हाली से 'मुसद्दस' लिखवा लाया हूँ और कुछ नहीं। खुदा आपको जज़ाये खैर दे और कौम को इससे फायदा बख्शे !"

क्या सर सैयद इस पुस्तक को अपने विश्वविद्यालय से भी बढ़कर मानते हैं ? मौलवी गुलाम-उस-सक़लैन के कथनानुसार हाली का 'मुसद्दस' मुसलमानों की 'जातीय बाइबिल' है। इससे अवश्य ही मुसलमानों के

---

१ शुभचिंतक २ फटकार ३ लज्जा ४ सवाक् प्राणी ५ कविता ६ उमंग ७ विषण्ण ८ सड़ा हुआ ९ रोगों १० निरंतर

मानस को प्रभावित करने का इंगित मिलता है। इस प्रकार हाली मुसलिम-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पोषक हुए।

'भारत-भारती' का यह प्रेरणा-स्रोत पहिचान लेने पर यह कहने में गुप्तजी का गौरव ी है कि वे अपने समय की 'राष्ट्र-चेतना' के प्रतिनिधि थे 'भारत-भारती' के गायक के रूप में। राष्ट्रवाद के इसी अजस्र-विकासशील स्वरूप को न पहिचाननेवाले समालोचकों ने उन्हें संकुचित राष्ट्रीय भावना के पोषक, या सम्प्रदायवादी कहा है। वस्तुतः समालोचक को काव्य के साथ उस युग में पहुँचकर उसकी भूमिका में कवि की राष्ट्रवादिता पर दृष्टि डालनी चाहिए। हमारा यह राष्ट्रवादी कवि तब भी राष्ट्रीय था और आज भी है और जब राष्ट्रवाद विश्व-राष्ट्रवाद के रूप में पर्यवसित हो जाएगा, तब भी रहने वाला है।

जिस प्रकार हाली के 'मुसद्दस' में समस्त मुसलिम-जाति के उत्थान और उत्कर्ष की प्रेरणा है हिन्दू-विरोध की नहीं, ठीक उसी प्रकार 'भारत-भारती' में भी समग्र हिन्दू-जाति के उत्थान की ही चेतना है, मुसलिम-विरोध की नहीं। मुसलिम-विरोध तो भारतेन्दु के युग के साथ समाप्त हो गया था।

इस संक्षिप्त स्पष्टीकरण के पश्चात यह समझना कि 'भारत-भारती' साम्प्रदायिकता को उत्तेजन देती है अथवा वह ('साम्प्रदायिक' के अर्थ में) 'जातीय' काव्य है, इतिहास की प्रगति को न पहिचानना है। 'भारत-भारती' का स्वर राष्ट्रीय स्वर है, और उसकी भावना-चेतना राष्ट्रीय ही है, जो आज की दृष्टि से साम्प्रदायिक (या 'जातीय') सी दिखाई देती है। इतिहास के अनुसार शिवाजी-काल की राष्ट्रीयता हिन्दू-मुसलिम द्वेष में थी, १९ वीं शताब्दी की राष्ट्रीयता (भारतीय विप्लव १८५७ में) 'सामन्तवादी' थी, २० वीं शती के प्रथम दशक की राष्ट्रीयता 'सांस्कृतिक' है, एक पीढ़ी पश्चात् आज की राष्ट्रीयता भी निश्चित रूप से संकुचित हो जायगी। राष्ट्रीय भावना की सापेक्षता का यही अर्थ है।

'भारतभारती' का 'अतीत-खण्ड' तो (जिसमें भारतराष्ट्र के गौरव-गर्वित अतीत का वर्णन है) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से ओतप्रोत है ही और उसका 'वर्तमान खण्ड' (जिसमें भारतराष्ट्र के वेदना-रंजित मलिन वर्तमान का क्षोभपूर्ण नग्न-चित्रण है) सामाजिक राष्ट्रवाद से अनुप्राणित है। 'राष्ट्रवाद' के ये दो पार्श्व 'भारत-भारती' में हैं।

हाली ने 'मुसद्दस' में मुसलमान जाति की गिरी हुई अवस्था का चित्रण करते हुए उद्बोधन की प्रेरणा दी है और "इसी 'मुसद्दस' को आदर्श मानकर बाबू मैथिलीशरण ने अपनी 'भारतभारती' नाम की प्रसिद्ध कविता-पुस्तक की रचना की है।"

यदि 'मुसद्दस' मुसलमानों का जातीय बाइबिल है, तो 'भारत-भारती' वस्तुतः हिन्दुओं की गीता हीं सिद्ध हुई। आचार्य श्यामसुन्दरदास के शब्दों में तो 'भारतभारती' अनेक 'देश-प्रेमी नवयुवकों का कण्ठहार' रही।

'मुसद्दस' से 'भारत-भारती' की प्रगतिशीलता यह है कि इसमें जातीय भावना के राष्ट्रीय भावना बनने की संक्रान्ति-कालीन भाव-स्थिति का प्रतिबिम्ब है।[1] उसमें जो राज-प्रशस्ति का सौम्य स्वर है वह भी राष्ट्रसभा के उद्गारों की ही छाया है। यह वह समय था जब 'ब्रिटिश ताज के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भावों से भरा प्रत्येक हृदय एक तान से धड़क रहा है, वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति कृतज्ञता और नवीन विश्वास से परिपूर्ण हो रहा है।' (अम्बिकाचरण मजूमदार का भाषण : १९११) साम्प्रदायिक-ऐक्य की भावना का आदर्श उसमें है। इस प्रकार 'भारत-भारती' में अपने युग की राष्ट्रीय चेतना का और उसके कवि में अपने समय के राष्ट्रीय प्रवक्ता को प्रतिनिधित्व है। 'भारत-भारती' से कई कवियों ने वर्तमान-दर्शन की प्रेरणा ग्रहण की।

सियारामशरण गुप्त की "हमारा ह्रास" (अक्टूबर १९१३) कविता 'भारत-भारती' के ही स्वर में है—

> सर्वत्र ही कीर्ति-ध्वजा उड़ती रही जिनकी सदा,
> जिनके गुणों पर मुग्ध थी सुख-शान्ति-संयुत-संपदा।
> अब हम वही संसार में सबसे गये बीते हुए;
> हैं हाय! मृतकों से बुरे अब हम यहाँ जीते हुए।

'भारतभारती' का प्रकाशन हिन्दी जगत में उस समय एक अभिनन्दनीय घटना थी। आचार्य द्विवेदी ने स्वयं अपनी लेखनी से लिखा था—

"यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। × × × 'यह सोते हुओं को जगानेवाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर

---

१ मुसद्दस 'इस्लाम' का ज्वार-भाटा है परन्तु 'भारत-भारती' भारत की भारती है!

लानेवाला है; निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है, आत्म-विस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलाने वाला है निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह पूर्व-पुरुषों के विषय में भक्ति-भाव का उन्मेष कर सकता है। यह सुख-समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हम लोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है; क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान् चित्र इसमें देखने को मिल सकता है।"[1]

(वीर-पूजा और प्रशस्ति)

वीर-पूजा की भावना का जन्म हृदय की श्रद्धा से होता है। जब व्यक्ति की श्रद्धा जाति और देश (या राष्ट्र) के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले वीर के प्रति होती है तो उसे वीर-पूजा (Hero-worship) कहा जाता है। वह भी राष्ट्रीय भावना की एक धारा है।

लाला भगवानदीन की राष्ट्रीय भावना पौराणिक और ऐतिहासिक वीरों की पूजा-अर्चा बनकर प्रकट हुई। उनकी पूजा का थाल है 'वीर पञ्चरत्न', जिसमें अनेक वीर-वीरांगनाओं के लिए दीपक सजाये गये हैं। कवि की राष्ट्रीय चेतना अतीत के बल-विक्रम का स्मरण दिलाती है। परन्तु भावी के उत्कर्ष की आशा का भी इंगित करती है। 'वीर बालक' में—

> लड़कों ही पै निर्भर है किसी देश की सब आस,
> बालक ही मिटा सकते हैं निज देश की सब त्रास।
> बालक ही सुधर जाँय तो सब देश सुधर जाय,
> हर एक का दिल मोद से भण्डार सा भर जाय!

की भावना में यही वृत्ति स्पन्दित है!

'वीर पञ्चरत्न' में वीरों को पाँच कोटियों में बिभाजित किया गया है—वीर प्रताप, वीर क्षत्राणी, वीर बालक, वीर माता और वीर पत्नी। राणा प्रताप तो वीरों के मुकुट-मणि ही हैं। इनके अतिरिक्त देश की तारा, वीरा, दुर्गावती जैसी वीरांगनायें, राम-कृष्ण-बलराम, लवकुश, अभिमन्यु,

---

[1] सरस्वती—सम्पादकीय अगस्त १९१४

आल्हा-ऊदल जैसे पौराणिक, ऐतिहासिक बालवीर, देवलदेवी रेणुका जैसी वीर मातायें और नीलदेवी जैसी वीर पत्नियाँ इन गीतों में गेय हुईं। राम और कृष्णचरित की रीति-धारा में बहे जाते हुए और ब्रजवाणी में—

दीन हितकारी धनुधारी रामचंद्र केधों
पाछे लागे जात आगे कंचन कुरंग हैं।

अथवा—

ताही समै कारागृह माहि देवकी के अंग,
जग उजियारो धरि कारो रूप आयगो।

गानेवाले कवि को बुन्देलाबाला जैसी पत्नी ने, तुलसीदास की रत्नावली की भाँति, प्रेरणा देकर, भारत के वीर बालकों, वीर पुरुषों, वीर-पत्नियों, वीर माताओं और वीरांगनाओं का चारण बना दिया और वह राष्ट्रवाणी में अपना कड़खा सुनाने लगा। 'दीन' जी के इन वीर गीतों में वीरों के प्रति अगाध श्रद्धा ओज और प्राण-बल के साथ उच्छ्वसित हुई है।

छोटी-छोटी कविताओं में कुछ और राष्ट्रवीरों का भी स्मरण किया गया है। राणा प्रताप तथा शिवाजी महाराज जैसे मध्य युग के और दयानंद तिलक, मालवीय, नौरोजी, गोखले, गांधी जैसे आधुनिक युग के राष्ट्रीय वीरों को श्रद्धांजलियाँ दी गई हैं।

'अष्टावक्र' कवि ने राष्ट्र वीरों—कृष्ण, शिवराज, प्रताप, दयानन्द, दादाभाई, तिलक गोखले मालवीय, बसंती देवी और गांधी का प्रशस्ति-गान किया—

कर्मवीर गांधी के जीवन से कविगण प्रेरणा देते हैं—

संसार की समरस्थली हैं धीरता धारण करो।
जीवन समस्यायें जटिल हों, किन्तु उनसे मत डरो।
वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न बाधायें हरो।
मर कर जियो बन्धन विवश पशुसम न जीते जी मरो।
(मैथिलीशरण गुप्त: 'कर्मवीर बनो)

वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में हुई अनेक घटनाओं के प्रति कवियों की प्रतिक्रिया होती हैं। यहाँ उन्हीं प्रतिक्रियाओं का आलेखन है जिनका मूल राष्ट्रीय चेतना में है। दक्षिण अफ्रीका में अछूतों को मनुष्य समझनेवाले 'देवदेव' गांधी को इस रूढ़िवादी देश ने जाति-च्युत कर दिया, अतः उसको धिक्कारता हुआ एक कवि पराधीनता की स्थिति पर भर्त्सना कर रहा है—

जो स्वदेश का दुख हरने को अपना सर्वस खोते हैं।
देव देव गांधी से च्युत जिस जगह जाति से होते हैं।
तीस कोटि सुत हों जिसके वह माता सहे कष्ट का भार।
काले कलुषित काम हमारे, देख जगत कहता धिक्कार।

(धिक्कार : 'चक्र सुदर्शन')

कर्मवीर गांधी जब देश में आये तब उनके मुख पर औपनिषदिक उद्-बोधक मंत्र था—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" इसी की मानस-छाया हैं यह छन्द बंध: -

बैठ तुम्हारे साहस-रथ में,
हम न रुकेंगे अपने पथ में,
नाथ तुम्हारी इच्छाओं को बाधायें ही बल देंगी !

(स्वराज्य की अभिलाषा : मैथिलीशरण गुप्त)

(भविष्य का इंगित)

सांस्कृतिक चिन्तन में वह भावना भी मुखरित हो जाती है जो राष्ट्रीय आकांक्षा और आशा कही जानी चाहिए। कवि गण 'साम्यवाद' और स्वराज्य (स्वशासन) के सैद्धान्तिक प्रभाव में अपने देश के भविष्य की रूपरेखा निर्मित करते हैं।

१९१७ की रूस की राज्य-क्रांति का विद्युत्प्रभाव कई विचारशील कवियों की लेखनी से अंकित हुआ है। सामाजिक क्षेत्र में 'सनेही' किन्तु राष्ट्रीय क्षेत्र में 'त्रिशूल' जी ने वैषम्य और आर्थिक शोषण का उल्लेख करते हुए गाया—

समदर्शी फिर साम्यरूप धर जग में आया
समता का सन्देश गया घर-घर पहुँचाया
धनी रंक का ऊंच-नीच का भेद मिटाया
विचलित हो वैषम्य बहुत रोया चिल्लाया !
कांटे बोये राह में फूल वही बनते गये।
साम्यवाद के स्नेह में सुजन सुधी सनते गये।

इसी क्रान्ति में कवि को नवयुग का आशा-किरण भी दिखाई दी—

फैले हैं ये भाव नया युग आने वाले,
घोर क्रान्ति कर उलट-फेर करवाने वाले,
कलि में सतयुग सत्य रूप धर लाने वाले,
समता का सन्देश सप्रेम सुनाने वाले ।[1]

श्री त्रिशूल (सनेही) ने एक कविता में जाति (राष्ट्र) और जातीयता (राष्ट्रीयता) के तत्वों का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया :

ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य यही तो राष्ट्र-अंग हैं
सिर धड़ टाँगों-सदृश जुड़े हैं संग-संग हैं
सप्त रंग इव मनुज मिले हैं एक रंग हैं
बुन्द-बुन्द मिल जलधि बने लेते तरंग हैं
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब मिले एक ही धार में,
मिला शान्ति सुख राष्ट्र के पावन पारावार में।

सर्वांगीण राष्ट्रीय एकता और बन्धुभाव की भी भावना उसमें है—

साम्यभाव-बन्धुत्व एकता के साधन हैं,
प्रेम-सलिल से स्वच्छ निरन्तर निर्मल मन हैं।
डाल न सकते धर्म आदि कोई अड़चन हैं।
उदाहरण के लिए स्वीस हैं अमेरिकन हैं।
मिले रहें मन मनों में अभिलाषा भी एक हो।
सोना और सुगन्ध हो— जो भाषा भी एक हो।

(जातीयता : 'राष्ट्रीयगीत' : त्रिशूल)

'स्वराज्य की अभिलाषा' जाग्रत होने पर भारतीय जाग्रति और रीति-नीति की पूर्ण व्याख्या कवि गुप्त जी ने की—

१. 'आत्मा की सच्ची समता से
मनुज मनुज के सम होगा ।'
२. उपनिवेश यमपुर न रहेंगे,
वहां न हम अपमान सहेंगे।
३. शासक और शासितों में फिर—
चिर विश्वास रहेगा सुस्थिर;

---

१ राष्ट्रीय गीत (त्रिशूल : १९१७)

४. होंगे स्वयं शस्त्रधारी हम,
वीर भाव के अधिकारी हम;
५. ब्रिटिश जाति का गौरव होगा,
उच्च हमारा सिर होगा ।
वह इङ्गलैण्ड और यह भारत,
होंगे एक भाव में परिणत
दोनों के यश का दिगंत में
पुण्य पाठ फिर फिर होगा

राजनीतिक पक्ष : राष्ट्रीय जीवन का स्पन्दन

(जीवन और जाग्रति)

आलोच्यकाल में राष्ट्रीय जाग्रति ने अखिलदेशीय व्यापकता प्राप्त कर ली है। १६०६-११ का 'स्वदेशी आन्दोलन' कवियों में राष्ट्रवाद को उच्छ्वसित करता है। उस समय 'वन्देमातरम्' गीत की छाया में रचित गीतों का उल्लेख हो चुका है। सारे देश में हो रहे जन-जागरण की उल्लास-पूर्ण प्रतिध्वनि कवि 'प्रेमघन' जी की 'आनन्द-अरुणोदय' (१६०६) कविता में है—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका।
अरुणोदय एकता-दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती।
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा लखाई।
खग वन्देमातरम मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई।

विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी-स्वीकार का स्वर इस आन्दोलन में सर्वो-परि था; इसी की प्रतिध्वनि है—

देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा-सुगन्ध फैलाता मन मधुकर ललचाता।

वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
विद्वेषी उलूक छिपने की कोटर बनी उदीची।

सौम्यदलीय राजनीति का आभास इन पंक्तियों में है—

उठो आर्य्य-सन्तान सकल मिल बस बिलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश-राज स्वातन्त्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ।

हम देखेंगे कि यही ब्रिटिश-राज-भक्ति की भावना सन् १९ तक की सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी 'राष्ट्रीय कवयित्री' की कविताओं में भी मिलती है परन्तु वह गौण है।

राय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'स्वदेशी-भावना' से उच्छ्वसित होकर 'स्वदेशी-कुण्डल'(१९१०) का गायन किया। उस समय के समाज की चेतना के साथ साथ राष्ट्र की अन्तःप्रान्तीय एकता का आभास एक कुण्डलिया में है।

भारत-तनु में है विविध प्रान्त-निवासी अंग।
पंजाबी, सिंधी सुजन महाराष्ट्र तैलंग!
महाराष्ट्र तैलंग, वंगदेशीय विहारी,
हिन्दुस्तानी मध्य हिंदजनवृन्द, बरारी।
गुजराती, उत्कली, आदि देशी सेवा रत,
सभी लोग है अंग बना है जिनसे भारत।

और अन्तर्धार्मिक (हिन्दू-मुसलिम-सिक्ख पारसी आदि की) एकता का भी :

ईसावादी, पारसी, सिक्ख यहूदी लोग।
मुसलमान हिन्दी यहाँ है सबका संयोग।

भारतवर्ष ने विभिन्न जातियों को आत्मसात् किया है। हिन्दू-मुसलमान अपने आप एकता की ओर बढ़ते यदि तीसरी शक्ति इनमें भेद डालकर स्वार्थ-साधन न करती। यह स्मरणीय है कि बंग भंग में पूर्व कारण बंगाल के हिन्दू मुसलिम भागों को पृथक् करने की भावना और मिन्टो मार्ले सुधार योजना में तो इस के बीज थे ही।[१]

मुसलमान हिंदुओं! वही है कौमी दुश्मन,
जुदा जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन।

इस 'स्वदेशी-कुण्डल' में आर्थिक-धार्मिक-राजनीतिक सन्देश हैं। गांधी का चरखा तब तक नहीं चला था। इसलिए कवि का स्वर भिन्न है—

---

१ देखिए पीछे पृष्ठ २४ और २८

कल से बिकल विदेश सबल निष्फल निर्बल है।
भरत-खण्ड कल बिना तुझे हा, कैसे कल है?

राय देवीप्रसाद की वाणी शासन-सुधारवाद की प्रतिनिधि है—

परमेश्वर की भक्ति है, मुख्य मनुज का धर्म,
राजभक्ति भी चाहिए, सच्ची सहित सुकर्म।
सच्ची सहित सुकर्म, देश की भक्ति चाहिए!
पूर्ण भक्ति के लिए, पूर्ण आसक्ति चाहिए।

ईश्वर-भक्ति, राजभक्ति के पश्चात् देश-भक्ति का क्रम हमें श्रीमती ऐनी बेसेण्ट के मंत्र—ईश्वर, सम्राट् और देश के लिए (For God, Crown and Country) का स्मरण दिलाता है। ब्रिटिश सम्राट् की कृपाकांक्षिणी कांग्रेस की भी अधिकृत नीति सदैव ब्रिटिश राजतंत्र में राजभक्ति के साथ स्वशासन प्राप्त करने की रही थी। सन् १९१७ तक कांग्रेस ने राजभक्ति के प्रस्ताव स्वीकृत किये हैं।[1] वर्तमान आपत्ति के समय हिन्दुस्तान के लोगों ने जिस उत्कृष्ट राजभक्ति का परिचय दिया है उसे देखते हुए यह कांग्रेस सरकार से प्रार्थना करती है कि वह इस राजभक्ति को और भी गहरी और स्थिर बनावे और उसे साम्राज्य की एक मूल्यवान निधि बनाले।"[2]

राष्ट्रसभा (कांग्रेस) भारत-राष्ट्र की प्रतिनिधि राजनीतिक संस्था इस समय सौम्यदल के प्रभाव में थी। उग्रदलीय नेता तिलक कारावास भोग रहे थे और लाला लाजपतराय निर्वासित थे। 'राष्ट्रसभा' सम्राट् की कृपा-कांक्षिणी बनी हुई किसी प्रकार राष्ट्रीयता बनाये हुई थी। इस स्थिति में कवि के उद्गार हैं—

१ महारानी महाराज जिएं जग शोभा-साज सजा करके
निज धर्म कर्म में लगे रहें शुभ जीवन ज्योति जगा करके
(कृतज्ञता ब्रिटेन की भारत के प्रति : पाठक)

२. चिरजीवें सम्राट् होयँ जय के अधिकारी!
होवें प्रजासमूह मधुर सम्पन्न सुखारी।
(सुभद्रा कुंवरि)

---

१ कांग्रेस का इतिहास : पट्टाभि सीतारामय्य का अध्याय ३ देखिए।
२ कांग्रेस का प्रस्ताव १९१४ ई०

१९१४ में जब लो० तिलक ब्रह्मा के कारागार से छूटकर स्वदेश लौटे तो उन्होंने राष्ट्र का उग्र नेतृत्व किया सौम्य जड़ता से जगाकर उन्होंने देश के कण्ठ में नया हुंकार दिया। इसी समय श्रीमती बेसेंट भी अधिकार की चेतना जगा रही थीं। "एक आकर्षक नेता (२) एक विशेष लक्ष्य और (३) एक युद्ध-घोष" का मत स्थापित किया। नेतृत्व तिलक ने किया, 'स्वराज्य' को लक्ष्य बतलाया और 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' युद्ध-घोष गुंजरित हुआ। देश की जड़ता में एक नवप्राण-नवजीवन संचारित हो गया।

इसी समय प्रथम महासमर छिड़ गया और भारतीयों को क्रांति का स्वप्न दिखाई देने लगा। यह स्मरणीय है कि इन्ही दिनों विप्लववादियों ने भी वाह्य शक्तियों से मिलकर देश को स्वतन्त्र करने के गुप्त प्रयत्न किये थे। कवि अत्याचार की ही प्रतिक्रिया युद्ध और क्रान्ति को मानता है—

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे
विश्व में फैली भयानक भ्रांतियां।
दण्ड अत्याचार बढ़ते ही गये
कट गये लाखों, मिटी विश्रांतियां।
गद्दियां टूटीं, असुर मारे गये—
किस तरह ? होकर करोड़ों क्रान्तियाँ।
तब कहीं है पा सकी माता-मही
मृदुल जीवन में मनोहर शान्तियाँ।
बज उठी संसार भर की तालियाँ
गालियाँ पलटीं हुई ध्वनि जयति जय।
(हृदय : 'एक भारतीय आत्मा')

उधर भारत के नये नेता लोकमान्य तिलक आये तो इधर हिन्दी भारती (या 'भारत-भारती') दीन भारत को जगाने आ चुकी थी। 'है दीन भारत को जगाने आ चुकी अब भारती।' पिछले वर्षों की राजनीतिक खण्डता अब अखण्डता हो रही थी:—

जातीयता का भाव देखो ! है यहाँ जगने लगा।
प्रांतीयता का पाप इनको छोड़कर भगने लगा।
(एक भारतीय आत्मा)

तिलक ने स्वराज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है की प्रेरणा जगाई और हिन्दी के कवियों के कण्ठ-कण्ठ में राष्ट्रीय वीणा झंकृत हो उठी। हिन्दी के कवि एक बार फिर देश के वैतालिक बन गये। यह राष्ट्रीय गीतों का नवोत्थान काल था।

एक अभय भावना कवियों में जाग उठती है—

दयामय ! भारत की जय हो
न हमको कोई भी भय हो ! (गुप्त)

स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान जाग उठता है—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक-समान है ![1]

'स्वराज्य की अभिलाषा' मुखरित हो उठती है—

जो पर पदार्थ के इच्छुक हैं,
वे चोर नहीं तो भिक्षुक हैं।
हमको तो 'स्व' पद विहीन कहीं,
है स्वयं 'राज्य' भी इष्ट नहीं।

(स्वराज्य : मैथिलीशरण गुप्त)

उस समय हिन्दी के कवि की चेतना-भावना क्रान्ति का एक मार्ग टटोल रही थी। यह भावना वस्तुतः राष्ट्र के आन्तरिक राष्ट्रीय चेतना की ही एक अभिव्यक्ति थी। नेताओं के सतत् उद्‌बोधन द्वारा हिन्दू-मुसलमान दोनों में पर-राज्य के प्रति जो असन्तोष भड़क उठा था कवि की वाणी उसी का उद्‌गार थी—

कह दो 'हर हर' यार या
अल्ला अल्ला बोल दो ![2]

सर्वत्र एक ऐसी अधिकार-चेतना जाग उठी थी जिसके बिना राष्ट्र के निवासियों में स्वतन्त्रता की भावना नहीं आती।

मानवता का तत्त्व अब प्रत्येक छोटे-बड़े देशवासी के हृदय में स्पंदित हो रहा था—

सबके देह सभी के जान,
मनुज मात्र के स्वत्व समान ![3]

---

१. सनेही ; २. सनेही : ३ (रामकिशोरीलाल : प्रताप)

स्वतन्त्रता की चेतना और 'स्वातन्त्र-प्रेम' की भी सुन्दर योजना हुई है—

पर अभिज्ञ जो हो गया, स्वतन्त्रता के मर्म से,
इसको बढ़कर जानता तन से, धन से, धर्म से ![1]

कर्म-योग की दीक्षा लोकमान्य तिलक दे रहे थे, परन्तु रह-रह कर प्राचीन युद्ध-प्रतीक ही कृपाण के रूप में चमकती थी—

लेकर कर्म-कृपाण, ज्ञान की सान चढ़ाओ
बल-विद्या-विज्ञान भिलम उर पर झलकाओ॥
स्वाभिमान के साथ समर में सम्मुख आओ।
चलो बला को चाल कला कौशल दिखलाओ।
दिन पर दिन उन्नति करो विघ्नों का संहार हो
शब्द गगनभेदी उठे ऐसा जय जय कार हो।[2]

यूरोप में स्वतन्त्रता के लिए कई राष्ट्र जूझ रहे थे। उस समय भारतवर्ष के मन में भी बड़ी कसमसाहट थी। हिन्दी के कवि को कभी फ्रांसीसी राष्ट्र-गीत खड्ग उठानेकी प्रेरणा देता है, जिसमें सशस्त्र क्रांति का इङ्गित है

उठो ! वीरगण ! उठो शस्त्र लो !
ले लो खडग पटक दो म्यान।[3]

तो कभी बेलजियम का राष्ट्रीय गीत उत्सर्ग की प्रेरणा देता है, जिसमें 'नृप, कानून और स्वातन्त्र' का मंत्र है—

हम सब पुत्र ढाल पर तेरी, यह पद अङ्कित करते हैं।
दुख हो या सुख, घर या बाहर, इसी बात पर मरते हैं॥
लिखा रहे तेरे भण्डे पर, नृप, कानून, और स्वातन्त्र्य॥[4]

उपनिवेशों में गोरों के द्वारा कालों पर हो रहे अत्याचारों पर कवि का आक्रोश जाग उठता है—

गोरे जो हैं गर्म मुल्कों में बसे,
कभी कभी यारो न यह सँवलायेंगे ?

---

१. (शिबराम शुक्ल : प्रताप) २. (जीवन-संग्राम : सनेही) ३. स्वतन्त्रता की हुँकार (बदरीनाथ भट्ट 'प्रताप') ४. बेलजियम का राष्ट्रीय गीत (सनेही। प्रताप)

घेरे फिरते हैं जिसे देखो त्रिशूल,
देखे दुखिया लोग कब सुख पावेंगे ॥[1]

देश में जाग्रति का परिचय इससे मिलता है कि ऐसे 'राष्ट्र वीर' की पुकार होने लगी थी—

चाहिये हमको ऐसे वीर,
जो कर्त्तव्य-क्षेत्र में आकर, होवे नहीं अधीर !

× × ×

एक राष्ट्र, समस्वत्व, साम्य पद का उद्देश्य महान।
इसीलिए सब कुछ उनका ही तन मन धन और प्राण ![2]

राष्ट्र के उद्धार की प्रेरणा भारतीयों के हृदय में प्रखर रूप से प्रज्ज्वलित थी। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने 'मिलन' काव्य में सांकेतिक आख्यान के द्वारा अपने देश की राजनीतिक परिस्थितियों की भूमिका राष्ट्र के युवक-युवतियों को प्रेरणा देने का उपक्रम किया। यह प्रेरणा थी अत्याचारी विदेशी शासन के उच्छेद की। इसका साधन बनकर 'सशस्त्र विरोध (या संग्राम) ही आया है और वह उस युग की राष्ट्रीय चेतना के ही अनुरूप था।

(बल और बलि)

'स्वराज्य _ ारा जन्मसिद्ध स्वत्व है' यह चेतना राष्ट्र-संकल्प बन चुकी है—

मिलेंगे ... सब, है किसका यह साहस जो रोकेगा ?
चरण अङ्ग... का बनकर कौम जब इसपर डटी होगी।

(जातीय संगीत : सनेही)

'कर्मयोग' की दीक्षा देनेवाले लोकमान्य तिलक अब राष्ट्र के नेता थे। 'गीता-रहस्य'कार गीता के आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त से राष्ट्र को अनुप्राणित कर रहे थे और कविगण उसी विश्वास में गाते थे—

जो साहसी नर है जगत में कुछ वही कर जायगा
निज देश हित साधन करेगा अमरयश धर जायगा

१. (जातीय संगीत : 'त्रिशूल') २. (जयन्त : 'प्रताप')

आत्मा अमर है, देह नश्वर, है समझ जिसने लिया।
अन्याय की तलवार से वह क्यों भला डर जायगा ?

(कर्तव्य : सनेही)

आत्मा की अमरता की प्रशस्ति में गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है— "इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। यह छेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है।"[१] देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता का विधान गीता के ही अनुसार है।

दूसरी ओर समुद्र पार से भारत-पुत्र गांधी जी की सौम्य किन्तु सशक्त वाणी सुनाई देती थी—

भय ही नहीं किसी का है जब, करें किसी पर हम क्यों क्रोध ?
जियें विरोधी भी, विरोध ही पायेगा हमसे परिशोध !
अस्त्र अपूर्व अमोघ हमारा निश्चित है निष्क्रिय प्रतिरोध;
प्रतिपक्षी भी रण में, हम से पावें प्रेम, प्रसाद, प्रबोध !
रक्तपात वीरत्व नहीं, वह है वीभत्स-विधान !
सुनो, सुनो भारत-सन्तान !

(गांधी गीत : मैथिली शरण गुप्त)

अन्याय का सामना करते हुए अब तलवार हमारे स्वराज्यवादी वीरों ने गिरा दी है। यह स्मरणीय है कि यह तलवार केवल स्वप्निल ही थी। राष्ट्र के पास न अस्त्र-शस्त्र थे, न लड़नेवाले राष्ट्रीय योद्धा। असहाय और निःशस्त्र राष्ट्र के पास एक मात्र अस्त्र आत्मा के बल का था। कृष्ण ने ही आत्मा के अमरत्व की प्रतिष्ठा की थी और उन्होंने मारने-मरने की शिक्षा 'भारत' (अर्जुन) को दी थी; परन्तु इस भारत के पास तो मारने की शक्ति न थी, मरने की थी—मरना भी तो स्वर्ग का ही एक मार्ग गीता-गायक ने बताया था—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।[२] यदि मरेगा तो स्वर्ग मिलेगा"इत्यादि। इस प्रकार भारत के लिए मरना ही धर्म हो गया। मरने में ही उसे उत्साह, ओज और उत्तेजन मिला। हिंसक युद्ध में

---

१. 'गीता-माता' [महात्मा गांधी] : दूसरा अध्याय २३-२४

२ अन्यत्र भी—यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्। गीता : २-३२

मारकर मरना एक वीर-कर्म था; इस अहिंसक युद्ध में अपने अधिकार के लिए, देश के लिए बिना मारे मर जाना एक वीर-कर्म माना गया और नूतन क्षात्र-धर्म प्रतिष्ठित हुआ।

यह भावना केवल कविता में ही नहीं थी, राष्ट्र-वीरों के हृदय में थी—

मातृभूमि के हित जो आवे मोददायिनी कजा कहीं।
उसी मृत्यु में मिलता है क्या जीने का सा मजा नहीं ?[1]

न जाने कितने ही 'देशभक्त' और 'क़ौम-परस्त' पुरुष माता की स्वतंत्रता के लिए सिर तक देने का संकल्प ले चुके थे। करतारसिंह, जगतसिंह, काशीराम, हरनामसिंह, बख्सीससिंह, आदि आदि माई के लाल फाँसी पर चढ़ गये। वे जेलों में भी गये, और वहाँ तिल-तिल कर प्राणों का होम किया। ऐसे ही एक वीर ने गाया था—

सन उन्नीस सौ बहत्तर माह मगहर दूसरी।
शहर की पलटन का दस्ता मुक्ति को जाता है आज।
है जगाया हिन्द को करतार तेरी मौत ने।
कसम हर हिन्दी तेरे ही खून की खाता है आज।[2]

परन्तु ऐसी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में ढूंढ़े भी नहीं मिलतीं। ऐसी उग्र कविताओं को जनता के कण्ठ ही मुखरित कर सकते थे। उपर्युक्त कविता के 'एक भक्त' की भांति 'एक युवक विद्यार्थी, 'एक देश-प्रेमी', 'चक्र-सुदर्शन' एक 'वज्र', आदि-आदि कवि प्रकट हुए जिनमें प्रचण्ड प्राणोत्सर्ग की ज्वाला थी। "ऐ मेरी जान भारत! तेरे लिए ये सर हो!"[3] 'तेरे लिए जियेंगे, तेरे लिए मरेंगे',[4] आदि पंक्तियाँ केवल मुख से ही निकली नहीं जान पड़तीं। उनमें राष्ट्र की आत्मा बोल रही है।

(होमरूल)

सन १९१६ से स्वतंत्रता की यात्रा में 'स्वराज्य' का नवयुग आरंभ हुआ। लोकमान्य तिलक कहा करते थे—न्यायनिष्ठ व सत्यनिष्ठ मनुष्य कहते हैं कि कानून के कृत्रिम बन्धनों को न मानना ही उचित है। परन्तु इसके

---

१. एक भक्त : प्रताप : २. जगतराम : ३. भारतमाता' : (एक युवक विद्यार्थी ;) ४. स्वदेश-प्रेम : एक देशप्रेमी।

लिए सत्य और न्याय के प्रति अति तीव्र निष्ठा आवश्यक होती है—इतनी कि अपने सुख, स्वार्थ और सन्तान तक का ध्यान मन में न आना चाहिए। इसी को मानसिक धैर्य, सच्ची अभयनिष्ठा अथवा सात्त्विक शील और दानत कहते हैं। यह गुण विद्वत्ता से नहीं आता, न बुद्धिमत्ता से ही। इसके लिए उपनिषद् का यह वचन स्मरण रखना चाहिए—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

गीता का आत्मा की अमरता का सन्देश, दर्शन का सत्य, शिव सुन्दर का समन्वित मंत्र तथा 'शूली? वह ईसा की शोभा!' और 'कृष्ण का जन्म-स्थान' कारागार सत्याग्रह के इस विधान में प्राण-प्रेरक तत्त्व बन गये—

मुझे ज्ञात है,
'बलहीनेन लभ्य' मन्त्र विख्यात है।
आखिर किसका डर है? आत्मा अविनश्वर है!
प्राप्ति सत्य, शिव, सुन्दर की, व्याप्ति बने जीवन भर की,
रहें कहीं हम ऊँचा शिर होगा।
कारागार कृष्ण-मंदिर होगा।
शूली? वह ईसा की शोभा, प्रस्तुत हूँ मैं सभी प्रकार।

(नवयुग का स्वागत : मैथिलीशरण गुप्त)

'निष्क्रिय प्रतिरोध' अथवा 'सत्याग्रह' मनुष्य के पशुबल का लक्षण नहीं, आत्म-बल का प्रतीक था और महात्मा गांधी ने इसे प्रयोग द्वारा 'मंत्रपूत' कर दिया था।—

मैं अमर हूँ, मौत से डरता नहीं।
सत्य हूँ मिथ्या डरा सकती नहीं।
मैं निडर हूँ शस्त्र का क्या काम है?
मैं अहिंसक हूँ, न कोई शत्रु है।

(रामनरेश त्रिपाठी)

सत्याग्रह-धर्म को कवि ने सच्चे रूप में हृदयंगम करके कविता में प्रतिष्ठित किया।

भारत का स्वराज्य-आन्दोलन तिलक और गांधी की पथदर्शिता में जिस ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर संचालित हुआ उसका पूर्ण स्वरूप तत्कालीन कविताओं में प्रतिबिम्बित हुआ है।

'स्वराज्य-आन्दोलन' की प्रेरणा ने प्रत्येक कवि का कण्ठ आनन्दोल्लास से मुखरित कर दिया। गणेशशंकर जी के राष्ट्रीय पत्र 'प्रताप' के पत्रों में उन दिनों ऐसे गान प्रकट हुए जो राष्ट्र के ओज और उत्साह के साथ-साथ सत्याग्रह के दर्शनतत्त्व की पूरी मुद्रा लिये हुए थे। 'इस आन्दोलन की रूपरेखा पूर्ण रूप से शान्तिमय थी, फिर भी वह केवल विरोध ही नहीं था। वह अन्याय के विरोध का एक निश्चित किन्तु अहिंसात्मक रूप था।'[१] यह आत्मबल था, शरीर का बल नहीं—यह एक निशःस्त्र राष्ट्र का अहंकार ही न होकर उसकी अजर-अमर आत्मा का जाग्रत स्वाभिमान था।

सम्पूर्ण देश में एक प्रचण्ड स्वराज्य-आन्दोलन चल पड़ा, बल और बलिदान उसके सहचर हो गये। हमारे श्रेष्ठ कवि ने जब किसी उर्दू-कवि से सुना—

कहते हैं 'मालवी' जी—हम होमरूल लेंगे !
दीवाने हो गये हैं गूलर के फूल लेंगे !!

तो उसने इसके युक्तियुक्त उत्तर में कहा था—

जब होम-रूल होगा, बरबैंक जन्म लेंगे,
हाँ हाँ जनाब तब तो गूलर भी फूल देंगे !

वस्तुतः स्वराज्य की पुकार घर-घर से, कण्ठ-कण्ठ से निकल रही थी। इसी उच्च स्वर के आगे कांग्रेस के मध्यम स्वर की उपेक्षा ध्वनित है इस गान में—

'खुला यह कहते हैं आज अब हम स्वराज लेंगे, स्वराज लेंगे !
करेंगे आवाज अब न मध्यम स्वराज्य लेंगे, स्वराज्य लेंगे !'

इस कविता में औपनिवेशिक स्वराज की माँग मुखरित है। 'होमरूल' ('स्वराज्य') आन्दोलन के दिनों में किस प्रकार तिलक के ओजस्वी आह्वानों पर सारा देश जाग उठा था, जाग ही नहीं उठा था, अपने लक्ष्य 'स्वराज्य' की ओर चल पड़ा था और चलते हुए हुंकार कर उठा था यह कविता के छन्दों में सुनिए—

'मैं बूढ़ा हूँ दिन थोड़े हैं चल बसने की अब बारी है,
जब तक भारत स्वाधीन न हो, तब तक न मरूँ तैयारी है।

---

१. 'राष्ट्र पिता' : जवाहर लाल नेहरू

मजबूत कलेजों को लेकर इस न्याय-दुर्ग पर चढ़े चलो,
माता के प्राण पुकार रहे, संगठन करो, बस चढ़े चलो।
वह धन लाओ, जीवन लाओ, आओ आओ दृढ़ डोर लगे !
प्यारा स्वराज्य कुछ दूर नहीं, बस तीस कोटि का जोर लगे।'

कवियों में पहिली बार मैस्विनी की बलि-स्फूर्ति (Spirit of Sacrifice) आ गई है। 'सनेही' अपने पुत्रत्व की सार्थकता मातृभूमि के लिए बलि होने में मानते हैं—

हे माता वह दिन कब होगा तुझ पर बलि-बलि जाऊँगा ?
तेरे चरण-सरोरुह में मैं निज मन-मधुप रमाऊँगा ?
कब सपूत कहलाऊँगा ?[१]

इस काल में शब्द 'कर्मवीर' एक आदर्श का व्यंजक हो गया। लोक-हितार्थ निष्काम कर्म करना, और बाधा-विघ्न को कुचलते हुए अन्त में मरकर अमर हो जाना—यह कर्मवीर का धर्म है।

कर्म है अपना जीवन - प्राण,
कर्म पर आओ हो बलिदान !

मरण में जीवन देखना ही अब वरणीय हो गया—

वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न-बाधाएँ हरो।
मर कर जियो, बन्धन-विवश पशु सम न जीते-जी मरो।
(कर्मवीर बनो : गुप्त)

अन्त में यह 'वाञ्छा' संकल्प बन कर जाग्रत हो गई है कि—

उद्देश्यों को पूर्ण करेंगे यही रहेगा ध्यान,
करना पड़े भले ही हमको प्राणों का बलिदान !
(सियारामशरण गुप्त : प्रताप)

'अहिंसक राष्ट्रवाद'

कर्मवीर गांधी ने सत्याग्रह और असहयोग द्वारा राष्ट्रीय जीवन को एक निश्चित क्रान्ति-योग दिया। गांधी का राष्ट्रीय जीवन में पहिला योग यह था कि उन्होंने स्वतन्त्रता की आग को अभिजात-वर्ग से लेकर अखिल जन-समाज में बिखेर दिया। वर्ग-आन्दोलन उन्हीं के दिशा-निर्देश से जन-

१. 'राष्ट्रीय वीणा'

आन्दोलन बन गया। आरामकुर्सियों पर बैठकर प्रस्ताव-निर्माण भी कर देना तो राष्ट्रीयता 'स्वदेशी आन्दोलन' के समय से छोड़ चुकी थी, परन्तु राष्ट्र के नेताओं की मंच-ध्वनि को जन-ध्वनि बना कर जनता को अपने साथ लेकर उसे मर-मिटने की आकांक्षा करना गांधीजी ने ही सिखाया।

दादाभाई नौरोजी, फ़ीरोजशाह मेहता, गोखले, तिलक सबकी आवाज देश की जानी-पहचानी थी किन्तु गांधी जी की आवाज जैसे युग-युग पूर्व की आवाज थी—और इतनी पुरानी होकर भी वह नितान्त नई और निराली थी। इसके विश्लेषण में पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—

'उसकी आवाज औरों की आवाज से जुदा थी। वह एक शान्त और धीमी आवाज थी, लेकिन जन-समुदाय की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, किन्तु उसमें कहीं न कहीं फौलादी स्वर छिपा दिखाई देता था। उस आवाज में शील था, और वह हृदय को छू जाती थी, फिर भी उसमें कोई ऐसा तत्त्व था जो कठोर भय उत्पन्न करने वाला था। उस आवाज का एक-एक शब्द अर्थपूर्ण था और उसमें एक तीव्र आत्मीयता का अनुभव होता था। शान्ति और मित्रता की उस भाषा में शक्ति और कर्म की काँपती हुई छाया थी और था अन्याय के सामने सिर न झुकाने का संकल्प।'[1]

रौलट के काले कानूनों के विरोध में सत्याग्रह करने की प्रेरणा गांधीजी ने दी; सारा देश सत्याग्रह के पथ पर चलने के लिए सन्नद्ध हो गया!

(जलियाँवाला बाग काण्ड : असहयोग)

इसी बीच जलियाँवाला बाग का वह रोमांचकारी हत्याकाण्ड हुआ, जिससे भारतीय आत्मा विद्रोह के लिए उठ खड़ी हुई। अभी तक राष्ट्र का ब्रिटिश-शासन के प्रति एक विश्वास था, परन्तु जलियाँवालाबाग कांड से राष्ट्र की ब्रिटिश-आस्था हिल उठी। तभी से भारत की राजनीति ने एक करवट बदली। सहयोग के स्थान पर 'असहयोग का मार्ग गांधी ने अपनाया। परन्तु मानवीय तत्त्व (human element) को न छोड़ा। इस समय की कविता में दबी हुई हिंसा का उन्नयन मिलता है।

भारत-राष्ट्र के हृदय में कैसे विद्रोह की प्रेरणा जाग्रत हो गयी थी इसका कुछ आभास देना उचित होगा। पिछली शताब्दी में रचित 'वन्देमातरम्' में

१. 'राष्ट्रपिता' : पंडित जवाहरलाल नेहरू

माता को दुर्गा के रूप में देखा गया था और कोटि-कोटि मानवों को उसके सशस्त्र भुजदण्डों के रूप में—

'द्वित्रिंशकोटिभुजैर्धृतखरकरवाले !'

परन्तु ये शस्त्र ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध न थे, अब तो ब्रिटिश राज्य के के प्रति राष्ट्र की भावना उग्र है।

मैथिलीशरण गुप्त की एक कविता में भारत-माता ब्रिटिश सिंह-वाहिनी भवानी की मूर्ति बन गई है, जिसके हाथ में त्रिशूल है और कवि के कण्ठ में एक नवोत्थित राष्ट्र का दर्प जाग्रत होकर हुंकारम्भर रहा है—

वरद हस्त हरता है तेरे शूल शक्ति की सब शंका,
रत्नाकर-रसने, पैरों में अब भी पड़ी कनक-लंका.
ब्रिटिश-सिंहवाहिनी बनी तू विश्व-पालिनी रानी !

वस्तुतः कवि को यह चेतना अब है कि अतीत आराध्य था, तो वर्तमान व्यवहार्य और साधनीय है तथा भविष्य सिद्धि के योग्य है—

तेरा अतुल अतीत काल है,
आराधन के योग्य समर्थ।
वर्तमान साधन के हित हैं,
और भविष्य सिद्धि के अर्थ।
भुक्ति मुक्ति की युक्ति, हमें
तू रख अपना अभिमानी !

(मातृमूर्ति : मैथिलीशरण गुप्त)

श्रीमती एनी बेसेंण्ट के आह्वान पर शत-सहस्र वीरबालाएँ देश-सैनिक बन गयी थीं—

बाधाओं के दुर्गम गिरि वन, खड़े हुए हों बाँध कतार।
चुनी गई हों पथ में चाहे, तीखे काँटों की दीवार।
किन्तु न भारतीय बालाएँ पीछे पैर हटायेंगी।
निश्चय अपने साहस से, अरि-दल को धूल मिलायेंगी।

सारे राष्ट्र की भावना इस प्रकार गूँज रही थी—

असहयोगान्दोलन की समर भेरी बजा दीजे।
निडर हो द्वेषियों को शक्ति, अब अपनी दिखा दीजे।

स्वशासन कौन देता है खुशी से पैर पड़ने से ?
अगर हो "हिम्मते मरदाँ", तो खुद कब्जा जमा लीजे।[1]

अपना हृदयासन प्रस्तुत किये हुए अब सत्याग्रही स्वतन्त्रता के आह्वान के लिए संकल्प लेते हैं—

सत्य का झंडा लेकर वीर, चलेंगे आचरणों के साथ।
पहनकर प्रभा-पूर्ण प्रिय चीर, देवि अब आओ करो सनाथ॥[2]

युग-युग से चली आती हिंसावादी राजनीति की भूमिका में अब सत्य और अहिंसा का मन्त्र-पाठ होने वाला था। संसार के इतिहास में भी यह एक क्रांति थी। भारत का तो यह राजनीति में एक नया अध्याय था। इस अध्याय के लेखक थे नये गुरु गांधी। इस नये गुरु ने अब नये-नये विद्यार्थी बनाये थे जो बलिदान के लिए प्रस्तुत थे—

नये शिक्षक ने हँसकर कहा—अहा, मैं होता हूँ बलिदान।
नया विद्यार्थी दल कह उठे—हुए लो हम भी यह बलिदान॥[3]

इस गुरु की नई शिक्षा अब देश को नई दिशा बताने लगी। कृपाण और खड्ग का नहीं, जेल और हथकड़ी-बेड़ी का मार्ग स्वाधीनता का मार्ग हुआ। रक्तदान लेने के बदले उन्होंने रक्तदान देने का धर्म राष्ट्रीय योद्धा और वीर के आगे प्रतिष्ठित किया। राष्ट्र की बलिवेदी को अपने मस्तक से सजा देने की दीक्षा उनके सत्याग्रह ने दी। हिन्दी के कवियों ने इसका मंगलाचरण और इसकी प्रशस्तियाँ अपनी वीणा पर छेड़ी। सत्याग्रह के मार्ग पर गाने वाले सत्याग्रह को कारागार कृष्ण-मन्दिर हो गये और बन्धन की कड़ियाँ और बेड़ियाँ छन्दों में झनझनाने लगी—

आत्म देव ! प्यारी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ दें परितोष।
उतनी ही आदरणीया हैं, जितना वह जय जय का घोष॥
तू सेवक है, सेवा-व्रत है, तेरा जरा कुसूर नहीं।
'शूली—वह ईसा की शोभा', वह विजयी दिन दूर नहीं॥

(बन्धन सुख : एक भारतीय आत्मा)

प्रत्येक सत्याग्रही वीर ने प्रतिज्ञा की—

---

१. राष्ट्रीय पथिक : समर-भेरी। २. दशरथ प्रसाद द्विवेदी। ३. 'एक भारतीय आत्मा'

चलो हम आहुति दे-दें प्राण।
न होगा कर्म-यज्ञ बिन त्राण॥
करें कल्याण राष्ट्र-निर्माण।
ध्वनित हो वन्देमातरम् गान।
करेंगे तन मन धन बलिदान।
सुदृढ़ तैंतीस कोटि सन्तान॥
पूर्ण हो विजय यज्ञ भगवान।
जपेंगे जय जय मन्त्र महान॥[१]

इस सत्याग्रह का प्रथम प्रयोग राष्ट्रीय व्यापकता के साथ हुआ अगस्त १९२० में। इसके पूर्व तो विस्फोट के पूर्व की कसमसाहट थी। हिन्दू-मुसलिम का कोई भेद राष्ट्रीयता में न था अतः इसे पूर्ण राष्ट्रीय कहेंगे।

हिन्दू मुसलिम ऐक्य मूलक राष्ट्र-भावना का भी स्वस्थ सुन्दर प्रभाव कविता पर पड़ा है।

कहीं 'तरानये इत्तिहाद' छिड़ रहा है—

१. वह हिन्दू वह मुसलमाँ जो कल जुदा जुदा थे।
आज एक दूसरे के ग़मख्वार हो गये हैं॥
२. जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी,
मुसलमान, सिख, ईसाई।
कोटि कण्ठ से मिलकर कहदो,
'हम सब हैं भाई भाई!'

मौलाना मुहम्मदअली ने कहा था कि 'हिन्दू-मुसलमान दोनों भारतमाता की दो आँखें हैं।' इसी भावना की कवित्वमय अभिव्यक्ति है—

हिन्द माता की दोनों आँख, 'नाक' को रखकर बीचों बीच।
अश्रु की उज्ज्वल धारा छोड़,प्रेम का पौधा देवें सींच॥
मुहम्मद पर सब कुछ कुर्बान,मौत के हों तो हों महमान।
कृष्ण की सुन मुरली की तान, चलो हों सब मिलकर बलिदान॥[२]

खिलाफत और असहयोग किस प्रकार एक ही आन्दोलन के दो पार्श्व हो गये थे यह 'त्रिशूल' की इस कविता में ध्वनित हो रहा है—

---

१ प्रतिज्ञा : 'मयंक'। २ जीवित जोश : एक भारतीय आत्मा

क़लम की स्याही गिरती जाय,
पत्र पर उठता जाता चित्र ।

उसमें—

हथकड़ी बेड़ी दिवालें जेल की ।
दीर्घ पिंजड़े कठघरे भी हैं खड़े ॥[१]

हैं और जेल में हाँ प्राण देने वाले कैदी भी—

देह कैदी रह गया उस स्थान पर ।
किन्तु देही स्वर्ग में था यान पर ॥[१]

इस प्रकार इस राष्ट्रीय कविता में राष्ट्र के राजनीतिक जीवन की पूरी प्रति-च्छबि मिलती है । अंग्रेज़ों का दमन और उत्पीड़न से पूर्ण शासन उसमें पूर्ण-तया लिखा हुआ है ।

आख्यान-काव्य के रूप में इस असहयोग की भावना की अभिव्यक्ति हुई रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' में । 'पथिक' देशभक्ति पूर्ण एक काल्पनिक आख्यान है । देश की वर्तमान दयनीय-शोचनीय दशा के साथ साथ उसमें समाज के कर्त्तव्य-पालन, कर्मयोग, आत्मबल और बलिदान नामक व्यक्तिगत गुणों और असहयोग नामक नवआविष्कृता जन-शक्ति का सफल संकेत है । आततायी स्वदेशी शासन को पीड़ित प्रजा अपने लोक-सेवक, लोक-नेता पथिक की निःस्वार्थ आत्माहुति से अनुप्राणित होकर असहयोग के साधन द्वारा राजा को अपदस्थ और देश से निर्वासित करती है और इस निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा स्वराज्य के सर्वश्रेष्ठ रूप जन-राज की प्रतिष्ठा करती है । जनता के विचारशील वर्ग की राजनीतिक आकांक्षा का यह एक सुन्दर स्वप्न-चित्र है ।

'राष्ट्रीय प्रतीकवाद और प्रशस्ति'

१६०६ से लेकर १६१४ तक गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह-संग्राम का संचालन किया और पीड़ित भारतीयों को विजय दिलाई । दूर देश में होते हुए भी भारत की भूमि पर इस निःशस्त्र सत्याग्रह संग्राम की प्रति-ध्वनि स्पष्टतया कविता में सुनाई देती है । सन् १३ में इस 'निःशस्त्र सेनानी' के प्रति एक भारतीय आत्मा ने प्रशस्ति अर्पित की थी—

१ रामानुज : (राष्ट्रीय वीणा)

'देह' ?—प्रिय यहाँ कहाँ परवाह,
टँगे शूली पर चर्मक्षेत्र ।
'गेह' ?—छोटा सा हो तो कहूँ
विश्व का प्यारा धर्मक्षेत्र
शोक ?—'वह दुखियों की आवाज,
कँपा देती है मर्मक्षेत्र ।
हर्ष भी पाते हैं ये कभी ?
तभी जब पाते कर्मक्षेत्र !![1]

भारतीय पुराण ने कवि की भावुक कल्पना को प्रेरणा दी और भागवत की गाथा के आधार पर एक राष्ट्रीय प्रतीकवाद (Symbolism) प्रस्तुत हो गया : द्रौपदी भारतमाता हो गई, और मोहन (कृष्ण) मोहनदास गाँधी हो गये—

यह प्रियतम भारत देश,
सदा पशु बल से जो बेहाल।
वेश ?—यदि वृन्दावन में रहे,
कहा जावे प्यारा गोपाल ।
द्रौपदी, भारत माँ का चीर,
बढ़ाने दौड़े यह महाराज !
मान लें, तो पहनाने लगूँ,
मोरपंखों का प्यारा ताज ![1]

गांधी का सत्याग्रह-संग्राम, धर्मयुद्ध होने के कारण 'महाभारत' हुआ और दुःशासन 'दुःशासन' हो गया—

उधर वे दुःशासन के बन्धु,
युद्ध-भिक्षा की झोली हाथ।
इधर ये धर्म-बन्धु नय-सिन्धु,
शस्त्र लो, कहते हैं 'दो साथ' ॥[1]

सत्य (न्याय) पक्ष अर्थात् धर्मराज का पक्ष और असत्य (अन्याय) पक्ष अर्थात् दुःशासन का पक्ष हुआ। यह हमें अर्जुन और दुर्योधन की कृष्ण से युद्ध भिक्षा-याचना की स्मृति दिलाता है। कृष्ण ने भी न्याय के पक्ष में निःशस्त्र ही रहने का संकल्प किया था—

---

१ 'एक भारतीय आत्मा'

लपकती हैं लाखों तलवार, मचा डालेंगी हाहाकार,
मारने मरने की मनुहार, खड़े हैं बलि-पशु सब तैयार।
किंतु क्या कहता है आकाश ? हृदय ! हुलसो सुन यह गुंजार
'पलट जाये चाहे संसार, न लूँगा इन हाथों हथियार !'

इधर कर्मवीर गांधी का सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध इस प्रकार मातृभूमि पर गुंजरित होने लगा था ; उधर ब्रह्मा में लोकमान्य तिलक कारागार के वासी थे। यह एक अद्भुत संयोग है कि कारागार में जन्म लेनेवाले कृष्ण के कर्मयोग का रहस्य समझने-समझाने के लिए वे 'गीता-रहस्य' भाष्य की सृष्टि कर रहे थे। गांधी भी दक्षिण अफ्रीका में हँसते-हँसते कारावास-भोग कर रहे थे। कारावास तो कृष्ण का जन्म-स्थल है, अत: वह तो प्रेय है, यह भावना कितनी उदात्त है !

हथकड़ियों ने कंस के कारागार की कड़ियों की, कारागार ने कृष्ण की जन्मभूमि की स्मृति मूर्तिमान कर दी—

प्यार ? उन हथकड़ियों से और
कृष्ण के जन्म-स्थल से प्यार !
'हार ?' कंधों पर चुभती हुई
अनोखी जंजीरें हैं हार !

अभी तो गांधी ने भारत-भूमि पर अपना कर्तृत्व प्रारम्भ भी नहीं किया था, परन्तु उनका नाम 'बिजली की तरह कौंधकर' भारत तक पहुँच चुका था। हिन्दी का कवि कितना जागरूक है उस भारत-पुत्र के प्रति अपनी श्रद्धांजलियाँ समर्पित करने में !

श्री गोकुलचन्द्र शर्मा ने तो एक खण्ड-काव्य के रूप में 'गांधी-गौरव' का गायन किया। छोटी-छोटी प्रशस्तियों की तो कोई गणना ही नहीं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'खुली है कूट नीति की पोल, महात्मा गांधी की जय बोल !' कहकर गांधी को प्रशस्ति दी। श्री सत्यनारायण कविरत्न ने भी ब्रजभाषा में गांधी को प्रशस्ति दी।

'एक भारतीय आत्मा' की कविता 'वीर पूजा' में गांधी का अभिनन्दन एक ऐसे विश्ववन्द्य वीर के रूप में किया गया जो जीवन और जागृति का जनक है—

पा प्यारा अमरत्व अमर आनन्द अभय पा,
विश्व करे अभिमान, वीर्य-बल-पूर्ण विजय पा,
जाग्रत जीवन-ज्योति जोर से हो, तू इनके
परम कार्य का रूप बने, वसुधा में चमके।
तू भुजा उठा दे हे जयी! जग चक्कर खाने लगे।
दुखियों के हिय शीतल बने, जगतीतल हुलसाने लगे॥

जो गरुड़ागामी विश्वम्भर विष्णु है, परन्तु दुखी का दुख-हरण करने के लिए भूचारी बना है—

कसी रहे कटि कर्म-महावारिधि तरने को,
गरुड़ छोड़ पथ चले दुखी का दुख हरने को।

जिसके स्वागत में न केवल १५ कोटि देशवासी पुरुष माला लिये और पन्द्रह कोटि स्त्रियाँ थालियाँ सजाये हुए प्रस्तुत हैं, वरन् हिमालय अर्घ्यदान करने के लिए और रत्नाकर पद-प्रक्षालन करने के लिए आतुर है एवं शस्य-श्यामला भारत भूमि कर्म-क्षेत्र बनने के लिए प्रस्तुत है—

आहा! पन्द्रह कोटि हार ले आये आली,
जगमग जगमग हुई कोटि पन्द्रह ये थाली,
अर्घ्य-दान के लिए हिमालय आगे आये,
रत्नाकर ये खड़े, धुलें श्री चरण सुहाये।
यह हरा हरा भावों भरा कर्मस्थल स्वीकार हो;
नवजीवन संचार हो, क्या हो, कृति हो, हुंकार हो।

(वीरपूजा : 'एक भारतीय आत्मा')

गाँधीजी ने पशु-बल के प्रतिरोध में जो आत्मबल की दीक्षा दी थी वह केवल पीड़ित देश को ही नहीं, विश्व को भी मुक्त करने के लिए थी। यह सच-मुच इतिहास का एक नया पृष्ठ ही था—

नया पन्ना पलटे इतिहास,
हुआ है नूतन वार्य-विकास
विश्व, तू ले सुख से निःश्वास,
तुझे हम देते हैं विश्वास।

(जयबोल : मैथिलीशरण गुप्त)

बिहार के नील क्षेत्रों में कृषकों की विजय हुई थी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के विजयी सेनानी महात्मा गांधी के नेतृत्व में आर्थिक क्षेत्र में भी

'सत्याग्रह' सफल हो चुके थे। इस प्रकार सत्याग्रह की गूँज होने पर कवि ने प्रह्लाद की कथा के माध्यम से उसके तत्त्व-दर्शन को प्रशस्ति दी—

किया आत्म-बल से पशु-बल का विग्रह अपने-आप,
बिठा दी क्रूरों पर भी छाप;
प्रेम-सहित, आतंक रहित था उसका प्रबल प्रताप,
पुण्य है पुण्य, पाप है पाप;
कभी, किसी का चला न चारा।
सत्याग्रह था उसे तुम्हारा।

गांधीजी अब इस प्रकार की भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे कि 'सत्याग्रह' राजनीतिक मुक्ति के लिए भी अस्त्र हो सकता।

स्वतन्त्रता, 'परवश, दीन, दरिद्र जनों के चित्त में, जो मेरे अनमोल मोल को जानते' जन्म लेती है और जिस प्रकार कारागार में ही कृष्ण का अवतार होता है उसी प्रकार कंस (अत्याचारी) को मारने के लिए स्वतन्त्रता का भी होता है—

होती हूं अवतीर्ण वहाँ मैं आप ही
खुल जाते हैं आप एक निमिषार्ध में
वे अति विकट कपाट बन्द जो आप भी
रहते हैं, परतंत्र जनों को बन्द रख।
स्वयम् उन्हीं परतन्त्र जनों की गोद में
होते हैं झट प्रकट, मार्ग खुलते सभी।

(स्वतन्त्रता का जन्मस्थान : राय कृष्णदास)

इसलिए कारागार में भी इन स्वतन्त्रता के दीवानों में उत्साह है तो उत्सर्ग के लिए, प्रेरणा है तो बलिदान के लिए।

देश के 'वसुदेव' और 'देवकी' के कारावास के कष्ट-सहन में ही स्वातन्त्र्य-कृष्ण का जन्म होगा। यह राष्ट्रीय प्रतीकवाद इस आधार पर था कि कवियों को गांधीजी के द्वारा संचालित अभियान में अब भारत के स्वातन्त्र्य की घड़ी निकट ही दिखाई देती थी—

देश के वन्दनीय वसुदेव, कष्ट में लें न किसी की ओट
देवकी माताएँ हों साथ—पदों पर जाऊँगा मैं लोट!
"जहाँ तुम, मेरे हित तैयार, सहोगे कर्कश कारागार—
वहाँ बस मेरा होगा वास, गर्भ का प्रियतर कारागार!

वर्ष टल गये महीने शेष ! साधना साधो रक्खो होश।
उन्हीं हृदयों में लूँगा जन्म जहाँ हो निर्मल 'जीवित जोश'।[1]

इसी स्वतन्त्रता के जन्म के लिए राष्ट्रीय वीरों ने हँसते-हँसते बलिवेदी का मार्ग अपनाया। मातृभूमि पर शीश चढ़ानेवाले वीरों के पथ की धूल का चुम्बन करने की अभिलाषा मानों भारतीय आत्मा में जाग उठी और वह एक पुष्प के प्रतीक में बोल उठा—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक ;
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।[1]

श्रद्धा के किस पावन मुहूर्त में मानस की इस मुक्ता का जन्म हुआ था कि जब राष्ट्रभारती की माला में इसकी अनुकृति और प्रतिकृति में राशि-राशि मुक्ता सजाये गये तो वह इन मुक्ताओं में सुमेरु ही रहा।

इस राष्ट्रीय प्रतीकवाद के लाक्षणिक उपादान इस प्रकार होंगे। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रतीकों से इस राष्ट्रीय कविता में एक नई आभा प्रकट हो गई :

(१) आततायी शासन और शासक : 'दुःशासन और कंस'
(२) निःशस्त्र सेनानी गाँधी इत्यादि : 'कृष्ण'
(३) कारागार : 'कंस का कारागार' और 'कृष्ण का जन्म-स्थल'
(४) भारतमाता : देवकी : द्रौपदी
(५) सत्याग्रह-संग्राम : 'महाभारत'
(६) भारत : 'भारत' (अर्जुन)
(७) सत्याग्रही : 'प्रह्लाद'
(८) सूली पर चढ़नेवाले : 'ईसा'
(९) शहीद (बलिदानी) : सुकरात और मन्सूर
(१०) कैदी : वसुदेव, देवकी, कृष्ण
(११) पुष्प : एक भारतीय आत्मा (हृदय)

द्विवेदी-काल की राष्ट्रीय कविताएँ जीवन-जाग्रति बल-बलिदान की प्रेरक शक्ति है। अब राष्ट्र की दुर्बलता के प्रति उनका प्रत्याख्यान है, किन्तु विधायक, प्रतिपक्षी के प्रति उनमें आक्रोश है, किन्तु सौम्य और अहिंसक। शोषक पीड़क-शासक के प्रति भी उसमें उग्र आक्रोश नहीं मिलेगा। भारतीय राजनीति में गांधी के सत्याग्रह-धर्म ने ही इस सौम्य राजनीति को सौम्य से उग्र न बनने दिया।

---

१. 'एक भारतीय आत्मा'

४ : प्रकृति और प्रेम

संसार और मानव जीवन में 'प्रकृति' का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। प्रकृति का वर्णन कविता में पुरातन-सनातन वस्तु है। व्यक्ति के अपने जीवन की परिधि के चारों ओर चिरन्तन और रहस्यमयी प्रकृति का ही प्रसार है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने तो प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध को ही कविता का धर्म कहा था।

'प्रेम' यद्यपि हृदय की एक सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु उसकी जीवन-व्यापकता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। कविता में उसका चित्रण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकरण में हम प्रकृति और प्रेम पर लिखी हुई कविता का विश्लेषण और अनुशीलन करेंगे।

प्रकृति

कविता में प्रकृति दो रूपों में आती है :

पहला रूप वह है जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण कवि का 'साध्य' और लक्ष्य होता है; अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो वह कवि के भाव का 'आलम्बन' बनती है।

दूसरा रूप वह है जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण कवि का साध्य और लक्ष्य न होकर साधन और लक्ष (लक्षण) होता है। शास्त्रीय भाषा में यह कह सकते हैं कि यहाँ प्रकृति कवि के भाव का उद्दीपन बनती है।

(१) प्रकृति : साध्य रूप में

प्रकृति जब कवि के लिए साध्य होती है तो वह उसका निरपेक्ष रूप से अर्थात् स्वतन्त्र दर्शन करता है। कवि प्रकृति की स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता मान कर उसका निरलंकृत या अलंकृत रूप-चित्र देता है। यह चित्रण या अङ्कन प्रत्यक्ष है। यह उल्लेखनीय है कि कवि अपनी मनोवृत्ति और मनःस्थिति (mood) के अनुरूप ही प्रकृति को रूप और आकार देता है। उसकी वैयक्तिक कल्पना, भावना और अनुभूति के अनुसार ही प्रकृति को अनुरंजकत्व और भावकत्व-मानवत्व मिलता है।

(क) अनुरञ्जकत्व

प्रकृति अपने रूप-व्यापार से कवि-मानस का अनुरंजन करती है। अनुरंजन से हमारा आशय कवि-मानस पर होनेवाली विविध भाव-सृष्टि से है। प्रकृति के सौम्य और मृदुल, शान्त और मधुर, भीम और भयंकर, उग्र और प्रखर रूपों के अनुसार कवि के मनोभाव जाग्रत होते हैं। यह ठीक है कि उसकी पुतली देखती है पर उसका रूप-चित्र कवि के मानस पर होनेवाली सौम्य या उग्र, मधुर या कटु संवेदना के ही अनुरूप होगा। अनुरंजकत्व को इसी पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। भावकत्व इसके आगे की स्थिति है।

(ख) भावकत्व : मानवत्व

प्रकृति अपने रूप-व्यापार से कवि का मानस-रंजन मात्र ही नहीं करती वह अपने व्यक्तित्व की चेतना से उसे अभिभूत करती हुई भावना का लोक निर्माण करती है और उसके हृदय पर प्रभाव डालती है। यह अनुरंजकत्व के आगे की अवस्था या स्थिति है।

कवि प्रकृति को सजीव, सप्राण रूप में देखने लगता है। तब कवि उसमें सप्राणता का ही नहीं मानवी व्यक्तित्व का आरोप करता है। इस प्रकार प्रकृति का—(१) 'चेतनीकरण' होता है और (२) 'मानवीकरण' होता है।

चेतनीकरण का अर्थ है प्रकृति में चेतनतत्त्व (प्राणतत्त्व या सत्ता) की भावना और मानवीकरण का अर्थ है प्रकृति में मानव आत्मा (और तद्-नुरूप भाव-भावना और क्रिया-व्यापार) की अनुभूति।

दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है इनमें अंश या कोटि का अन्तर हो सकता है तत्त्व का नहीं। इसलिए इन्हें पृथक् नहीं रखा जा सकता।

(ग) उपदेशकत्व

इसमें प्रकृति का वह रूप ग्रहण किया जाता है जिसमें प्रकृति नीति और उपदेश प्रदान करती है। कवि प्रकृति से कोई सन्देश और उपदेश ग्रहण करता है। कभी उपदेश अधिक मुखर होता है परन्तु वह प्रकृति को गौण नहीं होने देता। केवल उपदेश देने के लिए प्रकृति को उपकरण मानने से प्रकृति का उपदेशकत्व भिन्न है। प्रकृति का चित्रण यदि प्रत्यक्ष है उसका सांग रूप प्रस्तुत करने की दृष्टि कवि की है तो यह कसौटी उपदेशकत्व की है, परन्तु यदि प्रकृति के विभिन्न (निरंग) बिखरे तत्वों के द्वारा उपदेश की योजना की गई है तो उसके प्रकृति के साधन-रूप चित्रण अर्थात् रूपकत्व में स्थान देना होगा। तुलसी जैसे भक्त कवि ने प्रकृति के वर्षा तथा शरद् वर्णन करते हुए उपदेश-व्यंजना की थी, उपदेश के लिए प्रकृति का वर्णन नहीं किया था।

इसी के अन्तर्गत प्रकृति का वह रूप भी आ जाता है जिसमें वह मानव को कोई महान् या उदात्त 'सन्देश' देती है। सन्देश, उपदेश का ही परिष्कृत रूप है।

अनुरंजकत्व

कहा जा चुका है कि अनुरंजन में विविध भावों का समावेश है। प्रकृति कभी अपने सौन्दर्य और माधुर्य की लीला से कवि-मानस का अनुरंजन करती है और कभी अपने उग्र और भयावह रूप-व्यापारों से।

प्रकृति को कवि जब मनोहारी और रमणीय रूप में देखता है तो उसके सौंदर्य का चित्रण करता है और उसे जब वह भीम-भयंकर रूप में देखता है तो उसकी विरूपता दिखाता है। कल्पना की क्रीड़ा को इस प्रकार की कविता में बड़ा व्यापक क्षेत्र और विस्तीर्ण अवकाश रहता है। कवि स्वभावतः सुन्दरम् का उपासक होता है अतः वह कुरूप में भी रूप खोजना चाहता है, फलस्व-कविता में प्रकृति का सौंदर्य अधिक लक्षित होता है असौंदर्य कम।

हिन्दी कविता में दोनों प्रकार के उदाहरण प्राचीन और अर्वाचीन काल में मिलते हैं।

आधुनिक युग के अग्रणी कवि श्री भारतेन्दु ने अपने यमुना-वर्णन में यमुना के तटवर्ती तमाल-कुंजों और कमल-पंक्ति, शैवाल-जाल, चन्द्रिका-ज्योति, चन्द्र-प्रतिबिम्ब, लोल लहर इत्यादि एक एक अंग को लेकर संदेहालंकार और उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा रूप-चित्रण किया है। यमुना-वर्णन का उदाहरण लीजिए :

कबहु होत सतचन्द, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी, सोहत इत उत धावती
कै अवगाहत डोलत कोऊ, ब्रज रमनी जल आवती

(यमुना वर्णन : भारतेन्दु)

अलंकृत होकर भी प्रकृति का यह चित्रण स्वतन्त्र है इसमें संदेह नहीं। रूप-चित्रण में अलंकार का उपयोग कवि बिम्ब-ग्रहण के उद्देश्य से ही करता है। मुझे तो इसमें और पन्त के नौका-विहार में एक ही दृष्टि दिखाई देती है।

प्रकृति का स्वतन्त्र अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में वर्णन और चित्रण संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों की एक विशेषता ही रही है। महाकाव्य की परिभाषा में प्रकृति के अंगों, प्रभात, सन्ध्या तथा ऋतुओं के वर्णन का भी समावेश है जीवन का चित्र होने के कारण प्रबन्ध-काव्य में इनका समावेश आवश्यक भी है।

'वर्षा का आगमन' कविता में श्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने ब्रजभाषा में ही सुन्दर रूप-चित्र दिया है :

सुखद शीतल सुचि, सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लग्यो, वसुधा लगी सुखमा लहन॥
लहलही लहरान लागीं, सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे, झूमन बिरिछ मंजुल बिपुल॥

इसी प्रकार पंचवटी की शोभा पक्षियों की क्रीड़ा से मुखरित है—

विविध रँगीले भेस छबीले, अमित मधुर सुर छावैं।
नाचैं, उड़ैं, चुगैं, छकि, बिहरैं सहज हियो हुलसावैं ॥[१]

पाठक जी ने 'काश्मीर सुखमा' में सुन्दर रूप चित्रण दिये ।[२]

महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य से वसन्त-वर्णन का अवतरण श्री मैथिलीशरण ने किया—

कुसुम जन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पद कोकिल कूजिनम् ।
इति यथाक्रमभाविरभून्मधुद्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥

इसका अनुवाद है—

प्रथम विविध कुसुमों का, सुन्दर जन्म सौख्यकारी अत्यन्त ।
तदनन्तर अधरापमान नव, मृदुल लोल पल्लव छविवन्त ॥
इस के पीछे मधुप और पिक, शब्द मधुर मद पूर्ण अनन्त ।
यों क्रम से तरु वनस्थली में, प्रकट हुआ ऋतुराज वसन्त ॥[३]

इस उदाहरण में प्रकृति का अनुरंजकत्व प्रस्तुत हुआ है। संस्कृत के प्रकृति-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में हैं।

अंग्रेजी की कविता में भी प्रकृति का अनुरंजकत्व दर्शनीय है। प्रकृति के श्रेष्ठ कवि वर्ड्सवर्थ का मानस-मयूर इन्द्रधनुष देखकर नृत्य करने लगता है।[४] शैली, कीट्स आदि कवियों ने प्रकृति की शोभा के सुन्दर चित्र देखे है। आलोच्य काल में आरंभ में कई कवियों ने ऐसे अनुवाद किये। यह विशेष द्रष्टव्य है कि प्राचीन शैली से प्रभावित कवि प्रकृति-सौंदर्य के वर्णन म तन्मय होते देखे गये। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने प्रकृति के मनोरम रूप के वर्णन किये वसन्त वियोग में—

क्या मनोहारी हरे मैदान हैं,
स्वच्छ कोसों तक छटा की खान हैं ॥
फूल फूले अमित रंगों के,प्रभा आगार हैं ।

---

१ 'पूर्ण संग्रह'। २ देखिए 'प्राचीन परम्परा' में श्रीधर पाठक

३ सरस्वती मार्च १६०७

४. My heart leaps up when I behold
a rainbow in the sky —Wordsworth.

फर्श मखमल सब्ज़ के,
रंगीन बूटे - दार हैं ।[1]

इस काव्य में प्रकृति के सौम्य मनोहर ही नहीं, उग्र भयंकर रूप भी हैं—

नभ चण्ड कर उद्दण्ड। उद्दाम घोर प्रचण्ड।
भ्रम बात दाहक बात। निर्जल जले जल जात॥
शुभ चन्द मन्द मयूख। बन मध्य रूखे रूख।
ये ग्रीष्म भीष्म दिगन्त। पावस समय पर्यन्त॥

आलोच्य काल का कवि सूखे ठूँठ को देखकर 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' से 'शुष्को काष्ठस्तिष्ठत्यग्रे' ही कहना उचित मानता है। प्रकृति-वर्णन में यथार्थ का स्पर्श इस काल के कवियों ने दिया है।

आलोच्य काल की मौलिक कविताओं में प्रारंभिक अवस्था में प्रकृति के यथातथ्य रूप-चित्रों के दृष्टान्त प्रचुर हैं। कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'निदाघ-वर्णन' कविता में मरुत और दिनेश का रूप द्रष्टव्य है—

है जो जगत्प्राण मरुत् प्रसिद्ध। होते उसी से अब प्राण विद्ध।
है ख्यात जो मित्र तथा दिनेश। देते वही हैं अब तीक्ष्ण क्लेश॥

यहाँ निदाघ की भीषणता की कवि मानस पर हुई प्रतिक्रिया स्पष्ट है। इसी प्रकार का है मध्याह्न का एक वर्णन :

प्यासे हो चंचु खोले, कलरव तज के भीत से मौन धारे।
बैठे हैं कोटरों में, खगगण तरु के ताप-सन्ताप मारे।
हो के हा! शुष्ककंठ, व्यथित विपिन के जंतु दग्धा मही में।
छाया में हाँफते जा तज, तृण चरना शांति पा के न जी में।
(मध्याह्न : लोचनप्रसाद पांडेय)

प्रकृति का मनोहर रूप भी चित्रित हुआ है—

शोभा देते खूब सरोवर, सरसीरुह खिलरहे मनोहर।
गूँज रहे मतवाले मधुकर, श्रवण-सुखद रव हंस रहे कर
('शरद' : गिरिधर शर्मा)

इनकी 'ग्रीष्म' 'वर्षा' 'हेमन्त' आदि अन्य ऋतुओं पर लिखी हुई कवितायें भी ऐसी ही हुई हैं।

---

१ वसन्त-वियोग (पूर्ण)

प्रकृति की यह मोहिनी कवि रामनरेश त्रिपाठी की कविता में भी लक्षित होती थी। 'पथिक' में से एक चित्र है :

सुन्दर सर है लहर मनोरथ
सी उठकर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत
छाया सुखद सुहाती।
लटक रहे हैं धवल सुगन्धित
कन्दुक से फल फूले।
गूँज रहे हैं अलि पीकर
मकरन्द मोद में भूले।
आस पास का पथ सुरभित है महक रही फुलवारी।
बिछी फूल की सेज बाजती वीणा है सुखकारी।

श्रीधर पाठक जी ने ब्रज में ऐसे चित्र दिये हैं। मुकुटधर पांडेय ने भी प्रकृति का मनोहर रूप का चित्र दिया है। प्रकृति के सुरूप और विरूप, कोमल और कर्कश, भोले और भयंकर दोनों चित्रों के प्रति ममत्व को रामचन्द्र शुक्ल ने भी दिखाया है।

भावकत्व

प्रकृति में प्राण-वान चेतनतत्त्व का और मानवी भावों का आरोप भी नई संघटना नहीं है। कालिदास ने 'मेघदूत' में कुछ भौतिक नियमों में बद्ध वाष्प-संघात मेघ को भी विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा के पास जाने के लिए प्रेम-दूत बनाकर अमरगीत की रचना कर दी है। तुलसी में भी प्रकृति में मानवी वृत्ति देखी—

नदी उमँगि अम्बुधि कहँ धाई ?
संगम करहिं तलाव तलाई।

महाराजा पुरूरवा उर्वशी के लिए इतने विह्वल हैं कि उन्हें आकाश में भीमकाय मेघ दिखाई देता है—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिन्दं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाण-परम्परा,
कनक-निकषस्निग्धा विद्युत प्रिया नोर्वशी।

इस काल में प्राक्तन संस्कार से प्रभावित कवियों द्वारा स्वतंत्र (साध्यरूप) प्रकृति-वर्णन का पुनरुत्थान हुआ। महाकवि भारवि के शरद्वर्णन का अनुवाद श्री गिरिधर शर्मा ने किया।

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युता चिराभागुणहेमदामभिः
इदं कदम्बानिल भर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते।

का अनुवाद है—

रहित विद्युत्कञ्चन हार से
मलिनतायुत पाण्डुपयोधरा
यह घनर्तु वियोगव्यथा भरी
कृश हुई पर है प्रियदिग्वधू।

भावकत्व के एक और उदाहरण को कालिदास के काव्य से उद्धृत करना समीचीन होगा—

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषुः।

यहां कोकिल के पंचम स्वर में मुग्धा नायिका के कलालाप का भावन हुआ है और मानव के व्यापार की उपमा खोजी गई है।

इसी पथ का अनुसरण करनेवाली कविता है 'शरद' :

धीरे-धीरे वेग हटाती नदियाँ वेग दिखाती हैं।
ज्यों नवसंगम में सज्जल हो ललना जघन दिखाती हैं।[1]

प्रकृति के उपासक श्रीधर पाठक ने 'काश्मीर सुखमा' काव्य में प्रकृति को चिन्मय सत्ता भी दी है।[2]

श्री 'पूर्ण' भी प्रकृति के सुन्दर कवि हैं। उन्होंने प्रायः प्रकृति के मनोरम रूप का चित्रांकण किया है। खड़ी बोली में उनकी ऐसी रचनायें कम हैं। 'वसंत वर्णन' का उल्लेख हुआ है। 'अमलतास' कविता में प्रचंड ग्रीष्म की दोपहरी में भी सरस रहने वाले अमलतास को पुष्पित देखकर कवि ने भावुक कल्पना की—

---

१ श्रीमुरारि बाजपेयी 'सरस्वती अक्टूबर १६०६

२ देखिए आगे 'प्राचीन परम्परा' में श्रीधर पाठक।

रँगा निज प्रभु ऋतुपति के संग द्रुमों में अमलतास तू भक्त,
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल दहन में तेरे रहा अशक्त।
(अमलतास : पूर्ण)

सत्यशरण रतूड़ी की लेखनी का एक चित्र द्रष्टव्य है :

सुरीली वीणा सी सरस नदियाँ वादन करें।
कभी मीठी मीठी मधुर ध्वनि में गायन करें।
सदा ही नाचैं हैं झरित झरने नाच नवल।
निराली शोभा है विपिन वर की कौतुकमयी।[१]

चन्द्रकिरणों की केलि-क्रीड़ा का भी

महा शोभाशाली विपुल विमला चन्द्रकिरणें,
घने कुंजों में हैं सतत घुस के केलि करतीं।
कभी हो जाती हैं सघन घन के ओट पट में।[१]

ऐसा—चलचित्रात्मक वर्णन, जिसमें भावकत्व का पुट है,-कितना दुर्लभ होता है!

भावकत्व का एक दृष्टांत 'प्रसाद' की 'जलद-आवाहन' कविता में दर्शनीय है–

धूलि धूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिए।
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिए।
डालकर पर्दे हरे तरु-पुंज के निज बागसे।
देखती हैं शून्य पथ की ओर अति अनुराग से।[२]

प्रकृति की चिन्मयता गोपालशरणसिंह ने भी देखी—

फूलों के मिस लतिकाएं सब मन्द मन्द मुसकाती हैं,
पल्लव-रूपी पाणि हिलाकर मन के भाव बताती हैं।[३]

यह चिन्मयता यहाँ मानवी हो गई है।

भावना-प्रवण कवियों के द्वारा प्रकृति का मानवत्व सुन्दर रूप में प्रस्तुत हुआ है। प्रकृति के मानवीकरण के सटीक उदाहरण हैं रामचरित उपाध्याय का 'पवन दूत' और 'प्रियप्रवास' की 'पवन दूती'। उपाध्याय जी ने एक प्रेमी द्वारा पवन को दूत बनाकर प्रियतमा के पास भेजा है, 'मेघदूत' की भाँति और

---

१ 'शान्तिमयी शय्या' (सत्यशरण रतूड़ी : सरस्वती, अगस्त १९०४)
२ सरस्वती जून १९११　　　　३ सरस्वती मार्च १९१५

हरिऔधजी की विरहिणी राधा पवन को दूती के रूप में अपनी सारी व्यथा-कथा देकर भेजती है। कल्पना और भावुकता के संगम से प्रकृति का चेतनीकरण और मानवीकरण हो जाता है। परन्तु हृदय की सच्ची अनुभूति से होने वाला मानवीकरण क्रिया के रूप में व्यक्त होकर और भी अधिक स्पष्ट होता है। पवन को प्रेमदूत बनाने का मनोविज्ञान यह है कि व्यक्ति अपने अपने दुख में प्रत्येक चर-अचर से सहानुभूति की याचना करता है। पहिले तो पवन पर राधा को

> तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को,
> हा ! पापिष्ठे फिर किस लिए ताप देती मुझे है ?

का आक्रोश हुआ, परन्तु इस में राधा की मनोदशा की व्यंजना है। दूसरे ही क्षण राधा के हृदय की पीड़ा सहानुभूति की याचना करती है—

> चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
> हा हा ! मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे !

सहानुभूति की याचना में वह पवन को प्रियतम के पास भेजती है और उनके चरण-कमल को छूने, अलकों को हिलाने और दुकूल से क्रीड़ा करने तथा शरीर-स्पर्श करने के द्वारा प्रेम-स्फुरण करने का तथा वाचिक नहीं परन्तु अन्य कायिक चेष्टा (जैसे विरह-विधुरा का चित्र कृष्ण के सामने लेकर हिलाना, कुम्हलाये कुसुम को उनके चरण पर डालना, कमल की पंखड़ी को पानी में धीरे धीरे डुबाना आदि) करने का निदेश देती है:—

> लाके फूले कमलदल को श्याम के सामने ही।
> थोड़ा-थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबना।
> यो देना ऐ भगिनि जतला अंभोज-नेत्रा।
> आँखों को हो विरह-विधुरा वारि में बोरती है।

(प्रियप्रवास : ६ : ७२)

इसी प्रकार के अनेक क्रिया-व्यापार पवन-दूती को दिये गये हैं और उसकी सहृदया मानवी के रूप में अनुभूति की गई है—स्वयं पवन भी राधा की सहृदता लेकर सहानुभूतिशीला हो जायगी—

> जो पुष्पों के मधुर रस को साथ सानन्द बैठे।
> पीते होवें भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।

थोड़ा सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों ।
क्रीड़ा होवे न कलुषमयी केलि में न हो बाधा ।

आघात के साथ चलनेवाली पवन को मंद चलने के लिए कहना अकारण ही नहीं है। इस उद्धरण में प्रकृति को सुन्दर अनुरंजकत्व भी प्राप्त हुआ है।

जब कवि में भावना और अनुभूति का अतिरेक होता है तो उसका तादात्म्य प्रकृति के रूपों में हो जाता है और मानवीय अनुभूति की अभिव्यक्ति पर प्रकृति के प्रस्तुत द्वारा करने लगता है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने सन १६ में मुक्त छन्द में 'जुही की कली' की सृष्टि की जो प्रकृति के मानवीकरण की दिशा में एक दीप-स्तम्भ हो गई। इस कविता में 'जुही की कली' एक साधारण कली न रहकर एक मानवी (नायिका) के रुप में 'निर्वाचित' की गई है और मलयानिल भी शरीरधारी प्रेमी (नायक) के रूप में आ गया है। दोनों की क्रीड़ा में 'अत्यन्त' मानवी सजीवता है—

सौन्दर्य के आस्वादनार्थ पूरी कविता अवतरणीय है—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में ।

× ×

वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुर, प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन जिसे कहते हैं मलयानिल !
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात !
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन गिरि-कानन
कुंज लता-पुंजों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ !
सोती थी,

जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये, कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की कि
झोंको की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी खिली,
खेल रंग प्यारे संग।

दो पत्तों के बीच में लचकीले स्थान (पत्रांक) से पर्यंक को तथा बंद पंखुड़ियों से आँख की मुद्रित पलकों को, श्वेत वर्ण से गौरता को, मृदुल आन्दोलन से रति-चर्य्या को, जुही की कली से पर्यंकशायिनी तरुणी नायिका को और मलयानिल से विरही नायक आदि को संकेतित किया गया है। वासन्ती निशा चाँदनी की धुली हुई आधी रात उद्दीपन हैं, वंकिम विशाल नेत्र रूप-सौंदर्य के सूचक हैं, यौवन की मदिरा भी, और सुन्दर सुकुमार देह तथा गोरे कपोल भी। मलयानिल द्वारा उद्दाम-केलि, रति-क्रीड़ा का इंगित हैं—ये सब शास्त्रीय-भाषा में अनुभाव हैं, इस प्रकार संकेत में दो प्रेमियों की प्रेम-क्रीड़ा व्यंजित हुई है।

'प्रसाद' जी की तूलिका की एक मानवी चित्र-कल्पना है 'किरण', जिसमें किरण अनुरागिनी बाला बन जाती है—

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान उड़ाती हो परमाणु-पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती सी तुम कौन?
(किरण : झरना)

रामनरेश त्रिपाठी की लेखनी भी प्रकृति के सुन्दर चित्रांकन करती है और प्रकृति को मानवी आलम्बन के रूप में प्रस्तुत करती है—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद-माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है।

प्रकृति में भावुक हृदय को संमोहनकारी कहानी मिलती है। 'पथिक' काव्य के 'पथिक' ने कहा था—

पढ़ो लहर, तट, तृण, तरु गिरि, नभ, किरन जलद पर प्यारी!
लिखी हुई यह मधुर कहानी, विश्वविमोहन-कारी!

यह विश्वविमोहनकारी मधुर कहानी वस्तुतः कई प्रकृति के कवियों ने पढ़ी है। उनमें सुमित्रानन्दन पन्त आलोच्यकाल में विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हें कविता करने की प्रेरणा ही सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। "कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"[1] इन शब्दों में कवि ने प्रकृति के सम्मोहन को स्वीकार किया है। पन्त ने प्रकृति के भीतर जो नारी-सौंदर्य देखा है, वह पार्थिव नारी के आकर्षण और सम्मोहन को भी जीत सका है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

उसे रमणी के भ्रूभंग से अधिक इन्द्र-धनुष, कोमल कण्ठ-स्वर से अधिक कोयल और मधुकर के मधुर गुञ्जन तथा अधर-मधु से अधिक किसलय और सुधा-जल सम्मोहित करता है—

---

१ 'पर्यालोचन' (आ निक कवि : २ : पन्त) 'मोह' ('पल्लव' : १९१९)

ऊषा-सस्मित किसलय दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?

प्रकृति कवि को चेतनसत्तामयी प्रतीत होती है। वह उसे देवी, माँ, अथवा सहचरी और प्रियतमा नारी (मानवी) बनकर सम्मोहित करती है—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ,
वह अपनी वय-बाली में—

कवि का तादात्म्य इतना बढ़ जाता है कि वह स्वयं को भी नारी रूप में कल्पित और अंकित करने लगता है। यह स्मरणीय है कि कवि की यह प्रकृति-विषयक कविता-सृष्टि १६१८ से प्रारम्भ हो गई थी। सन् १६२० की 'छाया' कविता प्रकृति के मानवीकरण का निर्भ्रांत उदाहरण है। वह ब्रज-वनिता-सी दिखाई देती है और दिखाई देती है दमयन्ती-सी—

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल सा निष्ठुर कोई।
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति सी, मूर्छा-सी ?
विजन-विपिन में कौन पड़ो हो विरह-मलिन दुख-विधुरा-सी ?[१]

छाया जैसी सूक्ष्म प्राकृतिक संघटना (Phenomenon) को कवि ने जितने मानवीय रूप-व्यापार और भावनानुभूति का दान किया है उतना इस काल में किसी दूसरे कवि ने नहीं।

पत्रों के अस्फुट अधरों से संचित कर सुख-दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी इच्छायें सब अल्प महान् ?

'पल्लव' में प्रकृति के से मानवीय रूप-कल्पना के सुन्दर उदाहरण हैं। 'पल्लव' की कई अच्छी कविताएँ आलोच्य-काल की संध्या-बेला में लिखी गई थीं।

'प्रसाद', 'निराला' और 'पन्त' तीन कवि प्रकृति के चित्रांकण के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रकृति इनकी काव्य-कला में विशेष रूप से सप्राण है, 'प्रसाद'

१ छाया (दिसम्बर १६२० : 'पल्लव')

प्रकृति के रूपों द्वारा प्रेम-रहस्य के संकेत करते हैं, 'निराला' दार्शनिक तत्वों की व्यञ्जना करते हैं और पन्त प्रकृति को प्राणमयी चित्सत्ता, देवी, मानकर उसकी कल्पना करते हैं। यह भी कह सकते हैं कि 'प्रसाद' में अनुभूति का पुट अधिक है, 'निराला' में प्रज्ञातत्व का और पन्त में कल्पना-तत्व का।

उपदेशकत्व

प्रकृति तत्वतः दैवी सत्य की प्रतिकृति है। उस सत्य को देखनेवाली आँखें कवि में होती हैं। कवि के पास एक चिन्तक, विचारक मन भी होता है जो भावुक मन के सहयोग से क्रियाशील रहता है। ऐसे ही कवि वर्ड्स्वर्थ को प्रकृति का क्षुद्रातिक्षुद्र तत्व (या पदार्थ) गम्भीरतम विचार की प्रेरणा दे सकता है—

To me the meanest flower that blows can give,
Thoughts that do often lie too deep for tears.

अर्थात् "मुझे तो नन्हा सा वह फूल
रहा जो लतिका में है झूल,
दे रहा मानो विमल विचार—
अश्रु के लिए गभीर अपार।"

कवि के ज्ञान और चिन्तनप्रधान होने का ही यह सहज परिमाण है।

उपदेशवाद के वातावरण में प्रकृति को उपदेशकत्व मिलना कठिन न था। यह कहा जा चुका है कवि की मनोवृत्ति के अनुरूप ही प्रकृति रूप धारण करती है। समाज की सुषुप्ति ने कवियों को उपदेश और उद्बोधन-प्रबोधन का धर्म सिखा दिया था।

कवियों में यह प्रवृत्ति नवीन नहीं थी। मध्य-युग में तुलसीदास ने प्रकृति से उपदेश दिया था। 'रामचरितमानस' का 'वर्षा-वर्णन' और 'शरद्-वर्णन' प्रसिद्ध हैं। उक्त दो उदाहरणों में कवि का उद्देश्य प्रकृति का वर्णन और चित्रण है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, परन्तु उस वर्णन या चित्रण के साथ कवि नीति और उपदेश के तत्व को भी उपेक्षित नहीं करता। यह कहना पड़ेगा कि नीति इनमें व्यञ्जित रूप में आई है। मुख्य दृष्टि कवि की प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर ही है। आर्य्य-समाज के विचारक कवि शंकर जी के लिए तो—

बहु विध जड़ चैतन्य जन्य सब दृश्य खरे हैं।
विधि निषेध सूचक इनमें उपदेश भरे हैं॥
स्वाभाविक गुण कर्मशील सब जीव निहारे।
पर हमको सिखलाते हैं जड़-चेतन सारे॥

उन्होंने 'पावस-पंचाशिका' में पावस के मिस वैदिक-विलास किया है :

डाबर, झील, तड़ाग नदी, नद सागर सारे,
हिलमिल एकाकार भये पर हैं सब न्यारे।
जैसा इनमें ओत-प्रोत पावस का जल है,
तैसा ही व्यापक प्रपञ्च में ब्रह्म अचल है।

तुलसीदास को भाव-छाया से वे नहीं बच सके और—

फूले कास सकल महि छाई,
जनु वर्षाकृत प्रकट बुढ़ाई।

की भाँति कह गये हैं—

फूल गये अब काँस अन्त पावस का आया,
मेघों ने यश पाय कूच का शंख बजाया।
श्वेत केशधारी नर योंही मर जाते हैं,
विरले बादल की सी करनी कर जाते हैं।

इसी प्रकार 'वसन्त-विकास' में—

दूर न देखे ऋतु-नायक से रसपति और अनंग,
जैसे माया जीव ब्रह्म का छुटे न अविचल संग।

क्या 'जिमि जीवहिं माया लपटानी को' और—

कुञ्ज-कुञ्ज में कोकिल कूजें बोलें विविध विहंग,
सामगान के संग बजें ज्यों वीणा-वेणु-मृदंग।

'वेद पढ़हिं जनु वटु समुदाई' की स्मृति नहीं दिला देता ?

श्री श्यामसेवक मिश्र की 'शरद' कविता में यद्यपि उपमान बदल गये हैं परन्तु शैली नहीं—

मेघविहीन नभोमण्डल अब अवलोकन में आता है।
विगत विकार हृदय-सन्तों का ज्यों निर्मल हो जाता है॥
(हरिजन जिमि परिहरि सब आशा —तुलसी)

पावस गया खञ्जरीटों का शरद्-समय आगमन हुआ।
मिटने पर आलस्य ग्लानि के ज्यों मन उद्यम-भवन हुआ॥

(पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये—तुलसी)

परन्तु कुछ नई उद्‌भावनाएँ भी हैं—

स्वच्छ कौमुदी देख कुमुदिनी प्रमुदित विकस रही कैसी,
महाशयों की कीर्ति श्रवण कर सज्जन हृत्कलिका जैसी।

(शरद् : सरस्वती : नवम्बर १९१४)

यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन पर तुलसीदास का स्पष्ट प्रभाव है।

छायावादी कवियों में प्रकृति का चिन्तन मिलता है। इस प्रकार उपदेश-करव का पुट पन्त की 'छाया' कविता में भी है—

१—थके चरण-चिन्हों को अपनी नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो अथवा जग को पर-सेवा का मार्ग अमर?
२—चूर्ण शिथिलता-सी अँगड़ाकर होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना मुझे सिखा दो, कर मद-हीन![1]

धीरे-धीरे उपदेशक-वृत्ति से कवि को विरक्ति होने लगी है और उपदेश व्यंजित और संकेतित रूप में व्यक्त होने लगा है और वह संदेश बन जाता है। जो कवि चिंतक होते हैं उनकी कविता में दार्शनिक चिंता रहस्य के आवरण में झलकती है।

किस रहस्यमय अभिनय की तुम सजनि, यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है किस विचित्रता का संसार?[2]

और जब कवि आध्यात्मिक अनुभूति करता है तो उस में आध्यात्मिक रहस्य की व्यंजना होने लगती है—

हाँ सखि! आओ, बाहँ खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान![3]

अंतिम दो पंक्तियों में, जो छाया के प्रति हैं, आध्यात्मिक प्रियतम का स्पष्ट सङ्केत है।

किसी विराट की सत्ता का आभास कवि मुकुटधर ने भी प्रकृति में देखा।

१ छाया : 'पल्लव' २-३ वही

यह स्निग्ध सुखद सुरभित समीर
कर रही आज मुझको अधीर
किस नील उदधि के कूलों से
अज्ञात वन्य किन फूलों से
इस नवप्रभात में लाती है
जाने यह क्या वार्ता गभीर
प्राची में अरुणोदय अनूप
है दिखा रहा निज दिव्य रूप
लाली यह किसके अधरों में
लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर

छायावाद की कल्पना-प्रधानता की अवस्था में चिन्तन गहन न हो सका।

२ : प्रकृति : साधन-रूप में

प्रकृति जब कवि के लिए साधन-मात्र रहती है तो वह उसका सापेक्ष निदर्शन करता है अर्थात् वह उसे किसी भाव-भावना के अंगभूत रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रकृति का परोक्ष वर्णन है। इस प्रकार मानवीय मनोभूमिका के अनुरूप प्रकृति को उद्दीपकत्व या अलंकारित्व रूपकत्व प्राप्त होता है।

(क) रूपकत्व

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि के पास भाव-रूपों में रंग भरने का बड़ा साधन प्रकृति से ही मिलता है। लौकिक भावों, भावनाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियों का सम्यक् दर्शन कराने के लिए कवि प्रकृति से उपमायें उधार लेता है और इस प्रकार मानों प्रकृति को कृतज्ञ करता है। उल्लास को व्यक्त करने के लिए लहर, अवसाद को व्यक्त करने के लिए सन्ध्या, अनुराग को व्यक्त करने के लिए रागमयी सन्ध्या कवि को अपने धर्म या गुण देती है और कवि भाव-चित्रण करने लगता है। इसे प्रकृति द्वारा अलङ्करण कह सकते हैं। यह अलंकारित्व साम्य के या आरोप-अध्यवसान के रूप में ही होता है अतः इसे रूपकत्व की व्यापक संज्ञा दी जा सकती है।

(ख) उद्दीपकत्व

इसी प्रकार प्रेम आदि भावों के वातावरण में नानारूपिणी प्रकृति अपना योग-दान करती है, प्राकृतिक सौन्दर्य की भूमिका में मानव अपने हृदय की रागात्मक वृत्तियों को प्रकाश देता है। इसे प्रकृति द्वारा उद्दीपन कहते हैं।

साधन-रूप में

प्रकृति कविता की रस-भूमिका में आती है। 'रस' वस्तुतः मन की भावपूर्णता की स्थिति है। मनुष्य में हृदय है रागमय; अतः प्रकृति भाव का आलम्बन न होकर उद्दीपन बनती है और मानवी भावों में रंग भरती है। प्रकृति-विषयक कविताओं का संचय किया जाए तो अधिकांश में प्रकृति का उद्दीपकत्व ही दिखाई देगा। रीति-काव्य का समस्त वासना-वलित शृंगार-वर्णन और रूप-वर्णन, नख-शिख वर्णन और ऋतुवर्णन प्रकृति के 'उद्दीपकत्व' को अथवा 'रूपकत्व' को ही एकमात्र आधार मानकर चलता है।

उद्दीपकत्व

यह कहा जा चुका है कि अपने 'उद्दीपकत्व' में प्रकृति व्यक्ति की रस-भूमिका की सृष्टि करती है। नायक-नायिका के संयोग वा वियोग-'शृंगार' के चित्रण में प्रकृति ही उद्दीपन-विभाव बनती है और सुख अथवा दुःख, उल्लास अथवा वेदना का उद्दीपन करती है।

जब तक मनुष्य के पास स्पन्दनशील हृदय है—अर्थात् जबतक उसमें कुछ भावनाएँ हैं, कुछ अनुभूतियाँ है तब तक वह अपने अन्तर्गत भाव-रूप की प्रकृति में छाया देखता रहेगा। और जबतक प्रकृति से यह तादात्म्य रहेगा, वह प्रकृति से प्रेम के, शोक के, रोष के और सहानुभूति के मादक और निष्ठुर, उग्र और कोमल आघात पाता रहेगा। यह लौकिक अनुभव की बात है कि विषाद की मनस्थिति में झरना अश्रु बहाता, क्रन्दन करता हुआ और हर्ष की मनोदशा में मधुर हास्यध्वनि करता हुआ हमें प्रतीत होता है। यह व्यावहारिक मनोविज्ञान का विषय है।

मनुष्य का प्राकृतिक जीवन प्रकृति के क्रोड़ में ही है। जयशंकर प्रसाद के 'प्रेमपथिक' में प्रकृति प्रेम-भाव की भूमिका का कार्य करती है। इसका एक उदाहरण देखिए—

१. छोटे-छोटे कुंज तलहटी गिरि कानन की शस्य भरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में।[१]

२. शीतल पवन लिये अंगों को कँपा दिया करती थी जो,
वे जाड़े की लम्बी रातें बातों में कट जाती थीं।[१]

---

१ प्रेमपथिक (प्रसाद)

और जब कवि आध्यात्मिक प्रेम के संकेत देता है तो उसमें भी वातावरण की सृष्टि के लिए प्रकृति आती है—

शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत लेकर लेकर शीतलता का भार।
भीग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कबरी-भार.
अरुण किरण सम कर से छू लो खोलो प्रियतम खोलो द्वार !
(झरना : प्रसाद)

प्रेम-तत्त्व की मार्मिक व्यंजना करने के लिए उन्होंने इसी प्रकार के कई प्रकृति-रूप दिये हैं।

रूपकत्व

उद्दीपकत्व से सम्बद्ध इस प्रकार में प्रकृति के नाना पदार्थ कवि की अलंकरण-वृत्ति के उपकरण-उपादान बनते हैं। उदाहरणार्थ रूप या नख-शिख वर्णन में और व्यापार-वर्णन में कमल, चन्द्र आदि प्रकृति-विषयों और संघटनाओं को उपमान बनाया जाता है। इनमें प्रकृति का पूर्ण स्वतंत्र चित्रण नहीं होता; केवल उसके कुछ तत्त्वों, पदार्थों या व्यापारों का स्फुट नियोजन वा आभास ही होता है।

कवि प्रकृति के विषयों (पदार्थों) अथवा संघटनाओं से अलंकरण की योजना साम्य के (सादृश्य) के आधार पर करता है।

समता-मूलक अलङ्कार प्राय: 'उपमा' के ऊपर अवलम्बित हैं और 'उपमा' में अधिकांश उपमान प्रकृति से संचित किये जाते हैं। नख से लेकर शिख तक के उपमानों की लम्बी सूची श्रृंगार-प्रधान काव्यों में कवियों ने प्रस्तुत की है। आलोच्य-काल में भी इस प्रकार की कल्पना का दारिद्र्य नहीं है। नायिका के सुन्दर मुख की कल्पना करते ही पूर्णचन्द्र और प्रफुल्ल कुसुम सामने आये बिना नहीं रहते। प्रकृति में उपमान खोजने का रहस्य यह है कि प्रकृति के रूपों तथा व्यापारों दोनों में सौन्दर्य की और कुरूपता की, कोमलता की और भीषणता की सुकुमारता और कठोरता की, चंचलता की और स्थिरता की, मलिनता और तेजस्विता की, जितनी उत्कृष्ट प्रतिमाएँ कवि-कल्पना को सहज-प्राप्त हैं, पृथ्वी पर अन्यत्र दुर्लभ हैं। यदि जीवन के दूसरे क्षेत्र न खोजे जायें तो भी प्रकृति का भण्डार इतना सम्पन्न है

है कि उसमें संसार के किसी भी 'धर्म' (गुण) के आधार पर उपमान अच्छे-से-अच्छे मिल जायँगे। कदाचित् इस प्रकार की सारी सूची समाप्त हो जाने पर ही कविगण प्रकृति से भिन्न अन्य पदार्थों की ओर मुड़े होंगे।

उपमा में, उत्प्रेक्षा में, अपह्नुति में, सन्देह में, भ्रान्तिमान में, सबसे बढ़कर रूपक में, इन प्रकृतिगत उपमानों का सदुपयोग होता है। दृष्टान्त अप्रस्तुत प्रशंसा इत्यादि अलंकारों में भी उपमान से कार्य लिया जाता है। अत: इस प्रकार के अलंकरण को भी हमने रूपकत्व की व्यापक संज्ञा दी है।

अलंकारों का यह उपयोग कवि अनादि काल से करता चला आ रहा है, इस काल में कुछ मौलिक प्रयोग भी हुए। कवि 'प्रसाद' ने रूप-वर्णन के लिए प्राकृतिक अवयवों से ही साधन जुटाये—

ये बंकिम भ्रू , युगल कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र—चपल मद से भरे,
अरुण राग-रंजित कोमल हिमखण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल सुढर नासा बनी!
धवल स्मित जैसे शारद-घन बीच में—
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
चपला-सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ी।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।[1]

'उपमा', 'उत्प्रेक्षा' और 'रूपकातिशयोक्ति' के अलंकारों द्वारा प्रकृति ही यहां 'रूप' की रेखाएँ निर्माण करती हैं।

प्रकृति के विषय अप्रस्तुत की व्यंजना करने वाले प्रस्तुत के रूप में भी आते हैं। इसे प्रतीक-योजना की व्यापक संज्ञा दी जा सकती है। अन्योक्तियाँ भी वस्तुत: प्रतीक-विधान के ही क्रोड़ में समाविष्ट हो जाती हैं। इसके उदाहरणों की कविता में सीमा नहीं। समग्र अन्योक्ति-काव्य इसी के आधार पर है। जब कवि ने

नहिं पराग नहिं मधुर मधु
नहिं विकास इहि कालु।

---
१. रूप (झरना : प्रसाद)

अली, कली ही सों बिंध्यो
आगे कौन हवालु ?

कहा था तो उसके पराग, मधु, विकास, कली और अलि (मधुर) 'प्रस्तुत' होते हुए भी किन्हीं 'अप्रस्तुतों' के सूचक थे। इसी प्रकार का उदाहरण है रूपनारायण पाण्डेय की 'दलित कुसुम' कविता—'अहह, अधम आंधी आ गई तू कहाँ से ?' यह एक उदाहरण है। आलोच्य-काल में प्रकृति के उपादानों पर शत-शत अन्योक्तियों की रचना हुई है जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

राष्ट्रीय मनोभूमिका में भी जब 'एक भारतीय आत्मा' ('पुष्प की अभिलाषा' में) पुष्प के सुरबाला के गहनों में न गूँथे जाने की, प्रेमी माला में न बिंधे जाने, सम्राटों के शव पर न डाले जाने और देव-मस्तक पर न चढ़ने की इच्छा प्रकट करते हुए मातृभूमि पर शीश चढ़ाये जानेवाले वीरों के ही पथ पर फेंक दिये जाने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं तो वस्तुतः वे 'प्रस्तुत' से 'अप्रस्तुत' (बलि-दानियों के प्रति श्रद्धालु व्यक्ति) का ही संकेत करते हैं।

दार्शनिक भावभूमिका में भी प्रकृति प्रतीक प्रस्तुत कर सकती है। जब बदरीनाथ भट्ट

सागर में तिनका है बहता,
उछल रहा है लहरों के बल
'मैं हूँ मैं हूं' कहता !

लिखते हैं तो वे माया के भव-सागर में बहनेवाले तुच्छ जीव के अहंकार का इंगित करते हैं।

आध्यात्मिक भाव-भूमिका में भी प्रकृति के प्रतीक ग्रहण किये जाते हैं। प्रकृति से रहस्य की व्यञ्जना गुप्त जी ने 'आय का उपयोग' में की है—

हम अपनी अपनी कहते है किंतु सीप क्या कहती है ?
कुछ भी नहीं, खोलकर भी मुँह वह नीरव ही रहती है !
उसके आशय की क्या चाह ?
ताक रहे सब तेरी राह !

(सरस्वती : सितम्बर १९१८)

— प्रेम —

मनुष्य जीवन की मूलवृत्ति काम है और काम ही लौकिक भाषा में प्रेम है। इसके सम्बन्ध में इतना ही कथन पर्याप्त है।

'प्रेम' का तत्व आलोच्य-काल में भी इतना अधिक व्यापक दिखाई देता है कि उसका पृथक् अनुशीलन आवश्यक समझा गया।

समस्त साहित्य में और कविता में प्रेम की व्याप्ति है। हिन्दी के शैशव के उस पूर्व-मध्ययुग में जब कवि वीरगाथाओं के द्वारा अन्तर्युद्ध (Civil war) में व्यञ्जित शौर्य के साथ प्रेम का पुट देते थे, तब प्रेम का तत्व उन रोमांचक वीरगाथाओं में ही सम्मिश्रित हो जाता था।

भक्ति के युग में कवियों का प्रेम-भाव ईश्वर की भक्ति में पर्यवसित हो गया। उस समय के भक्त और संत कवियों ने अपनी प्रेम-भावना का उन्नयन किया था भक्ति-भावना में। भक्त कवियों में शृंगार-वर्णन प्रस्तुत तो अवश्य है, परन्तु प्रेम के निम्न वासना-रूप की उसमें प्रतिष्ठा नहीं है। उदाहरण के लिए सूर ने अपने गीतों में राधा और कृष्ण के जो ऐन्द्रिय प्रेम के कई चित्र दिये हैं—उनमें एक आलंकारिक गोपन है।

मीरा के पदों में तो अभुक्त प्रेम की ही पिपासा को अभिव्यक्ति मिली है। इसका इंगित इस पद में मिलता है—

> पचरंग चोला पहर सखी मैं झुरमुट खेलन जाती
> ओह झुरमुट मां मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

रीति-युग में प्रेम के अतिरिक्त जैसे दूसरा विषय ही न था। रीति-काव्य के प्रवर्तक कवि केशवदास अपनी 'रामचन्द्रिका' में राम से ये शब्द कहलाते हैं—

> बंधन हमारो काम-केलि को कि ताड़िबे को
> ताजनो विचार को कै व्यजन विचारु है।
> मान की जवनिका कि कंजमुख मूँदिबे को
> सीताजू को उत्तरीय सब सुखसारु है।

शृंगारी कवि के पास तो प्रेम के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मनुष्य की इस अनादि वासना को कवि ने रूप-चित्रण और रति-चित्रण में तृप्त किया। कृष्ण और राधा की ओट लेकर, शील और श्लीलता के सब

बन्धन तोड़कर जो कुछ कहना था कह दिया; स्वयं कवि के अतिरिक्त राजन्य-वर्ग की काम-पूर्ति भी इसमें होती थी। फल यह हुआ कि कविता वासना-वलित कुत्सित रंग में रँग गई, जिसे त्तम्य ही कहा जा सकता है। भाँति-भाँति की काम-चेष्टाएँ इस कविता ने दिखाईं। यह अच्छा ही हुआ कि हम इसे 'शृंगार' के नाम से जानते हैं, 'प्रेम' की पवित्र संज्ञा इसके साथ नहीं जोड़ी गई। हम यहाँ 'शृंगार' का शास्त्रीय अर्थ नहीं लेते।

प्रेम-काव्य

प्रेम के तत्त्व की विचारणा आलोच्य काल में कई कवियों ने की है। इस प्रकार का पहला प्रयास था १९वीं शताब्दी में अनुवादित एकान्तवासी योगी' (मूल कृति 'हरमिट' : गोल्डस्मिथ)। 'एकान्तवासी योगी' में मूल कवि ने प्रेम को वासना के रूप में ही प्रदर्शित न करके मानवीय वृत्ति के शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित किया। प्रेम की परीक्षा लेने की ऊपरी उदासीनता से खिन्न होकर प्रेमी विरक्त हो जाता है और अन्त में प्रेमपात्र नारी उसके अनुसन्धान में निकलती है। वे एकान्त वन में अचानक दैवी संयोग से मिल जाते हैं और प्रेम की सत्यता अन्त में सिद्ध होती है। इसका प्रभाव इस काल के अनेक लघुकाव्यों के रूप में फलित हुआ—

(१) 'प्रेम पथिक' (ब्रजभाषा) : प्रसाद
(२) 'प्रेम पथिक' (खड़ी बोली) : "
(३) 'शिशिर-पथिक' (ब्रजभाषा) : रामचन्द्र शुक्ल
(४) 'मिलन' : रामनरेश त्रिपाठी
(५) 'ग्रन्थि' : सुमित्रानन्दन पन्त

यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के प्रेम-कथामूलक आख्यान लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में प्रथम बार देखी गई। इनकी कथा पर और विषय पर 'एकान्तवासी योगी' का प्रभाव है। 'प्रेम-पथिक' (ब्रजभाषा) में कवि 'प्रसाद' ने प्रेम को साकार रूप में लाकर उससे कहलाया—

प्रेम ! चक्रवर्ती राजा के राज।
हाय, दुहाई सुनी जात नहिं काज।
× × ×
लखि सुकुमार तुम्हें हम शिक्षा देत।
फिरहु 'पथिक' यह मग अति दुःखनिकेत।

प्रेम के सांसारिक रूप में मानव को प्रवंचना और प्रतारणा मिलती है और तब वह अवसाद-खिन्न हो उठता है। ऐसे समय उसे ज्ञानी विचारकों की वाणी अभिभूत कर लेती है और यह इस प्रकार सोच उठता है—

यह प्रेम को पंथ कराल है री तरवार की धार पै धावनो है।
—बोधा कवि

प्रेम का यह वियोगपक्ष आत्मगत है और भुक्तभोगी ही उसे जानता है। खड़ी बोली के 'प्रेमपथिक' में प्रसाद ने उसका आदर्शीकरण किया था।[१]

प्रेम का निराशावाद इससे भी अधिक अधिक मर्मस्पर्शी रूप में 'ग्रन्थि' में श्री सुमित्रानन्दन पंत ने दिया—

शैवलिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिंगन करो तुम गगन को
चंद्रिके, चूमो तरंगों के अधर
उडुगणों गाओ पवन वीणा बजा
पर हृदय, सब भांति तू कंगाल है
देख रोता है चकोर इधर सिहर।
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, यही
नियम है संसार का रो हृदय रो।

प्रसाद ने 'प्रेम' के तत्त्व का मनन-मंथन किया —

दुःखमूल विपत्तिसागर प्रेम है वह रोग।
प्रेम ? सिंधु अथाह, थाह लहै न कोऊ तीर।
हा! मनारथ तरल तुंग तरंग उठत गंभीर।

और अन्त में यह निष्कर्ष निकाल पाया था—

प्रेम, सों जनि प्रीति कीजो समुझियो मन माहिं
प्रेम को जनि नाम लीजो भूलि जाओ याहि।[२]

परन्तु प्रेम को कवि न भूल सका। उसने फिर-फिर प्रेम की पीड़ा में पड़ना ही स्वीकार किया। उसे बार-बार यह अनुभव तो होता रहा कि—

१. देखिए पीछे आख्यानक कविता धारा।
२. 'प्रेमपथिक' (ब्रजभाषा : प्रसाद)।

हृदय खोलकर मिलनेवाले बड़े भाग्य से मिलते हैं
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कहीं
निराधार भव-सिंधु बीच वह कर्णधार को पाता है
प्रेम-नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।[1]

प्रेमी प्रेम के सुन्दर आनन्द-स्वप्न देखा करता है। एक मनोराज्य की एक झाँकी दर्शनीय है—

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आयेगी?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छायेगी?
रिक्त हो रही मधु से सौरभ, सूख रहा है आतप से,
सुमन-कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरावेगी?

यह स्पष्ट है कि प्रेम मानव-जीवन का अंतिम साध्य ही है—

लम्बी विश्व-कथा में सुख-निद्रा समान इन आँखों में,
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी?

और उस प्रेम में उसी प्रकार समस्त कामनाएँ लीन हो जाती हैं, जैसे गीता के कृष्ण ने

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामाऽयं प्रविशन्ति सर्वे सशान्ति माप्नोति न कामकामी[2]

द्वारा सूचित किया है—

मन-मयूर कब नाच उठेगा कादम्बिनी-छटा लखकर
शीतल आलिङ्गन करने को सुरभि-लहरियाँ आयेंगी।
बढ़ उमंग सरिता आवेगी आर्द्र किये सूखी सिकता,
सकल कामना-स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी?

(झरना: प्रसाद)

प्रेम का आदर्शीकरण आलोच्य-काल की कविता में हुआ है। प्रेम एक निश्छल-निष्कपट वृत्ति है, निःस्वार्थ है। वह जीवन की प्रेरक शक्ति है, उसका सार-तत्त्व है, जीवन का लक्ष्य है और ईश्वर का ही रूप है। इस प्रकार का दर्शन कविता में मिलता है। 'प्रेम पथिक' (खड़ी बोली) में उसके आदर्शीकरण में श्री प्रसाद ने लिखा—

---

१. प्रेम-पथिक (प्रसाद) २. 'गीता' २ : ७०

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।[1]

प्रेम को व्यक्ति में ही सीमित वृत्ति या तत्त्व न मानकर प्रभु का स्वरूप मानना इष्ट है :

इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है[1]

प्रेम को गीता के कर्मयोग की भाँति ही एक निस्वार्थ, निष्काम यज्ञ के रूप में कवि ने अपने काव्य 'प्रेम-पथिक' में प्रतिष्ठित किया—

पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का फल पाओगे।[1]

प्रेम एक निरपेक्ष-निरवार्थ जीवन-वृत्ति है। प्रेमी से प्रतिदान लेने का स्वार्थ उसमें नहीं हैं, इस निःस्वार्थ आसक्ति का रूप मैथिलीशरण गुप्त अपने 'प्रेम पत्र' में प्रस्तुत करते हैं—

प्रणय-पावक नित्य जला करे;
हृदय-पिण्ड सदैव गला करे।
पर तुम्हें कुछ भी न खला करे;
कुशल हो भगवान भला करे।

उसमें प्रेमी के प्रति मधुर और मार्मिक उपालम्भ तो है :

बस यही यदि था करना तुम्हें,
हृदय था फिर क्या हरना तुम्हें ?
तनिक जो तुम नेह निबाहते.
समझते—कितना हम चाहते!

परंतु उसमें प्रेमपात्र के प्रति आक्रोश और अनिष्ट कल्पना नहीं है—

तुम यहाँ सुधि लो कि न लो कभी;
उचित उत्तर दो कि न दो कभी।
पर यही कहते हम हैं अहो!
तुम सदैव सहर्ष सुखी रहो!

---

१. प्रेमपथिक : 'प्रसाद'

'प्रेम' शाश्वत और चिरन्तन है। उसकी पूर्णता इसी दृश्य-जगत में नहीं हो जाती। प्रेम जगत का चालक तत्त्व है—

प्रेम जगत का चालक है इसके आकर्षण में खिंच के
मिट्टी वा जल-पिंड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु,धरणी,गिरि,सिन्धु सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।[1]

प्रेम जीवन का एक प्रधान लक्ष्य, प्रधान प्रेरणा के रूप में देखा गया है।

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये,
कौन कहता है जगत है दुःखमय ?

प्रेम एक पवित्र प्रेरणा है, गंगा की धारा है जिसके बिना हृदय मरुस्थल है—

और प्रेम, करुणा गंगा-यमुना की धारा बही नहीं
कौन कहेगा उसे महान ? न मरु में उसमें अन्तर है।[1]

प्रेम इतनी अभीप्सित वस्तु है, पवित्र वस्तु है; इसी कारण वह हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है—

यह सरस संसार सुख का सिन्धु है !
इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा ![2]

प्रेम एक व्यक्ति के प्रति है और वह अनन्य भी है : प्रेम जिस व्यक्ति में हो उसके लिए जीवित रहने से भी अधिक अपने आपको मिटा देने का आदर्श है—

इसके बल से तरुवर पतझड़ कर वसन्त को पाते हैं
इसका है सिद्धान्त—मिला देना अस्तित्व सभी अपना।[1]

परंतु वह ऐकान्तिक ही नहीं है, रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' में

---

१. प्रेम पथिक : 'प्रसाद' २. मिलन, झरना : 'प्रसाद'

प्रेम को जीवन का सारतत्त्व ही नहीं, स्वर्ग-अपवर्ग और ईश्वर का प्रतिरूप भी माना है—

गन्ध विहीन फूल है जैसे
चन्द्र चन्द्रिका-हीन
यों ही फीका है मनुष्य का
जीवन प्रेम विहीन
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है
प्रेम अशङ्क अशोक
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है
प्रेम हृदय-आलोक।[1]

और विश्व को ही प्रियतम मानने पर विरह भी विरह नहीं रह जाता—

प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में प्रत्युत जगभर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।[2]

इस प्रकार प्रेम विश्व-प्रेम तक पहुँचता है।

प्रेम का यह आदर्शीकरण समाजोन्मुख होने में भी होता है। राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम अंत में समाज-प्रेम, विश्वप्रेम की भावना उत्पन्न करता है—

रामनरेश त्रिपाठी ने सूफी मत के प्रेमवाद के रहस्य की व्यंजना की है—

फूल पंखडी में पल्लव में प्रियतम-रूप विलोक
भर जाता है महा मोद से प्रेमी का उर-ओक,
प्रेम भरे अधखुले दृगों से शशि को देख सहास
प्रेमी समझ मुग्ध होता है प्रियतम हास-विकास[1]

सचराचर संसार इस प्रकार प्रेममय हो जाता है और

जन-जन में प्रेमी को दिखती है प्रियतम की कान्ति
इससे उसे लोक सेवा में मिलती है अति शान्ति।[1]

इस प्रकार यह सूफी ढंग का प्रेमवाद 'मानववाद' में पर्यवसित हो जाता है।

---

१. मिलन : 'त्रिपाठी' २. प्रेमपथिक : 'प्रसाद'

५ : 'भक्ति' और 'रहस्य'

'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' परंतु यदि लौकिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि 'भक्ति' मनुष्य की श्रद्धा वृत्ति की सर्वोच्च स्थिति है। 'प्रसाद' के शब्दों में श्रद्धा का पूर्ण स्वरूप भक्ति है।[1]

अपने रूढ़ अर्थ में भक्ति 'ईश्वर में अनन्य प्रेम' है।

'भक्ति का आलम्बन 'परोक्ष सत्ता' है जो कभी इस व्यक्त सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करनेवाली और कभी सृष्टिकर्त्ता, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर मानी जाते हुए भी सूक्ष्म (निराकार-निर्विकार) रूप वाली मानी गई है। दार्शनिक भूमिका में कहें, तो उसकी दो धाराएँ हैं :—

(१) सगुण वादी भक्ति : साकार उपासना

(२) निर्गुण वादी भक्ति : निराकार उपासना

सगुण वादी भक्ति की किसी पृथ्वी-प्रसूत मानव में ईश्वरत्व की कल्पना या भावना या धारणा करते हुए उसमें अनन्य आस्था है; इसे 'अवतारवाद' कहा जाता है और ऐसे रूप के उपासक 'भक्त' नाम से पुकारे जाते हैं। आचार-पक्ष का भी इसमें विधान है। निर्गुणवादी भक्ति में ईश्वर को अदृश्य किंतु अन्तश्चक्षु से दृश्यमान् निराकार मानकर उसकी उपासना है। उसके ऐसे रूप के उपासक पारिभाषिक भाषा में 'सन्त' कहे जाते हैं।

मेरा मत यह है कि दोनों में परम सत्ता के प्रति आस्था तो मूलभूत है ही; परन्तु जो भावनावादी हैं वे ही सगुण उपासना या भक्ति की ओर झुकते हैं, और जो विवेकवादी अथवा बुद्धिवादी हैं वे निर्गुण उपासना या 'ज्ञान' का,

---

१. 'भक्ति' : चित्राधार : प्रसाद

मार्ग अपनाते हैं। 'भक्ति' में व्यक्तिगत श्रद्धा का तत्त्व प्रधान होता है, 'ज्ञान' में 'चिन्तन' का। इस प्रकार पहिली प्रेमवादी धारा है : दूसरी ज्ञानवादी।

सगुण : श्रद्धामूलक धारा

सगुण भक्ति या साकार उपासना भक्ति की भावना-प्रधान धारा है। ईश्वर के प्रति विश्वास के लिए लौकिक अवलम्ब की खोज में राम और कृष्ण की उपासना ईश्वरावतारों के रूप में प्रारंभ हुई और रामभक्ति और कृष्ण भक्ति की दो बृहद् शाखाएँ जन-जीवन में प्रवाहित हुई[1]।

सगुण भक्ति की ये द्विविध धाराएँ पौराणिक 'अवतारवाद' पर प्रतिष्ठित हैं और इस 'अवतारवाद' का, गीता में, प्रतिष्ठापक मंत्र है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।'

निर्गुण : बुद्धिमूलक धारा

निर्गुण भक्ति या निराकार उपासना का भाव भक्ति की ज्ञान-प्रधान धारा है। बुद्धि की प्रक्रिया से ईश्वर को जानने का इच्छुक सूक्ष्म तत्त्व के रूप में ही उसका चिन्तन करता है और वह उसे सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, सर्वोपरि मानते हुए भी व्यक्त आकार नहीं देता। आसक्ति का पुट होते ही यही निर्गुण ईश्वर की उपासना करनेवाली ज्ञान-प्रधान द्वारा प्रेमाश्रयी हो जाती है।

पिछले युगों की भक्ति की कविता में और आधुनिक युग की भक्ति की कविता में आकाश-पाताल का अन्तर है। वस्तुतः भक्ति की पुरानी धारणा आज नितान्त परिवर्तित हो गई है। प्राचीन और अर्वाचीन भक्ति में क्या अन्तर है? प्रस्तुत लेखक ने अपने आलोचना-ग्रंथ 'हिन्दी कविता का क्रांति-युग' में लिखा है :

"तुलसी और सूर के भक्ति के गीतों ने भगवद्भक्ति को मानव-हृदय की गङ्गा बना दिया था, जिसमें स्नान करके जन-मन पवित्र होता था गङ्गा की उस निर्मल धारा में कोई पंकिलता न थी। मीरा के गीत अपनी माधुर्य भावना के स्पर्श से उस धारा में मादकता का पुट ला देते हैं।"

---

१ हिन्दी कविता का क्रान्ति-युग : प्रथम संस्करण। 'भक्ति और रहस्य'

जिस काल की कविताओं की हम समीक्षा कर रहे हैं उसमें वह जीवनस्पर्शी आध्यात्मिकता नहीं मिलती जो मध्ययुग के भक्तों और सन्तों में दिखाई दी: 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम ?' यह पद कवि के हृदय से ही निकला था; परन्तु आज के कवि में वह विश्व से विरक्ति, वह एक मात्र विश्व-स्रष्टा से अनुरक्ति, वह अनन्य आसक्ति है कहाँ ? उस आध्यात्मिकता का भी बौद्धीकरण (rationalisation) इस युग की विचार-धारा में हो गया है।

रवीन्द्रनाथ ने कवि-जीवन के प्रभात में गाया था:—

'मरण रे तुहुँ मम श्याम समान।'

ऐसी कविताओं को देखकर ही हम उन्हें भक्त कहने लगें तो यह 'भक्त' का अपमान होगा। यह परिवर्तन भी आकस्मिक या अकारण ही न था। भारत का पिछला सांस्कृतिक नवचेतन इसका स्रष्टा है। भक्ति-कविता की प्राचीन परम्परा १९ वी शती के साथ मिट गई और नवीन परम्परा नये रूप में प्राप्त हुई।

१९ वीं शताब्दी में जो आध्यात्मिक रंग के आन्दोलन (ब्राह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज) आध्यात्मिक महापुरुषों (राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परम हंस, विवेकानन्द आदि) के द्वारा प्रवर्तित हुए उन्हीं का मानसीकरण वास्तव में २० वीं शताब्दी में दिखाई दिया। स्वयं बंगाल में रवीन्द्रनाथ के 'गीताञ्जलि', 'नैवेध' आदि के ईश्वरपूरक गीत सनातन 'भक्त' की भावना में नहीं गाये गये हैं। 'भक्ति' वहाँ केवल एक मानसिक अनुभूति ही रह गई है। भक्ति की विभिन्न पार्श्व प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'अवतारवाद'

राम और कृष्ण अवतार के रूप में ही भक्ति के आलम्बन हो सके थे। तुलसी-सूर ने राम को हरि रूप में ही चित्रित किया था। उसी परिपाटी में १९ वीं शताब्दी में राम और कृष्ण हरि के अवतार के रूप में माने जाते रहे। भारतेन्दु जब कहते हैं कि 'अब तो जागौ चक्रधर !' तो वे हरि का ही आह्वान करते हैं।

परंतु ब्राह्म समाज और आर्यसमाज ने जो धर्म-सांस्कृतिक आन्दोलन भारतीय जीवन में, पिछली शताब्दी में किये उनके बुद्धिवादी प्रभाव से 'अवतारवाद' का ग्रहण उसी रूप में नहीं हुआ जिस रूप में वह मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित था। भक्ति-काव्यों का 'अवतारवाद' वस्तुत: उनके युग के प्रधान आचार्यों रामानन्द और वल्लभाचार्य के भक्ति-दर्शनों का ही प्रतिरूप था। जिस समय धर्ममूलक संस्कृति विदेशी सत्ता के उत्पीड़न से संकटापन्न थी उस समय एक ऐसे ईश्वर की कल्पना सहज ही शान्तिदायिनी हुई जो 'असुरों' और दुष्टों का संहारक और साधु-सन्तों की और धर्म (सत्यपक्ष) का परित्राता और संस्थापक हो सके। अवतार की कल्पना इस लिए सहज ही ग्राह्य हो गई। राम और कृष्ण दोनों का स्वरूप 'राम-चरित मानस' और 'सूरसागर' में 'असुर-संहारक' का ही है।

अवतारवाद का ठीक इसी रूप में पुनरुत्थान नहीं हुआ। गीता में कृष्ण (भगवान् रूप में) अपने अवतार का उद्देश्य धर्म-संस्थापन (या धर्म का अभ्युत्थान) साधु-परित्राण, दुष्ट-विनाश आदि स्पष्ट करते हैं। आज के युग में इसका समन्वय समाज-उद्धार में हो जाता है।

इस नवीन अवतारवाद के प्रभाव में ही वैष्णव कवि मैथिलीशरण गुप्त भी सर्वेश ईश्वर का राम रूप से भावन करते हुए उसका 'अवतार' लोक-शिक्षार्थ हुआ ही मानते हैं :

लोक-शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया।
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका, सर्वमंगल-धाम है।
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥[१]

'साकेत' में भी (जिसे कवि राम-चरित ही मानता है[२]) कवि ने राम के द्वारा अपने अवतार के उद्देश्य की कल्पना ही है उससे अधिक स्पष्ट अवतार-वाद की आस्था क्या होगी ?

मैं आर्यों को आदर्श बताने आया।
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया॥
सुख शान्ति हेतु मैं क्रांति मचाने आया।
विश्वासी का विश्वास बचाने आया॥

× × ×

---

१. रंग में भंग : मंगलाचरण २. 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।'—साकेत

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया ।
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ॥
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥
अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा ।
अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल जैसा ॥

युग का बुद्धिवाद और उसमें पड़ा सिसकता हुआ अवतारवाद 'साकेत'कार की वाणी में अपनी पुकार भरने लगा, इसीलिए 'साकेत' के मंगलाचरण में प्रश्न रूप में राम की ईश्वर की कल्पना है :

राम, तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
× × ×
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे !

संशय के वातावरण में पड़ा हुआ 'अवतारवाद' यहाँ है फिर भी यह कहना चाहिए कि कवियों में केवल मैथिलीशरण गुप्त ऐसे हैं जिनका 'अवतार वाद' अटल रह सका है वे तो कृष्ण को भी राम के समकक्ष ही मानते हैं।

वस्तुत: उन पर राम (और कृष्ण) की 'भक्ति' का रंग गहरा है। अपने सब काव्यों में वे राम की वन्दना करना नहीं भूलते। उन्होंने 'द्वापर' में भी लिखा, आगे—

धनुर्बाण या वेणु लो श्याम रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम, दूसरा रंग।

('अवतारवाद' का अशिव प्रभाव)

कहा जा चुका है कि ईश्वर के अवतार लेने के विश्वास को हम 'अवतारवाद' कहते हैं और इसका मूल है 'यदा यदा हि'[1] वाणी। महर्षि वेदव्यास के प्रति नतमस्तक रहते हुए भी इतना विनम्र भाव से कहा

[1] यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

(गीताः ४)

जा सकता है कि इस आस्था और विश्वास ने जाति और राष्ट्र का कोई बड़ा कल्याण नहीं किया। भगवान् हमारे लिए नंगे पाँव दौड़े आते हैं; असुरों की वृद्धि होते ही एक दिन वे प्रकट होंगे और उन्हें अपने सुदर्शन चक्र से विनष्ट कर देंगे। इसमें 'ईश्वर हमारा ही रक्षक है, दूसरों का नहीं'—यही अहं है। हमने हमारे आततायियों को असुर और अधर्मी और स्वयं को देवता, अथवा मनुष्य से ऊँची वस्तु, मानना आरम्भ कर दिया। हमारी रक्षा स्वयं भगवान् करेंगे—इस विश्वास ने हमें जड़ और अकर्मण्य बना दिया—हम या तो हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे या अपनी रक्षा ईश्वर से मनाते रहे कि 'हे भगवान्, धर्म-संस्थापन का आप गीता का अपना प्रण स्मरण कीजिए। पृथ्वी पर भार बढ़ गया है, अब शीघ्र अपना सुदर्शन चक्र सँभालिए।'

मनोविज्ञान कुछ दूसरा ही हो जाता—यदि 'भगवान् कृष्ण' के मुँह से ऐसी वाणी वेदव्यास ने कहलाई होती। तब स्वावलम्बी बनकर हम अपने आप अपने पाँवों पर खड़े होते, अपनी रक्षा स्वयं करने का पौरुष दिखाते; और कदाचित् पराये दास भी न होते। अस्तु आलोच्य काल की कविता में हमारी यह असहायता की भावना मुद्रित होती है।

'जातीय संगीत' में त्रिशूल जी ईश्वर के प्रति समग्र जाति की याचना कर रहे हैं—

> आप भी हमको न जो अपनायँगे।
> तो प्रभो! किसकी शरण हम जायँगे।
> कब तलक आँसू पियेंगे मौन हो।
> कब तलक चुपचाप यों ग़म खायेंगे!

कहाँ तो गीता-गायक का युद्ध से पलायित अर्जुन को

> (१) क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
> (२) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

के जीवन-जाग्रति बल और बलिदान के प्राणोत्तेजक उद्बोधन और कहाँ उन्हीं के उन (यदा यदा हि) वाक्यों का यह विपरीत भाव और अनाचार-अत्याचार को सहते हुए चुपचाप आँसू पीते जाना?

(अवतारवाद का बौद्धीकरण)

एक और दृष्टि वह है जिसमें अवतार को अवतार न मानकर ईश्वर की विभूति का अंश ही माना जाता है। यह अवतारवाद का बौद्धीकरण है। हरिऔध ने इसी दृष्टि को लिया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेववा।
तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंशसंभवम्।

इस प्रकार वह दृष्टि महापुरुष—महामानव को अवतार या ब्रह्म की विभूति मानकर चलती है। उसे सर्वशक्तिमान मानकर नहीं बल्कि अतिमानव मानकर ही उसमें मानव-आदर्शवाद की स्थापना की जाती है।

'आस्तिकवाद'

आलोच्यकाल में यद्यपि ईश्वर-सत्ता का स्वीकार तो अवश्य है परन्तु आस्तिकवाद के प्राचीन अर्थ में ही वह ग्रहीत नहीं है। देश के पूर्वी अंचल में राजा राममोहनराय के ब्राह्म-समाज ने और पश्चिमी अंचल में स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य-समाज ने भक्ति, धर्म और ईश्वर का ज्ञानविहित स्वरूप प्रतिष्ठित किया। इन धर्म-सांस्कृतिक संघों में ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं है, परन्तु उसके स्थूल रूप की उपासना का विधान भी नहीं है। उसकी सर्वव्यापकता की ही प्रतिष्ठा है।

'आर्यसमाज' और इससे पूर्व ब्राह्म-समाज ने भक्ति के उस रूढ़िवादी रूप पर आघात किया था। ब्राह्मसमाज के मत में 'ईश्वर का कभी अवतार नहीं होता'[१]। और 'आर्यसमाज' के मत में—"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।[२]

स्पष्ट है कि ये दोनों प्रमुख सांस्कृतिक संघ, जो भारतीय सांस्कृतिक जीवन को अभिभूत करते हैं, ईश्वर-सत्ता के विश्वासी हैं। आलोच्यकाल

---

१. देखिए पीछे 'जीवन की पृष्ठभूमि' में 'सांस्कृतिक पीठिका'
२. 'सत्यार्थप्रकाश' : आर्यसमाज के नियम।

की भक्ति-मूलक कविता में यही बात सर्वनिष्ठ है। 'ईश्वर' का नितान्त अस्वीकार नहीं है। एक ईश्वर की सत्ता सभी मानते हैं। हाँ, अन्तर उसके निर्गुण (निराकार-निर्विकार) या सगुण (साकार-अवतार) रूपों का ही दिखाई देता है। आज का विचारक 'नास्तिकवाद' को तो ('वेदनिन्दको नास्तिकः' के अर्थ में नहीं) ईश्वर की सत्ता के निषेध के अर्थ में ही ग्रहण करता है। वह भावन करता है कि वह अनन्त-सत्ता, सचराचर त्रिभुवन में व्याप्त और देदीप्यमान है; आकाश में, पृथ्वी में, राजा में, प्रजा में, अग्नि में, जल में, वायु में, सब कहीं है। उस अनन्त शक्ति को वह भूतमात्र में देखता है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' में रूप प्रकट करनेवाले ईश्वर में उसकी आस्था है, अतः वह आस्तिक ही है। "वह सर्व शक्तिमान है, उसकी आज्ञा के बिना पत्ता तक नहीं हिलता। त्रैलोक्य-दीपक सूर्य में अन्धकारनाशक उसका जो सत्त्व चमक रहा है उसी का कोई क्षुद्र अंश क्षुद्र रजकण में भी विराजमान् है"—जो इस तत्त्व को जानता है, क्या वह नास्तिक है?[1] यदि यह संभव है, तो इस महीतल में कोई आस्तिक ही नहीं, सभी नास्तिक हैं।[1]

इसी की प्रतिध्वनि 'साकेत'कार के मुख से यों हुई है—

(राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?)
जग में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
(तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे)
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

(मैथिलीशरण गुप्त)

यह 'सियाराममय सब जग जानी' (तुलसी) के विश्वास की पूत छाप है।

मूर्ति के सम्बन्ध में अभिनव 'आस्तिकवाद' की दृष्टि यह है कि जितने देव-मन्दिर हैं, उनमें स्थापना की गई मूर्तियों को हम नमस्कार नहीं करते, ऐसा नहीं, हम नमस्कार करते हैं।...तथापि ईश्वर की सत्ता को इस सारे जगत विद्यमान देख केवल प्रतिमाओं में ही हमारा अतिशय प्रेम नहीं है[2]। उसकी महती शक्ति को चराचर में, उसकी प्रभुता को सर्वत्र सर्व वस्तुओं में देखने वाला एक ही वस्तु की भक्ति में किस प्रकार लीन हो सकता है?[3]

१ ये अंश द्विवेदीजी की कविता 'कथमहं नास्तिकः' से लिये गये हैं।
२ 'कथमहं नास्तिक :' (७) का आशय
३ ,, ,, (८) ,,

एक दूसरा तर्क, इससे विपरीत, यह भी है—"जब ईश्वर जल-स्थल आकाश, अनल-अनिल तारा-चन्द्र सब में व्यापक है, तो यह आग्रह क्यों है कि वह मन्दिर (और उसकी मूर्ति) में नहीं है ?"—

जब मानते हैं व्यापी जल-भूमि में अनिल में
तारा शशांक में भी, आकाश में अनल में
फिर क्यों ये हठ है प्यारे, मन्दिर में वह नहीं है
वह शब्द जो नहीं है, उसके लिए नहीं है।

—चित्राधार : जयशंकर 'प्रसाद'

इसीलिए मस्जिद, मन्दिर, गिरजा, पैगोडा तो उस विश्व के ही लघुरूप (replica) हैं, जो उसका मन्दिर है—

मस्जिद, पगोड़ा, जिसको बनाया तूने।
सब भक्ति-भावना के छोटे - बड़े नमूने।
सुन्दर वितान जैसा आकाश भी तना है।
तेरा अनन्त मन्दिर यह विश्व ही बना है।

(उपर्युक्त)

निर्विकार-निराकारवादी अवतारवाद की किसी भी रूप में प्रशस्ति नहीं करते। अवतारवाद में उनकी कोई आस्था नहीं, मूर्तिपूजा को जड़ता का लक्षण वे मानते हैं और तिलक छाप को पाखण्ड। इसी भावना से किया हुआ आर्यसमाजी कवि शंकर का व्यंग्य सुनिए—

शैल विशाल महीतल फोड़ बढ़े तिनको तुम तोड़ बढ़े हो।
लै लुढ़की जलधार धड़ाधड़ ने धर गोल मटाल गढ़े हो॥
प्राण-विहीन कलेवर धार विराज रहे न लिखे न पढ़े हो।
हे जड़देव शिलासत शंकर भारत पै करि कोप चढ़े हो॥

('अनुराग-रत्न': शंकर)

यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है कि मूर्तिपूजा जड़ता का ही लक्षण है बुद्धि को वह ग्राह्य नहीं हो सकती। गांधीवादी तत्त्वचिन्तक श्री किशोरीलाल घनश्याम मशरूवाला भी मानते हैं—

(१) चित्त को प्रसन्न और एकाग्र करने के लिए पूज्य जनों की मूर्ति का उपयोग करने में हानि नहीं है। परन्तु मूर्ति को प्राणवान समझकर उसकी प्रत्यक्ष अथवा मानस-पूजा, अर्चा, नैवेद्य, जुलूस आदि

विधियाँ भ्रमपूर्ण हैं। यह भ्रम ही अधिकतर धर्म को जीवन से अलग कर देने वाला अथवा जीवन को कृत्रिम मार्ग में ले जानेवाला होता है।

(२) इसी हेतु से तथा सत्संग की सुविधा के लिए मन्दिर, मसजिद जैसे निश्चित स्थान रखने में कोई हर्ज नहीं। इन स्थानों के लिए पवित्रता की भावना निर्माण होना स्वाभाविक है। परन्तु इनके विषय में इससे भी अधिक दिव्यता या महिमा की कल्पना भ्रम और वहम की पोषक हो जाती है। इससे जो साधन है वही साध्य बन जाता है। और यह भ्रम ही अनेकांश में जुदा जुदा अनुगमों और सम्प्रदायों के लोगों में होने वाले कलह का कारण है।

(जीवन-शोधन : (हिन्दी) : कि. घ. मशरूवाला : 'श्रद्धायुक्त नास्तिकता')

जो हो, मूर्तिपूजा का विरोध उस समय भारतीय मानस में बद्धमूल नहीं हो सका था। मूर्तिपूजा-विरोध का प्रतिषेध स्वयं आर्यसमाजियों ने आर्य-मन्दिर बनाकर दयानन्द की चित्रमूर्ति लाकर किया। यह आर्यसमाज की कट्टरता की प्रतिक्रिया थी। मुसलमानों की भाँति, आर्यसमाजी मूर्ति-निंदक 'सनातनी' कवि को इसी विचार से राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने चेतावनी दी—

धातु शिला को अशुच बताया
स्याही कागज पर मन भाया.
चित्र बनाय
प्रेम बढ़ाय
कमरे में लटकावैं
भाई भोले भाले, तुम्हें बहकावैं
भूलें भुलावैं और को !

('सत्य के खोजनेवालों को चेतावनी')

सन् १८२८ में ब्रह्म समाज की और १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना होगई थी। शताब्दी के अन्तिम चरण से ही वह हिन्दी कविता को प्रभावित करने लगी थी। श्रीधर पाठक के 'मनोविनोद' (जून १८८३) में 'मंगलाचरण' की स्तुति गणेश, शिव आदि की न होकर परब्रह्म परमेश्वर की है—

परब्रह्म निर्गुन निराकार तू।
स्वयंभूत संसार आधार तू।

यह धारणा आलोच्य-काल में विकसित और पुष्ट हुई है। श्री गिरिधर शर्मा

ईश्वर तू प्रेमी का प्यारा। सब में व्यापक सबसे न्यारा।
निर्गुण सर्वगुणाकर है तू। न्यायी करुणासागर है तू।

के द्वारा स्तुति करते हुए—

तू ही करता, तू ही हरता। तू ही सकल सृष्टि को भरता।
अज अनादि अव्यय है तू ही। पुरुषोत्तम उत्तम है तू ही।

के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप और धर्म की धारणा करते हैं।

कवियों का ईश्वर अब सत्यरूप है जिसकी

"सत्ता तेरी प्रकट सकल में—
अम्बर अनिल अनल जल स्थल में"

है। वह सर्वशक्तिमान-सृष्टि-सचालक है—

कितने ही सुन्दर बसे नगरों को देता है उजाड़;
धूल कर देता है ऊँचे ऊँचे कितने ही पहाड़
एक झटके में करोड़ों पेड़ लेता है उखाड़।
इस सकल ब्रह्माण्ड को पलभर में सकता है बिगाड़![1]

वह प्रकृति का चित्रकार भी है—

जगमगाती गगन मंडल की विविध तारावली,
फूल फल सब रंग के सब भांति की सुन्दर कली।

सब तरह के पेड़ उनकी पत्तियाँ साँचे ढली,
अति अनूठे पंख की चिड़ियाँ प्रकृति हाथों पली।[1]

श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने एक कविता में ब्रह्म (ईश्वर) की सर्वव्यापकता का—

[व्यापक है जो विश्व में जगदाधार पवित्र।
उसका आवाहन कहाँ किया जाय, हे मित्र?]

उसकी निर्विकारता का—

[स्वच्छ निरञ्जन निरामय है जो सभी प्रकार
कहो उसे क्यों चाहिए, अर्घ्य पाद्य की धार?]

---

१. प्रभुप्रताप : 'हरिऔध'

उसकी विराट्‌रूप भावना का—

[भरा हुआ है उदर में जिसके यह ब्रह्माण्ड
फिर क्यों आवश्यक उसे तुच्छ वस्त्र का खण्ड ?]

उसकी विश्वंभरता का—

[जो स्वामी त्रैलोक्य की सम्पति का है एक
उसे दक्षिणा की भला कहो कौन है टेक ?]

और उसकी अनंत ज्योतिर्मयता का—

[पाते हैं रवि-शशि, अनल जिससे प्रखर प्रकाश
कहो उसी को कहाँ से लावें दीप उजास ?]

निरूपण करते हुए 'षोडशोपचार पूजा' (सरस्वती : फरवरी १९१३) की व्यर्थता प्रमाणित की।

(ईश्वर का अधिनायकत्व)

ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का कवियों ने भावन किया और जब वे सीमा तक पहुँच गये तो वह अतिवादी रूप आया जिसमें वह न्याय-अन्याय का विवेक न करके स्वेच्छाचारी हो जाता है और संसार में अन्याय होता देखकर कवि ईश्वर को उपालंभ भी देने लगता है—

पापी जीते रहें, मरे पुण्यात्मा जग में,
श्वान फिरे स्वच्छन्द पड़े बेड़ी गज-पग में!
वन में भटके सिंह, रहें चूहे घर-भीतर.
अपयश का डर नहीं तुम्हें क्या कुछ भी ईश्वर ?[1]

ईश्वर से ऐक्यभाव लाने की प्रार्थना भी कवियों ने की है।

हे ईश ! हे दयामय ! इस देश को उबारो ;
कुत्सित कुरीतियों के वश से इसे उबारो।
बँध जाय चित्त सबके अब एक सूत्र ही में ;
जो हो मनो मलिनता धोकर उसे निखारो।

(प्रार्थना : केशवप्रसाद मिश्र)

---

१ ईश्वरता : सरस्वती, जुलाई १९१६

गुप्त जी के 'नम्रनिवेदन' में परमेश्वर को जीवनालोक के लिए धन्यवाद है—

हुई सत्य सत्ता स्वयं सिद्धि तेरी,
भरे भक्ति के भाव भागा अँधेरा।
जगा हूं नया जीवनालोक पाके;
हरी मोह निद्रा हुआ है सवेरा।

इसी प्रकार 'याच्ना' कविता में ईश्वर से युवकों में देश-भक्ति, तितिक्षा, शिक्षा, एकता, प्रेम, उद्यम, राष्ट्रभाषा-प्रेम, दया आदि सद्गुणों की प्रेरणा करने की याचना की श्री हरिवंश मिश्र ने। शिवकुमार त्रिपाठी 'आत्मदशा' में भक्तवत्सल राम से शरणागत की रक्षा करने का निवेदन करते हैं। 'आकांक्षा' में वे नन्द के कन्हैया से

यह दीन देश भारत नित हो रहा है गारत।
भूखों तड़प रहा है करके कराल क्रंदन।

की पुकार करते हुए अवतार लेने की याचना करते हैं परन्तु निराशा में भारत माता की ओर से ईश्वर को उपालम्भ देते हैं—'दयामय कुछ भी काम न आये।'

ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता मिलने में विलम्ब होता गया है त्यों त्यों कवि में ईश्वरोन्मुखता आती गई है। दीन जाति को उबारने की एक मात्र शक्ति ईश्वर में देखी जानी लगी है—

जो दीन रक्षक आप हैं, तो दीन कहते हैं किसे?
क्या और होगा दीन हमसे, तुम उबारोगे जिसे?
(प्रार्थना—देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर')

ले ले कर अवतार असुर तुमने हैं मारे,
निष्ठुर नर क्यों छोड़ दिये फिर बिना विचारे[1]
—आकांक्षा

में कवि शिवकुमार त्रिपाठी द्वारा कृष्ण का आह्वान किया गया है—

इसी प्रकार एक कवि ने व्यंग के स्वर से पुकारा—

भूखों भारत तड़प रहा है कहाँ चखोगे खीर कन्हैया?
नग्न नारियाँ यहाँ पड़ी हैं कहाँ हरोगे चीर कन्हैया?
रामचरित उपाध्याय

१. किसान [गुप्त]

इस प्रश्न में यद्यपि अवतारवाद की वासना है परन्तु उसपर एक सामाजिक व्यंग्य भी बड़ा तीक्ष्ण है ।

(व्यापकत्व)

'अवतारवाद' को दार्शनिक चिन्तन में प्रशस्ति दी श्री बदरीनाथ भट्ट ने—

जो महत्तत्त्व बन सबमें आप समाया।
खुद बनकर जिसने है ब्रह्माण्ड बनाया।
वह धारण करके पंचतत्त्व बन छाया।
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया।
अब रहा नहीं घट-मठ का प्रश्न वहाँ है।
बन गया व्योम ही घट-मठ रूप जहाँ है।
सच्चिदानन्द ही भवानन्द बन आया।
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया।

(अवतार : सरस्वती : अप्रैल १९१७)

अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म की आत्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन है। शंकर इसकी प्रतिष्ठा कर चुके थे। इस युग में यह भावना पुनः प्रतिष्ठित होती है।

व्यापकता की धारणा में गुप्त जी ने गाया—

तू ही तू है विश्व में राम रूप गुणधाम
है तेरी ही सुरभि से सुरभित यह आराम।
आँखें उठती हैं जिस ओर तू ही तू देखा जाता है।
दे दे कर निज दिव्याभास,
करके हास-विलास--विकास,
रहता सदा हमारे पास,
फिर भी हाथ नहीं आता है।

(सरस्वती, अगस्त १९१४)

वह ईश्वर—इस प्रकार अपना दिव्याभास देता हुआ, हास-विलास-विकास करता हुआ व्यापक होता हुआ निकट भी आया—

हटकर मैंने तुझे हटाया
बार बार तू आया !

लोक-रक्षकत्व

आलोच्यकाल की ईश्वर-परक या आध्यात्मिक कविता में एक विशेषता और द्रष्टव्य है। भक्त कवियों ने अपनी काव्य-सृष्टि स्वान्त:सुखाय की थी। उन्हें भगवान में अनन्य आसक्ति थी : पर आत्महितार्थ।

इस काल का कवि ईश्वरोन्मुख इसलिए नहीं है कि वह केवल आत्म-कल्याण-कामी है, वह देश-जाति-समाज के कल्याण के लिए स्तवन करता है। उसमें यह आस्था है कि वह देश, जाति, समाज, राष्ट्र का कल्याण करनेवाली सत्ता (शक्ति) को सम्बोधित कर रहा है। लोक-जीवन के उत्कर्ष और उद्धार की प्रेरणा से कवि उद्‌बोधनात्मक कविता लिखते थे— उनकी ईश्वर-प्रार्थना भी आत्महिताय न होकर लोकहिताय है। ईश्वर एक सामाजिक तत्त्व के रूप में पहली बार प्रतिष्ठित होता है। गिरिधर शर्मा ने 'ईश्वर स्तुति' का अंतिम उच्चार इन शब्दों में किया—

भारत को तू दे वह विक्रम,
जिससे यह हो यह पुन: पूज्यतम।

'प्रार्थना पञ्चदशी' नामक सशक्त स्तुति में श्री मैथिलीशरण गुप्त काली से नव जाग्रत देश जाति के लिए सद्‌गुणों की याचना करते हैं।[1]

ईश्वर अब मानव के जीवन में सहायक हो जाता है। कवि ईश्वर का 'ध्यान' भी प्राचीन भवसागर तरने की भावना से नहीं करता, आत्मभाव की प्रेरणा के लिए करता है—

तुझसे, नाथ पाकर हाथ
नर भव-सागर भी तरता है।
मेरा चित्त सौख्य निमित्त
तेरा ध्यान नहीं धरता है।
पूर्णाकार — तुझे विचार
पूजा-भाव पर ही मरता है।

---

१ देखिए पीछे पृष्ठ ८६

पुरुषोद्योग सब सुख भोग
दे देकर सब कुछ हरना है।
पर परमेश! निभृत निवेश!
आत्म-भाव तू ही भरता है।
(ध्यान : मैथिलीशरण गुप्त)

स्पष्ट किया जा चुका है अब हम ईश्वर का ईश्वरत्व मानव में ही देखना चाहते हैं। कवियों ने भी उसे मानवत्व दे दिया है।

श्री हरिऔध ने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है वह मानव का ही है। अधिक से अधिक उसे सर्वश्रेष्ठ मानव या महामानव का प्रतीक मान सकते हैं।

राम और कृष्ण का भी ईश्वरत्व इस काल में छिन गया है (मैथिली-शरण गुप्त एक ऐसे अपवाद हैं जो राम को, तुलसी की भाँति ब्रह्म या परमेश्वर का 'अवतार' मानते हैं)। पर अब एक और परिवर्तन हुआ :

रवीन्द्र की छाया में—

जून १९१३ की, "सरस्वती" में रवीन्द्रनाथ को विदेशों में आदर-प्रतिष्ठा मिलने की और दिसम्बर १३ की "सरस्वती" में रवीन्द्रनाथ को नोबुल पुरस्कार मिलने की सूचना-टिप्पणियाँ हैं। दिसम्बर-अंक में रवीन्द्रनाथ की विचारपति[१] कहानी छायानुवादित है। यद्यपि इससे पूर्व भी रवीन्द्रनाथ की कई कहानियाँ हिन्दी में अनुवादित होकर "सरस्वती" द्वारा प्रकाशित हो चुकी थीं। 'सरस्वती' के कवियों और लेखकों में से कई बंगला के ज्ञाता थे और रवींद्र-साहित्य के रसज्ञ भी। उनके द्वारा हिन्दी को यह देन मिल रही थी। 'आँख की किरकिरी' का रूपनारायण पांडेय ने इन्हीं दिनों अनुवाद किया था। इसके साथ ही—'पड़ोसिन' आदिकहानियाँ पारसनाथसिंह ने अनूदित कीं।

उस समय मैथिलीबाबू 'स्वर्गीय संगीत' का उद्बोधक राग सुनाते हुए 'वीरांगना' (वंग-काव्य) को हिन्दी में रूपान्तरित करते हुए 'भारत भारती' के वस्तु-जीवन स्पर्शी खण्ड क्रमश: उद्घाटित कर रहे थे, सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य-

१. अनुवादक : दुर्गाप्रसाद खेतान

विजय' तथा रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित-चिन्तामणि' को प्रारम्भ किदा था।

हरिऔध जी ने 'उर्मिला' लघुप्रबन्ध में उस उपेक्षिता के प्रति करुणा की कुछ बूँदें प्रवाहित कीं थीं और अपने 'दिल के फफोले' दिखाये थे। तब रामचरित उपाध्याय 'सपूत और कपूत' 'मेघ के गुण और दोष' जैसी अन्योक्तियाँ भी रच रहे थे तथा गोपालशरणसिंह 'गली में पड़ा हुआ रत्न' (जून १९१४) दिखा रहे थे। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' 'दहेज की कुप्रथा' (अगस्त १९१४) की ओर आँगली उठा रहे थे और 'मातृभाषा की महत्ता' (जनवरी १९१५), 'देहातियों की शिक्षा' (मई १९१५), 'पतन और उत्थान' (अगस्त १९१५) की ओर ध्यान दिला रहे थे। गोपालशरण सिंह 'भारतीय विद्यार्थियों के कर्त्तव्य' (फरवरी १९१५), और कामता प्रसाद गुरु 'दुर्गावती' (फरवरी १९१५) आख्यान के रूप में प्राचीन परिपाटी का पालन कर रहे थे।

ऐसे समय में रवीन्द्रनाथ का संसार भर में सम्मान हुआ और उनकी प्रसिद्ध कृति 'गीतांजलि' को प्रतिष्ठा मिली। हिन्दी के लेखकों तथा कवियों में से कई बंग-साहित्य से पूर्ण परिचित थे और कई उससे रस ग्रहण करते थे।

फल यह हुआ कि हिंदी में रवीन्द्र की 'गीतांजलि' की धूम मच गई। राय-कृष्णदास के शब्दों में साहित्य में सन् १९१२ से १६ तक को हम 'गीतांजलि' की धूम का युग, कह सकते हैं।[1] उससे भारत के कितने ही साहित्यिक प्रभावित हुए। ये प्रभावित होनेवाले कवि हैं—मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, राय कृष्णदास, मुकुटधर पाण्डेय, गिरिधर शर्मा, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा सुमित्रानन्दन पंत और जयशंकर प्रसाद भी। १९१५ में 'गीतांजलि' (अंग्रेजी) के गीतों का अनुवाद (गद्य) हो गया और 'प्रताप' प्रेस से 'हिन्दी गीतांजलि' के रूप में वह प्रकाशित हो गया। श्री 'सनेही' ने 'प्रताप' में उसके कई गीतों का कविता में रूपांतर किया।[2]

'गीतांजलि' की कवितायें भक्ति-भावना पूर्ण हैं। यह भावधारा प्राचीन भक्त कवियों से कुछ भिन्न है। यह तो ठीक है कि उन्होंने भी भारतेन्दु की भाँति वैष्णव (कृष्ण) भक्ति के गीत लिखे थे और वे 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' में प्राचीन वैष्णव भक्त कवि के रूप में ही ग्रहीत किये गये परन्तु

१ आस्वाद' (संचयन) : मैथिलीशरण की भूमिका
२ दे० राष्ट्रीय-वीणा [१] प्रताप प्रेस, कानपुर

उनमें ब्राह्म-समाज की भक्ति के आध्यात्मिक-करण वाली भाव-धारा का संस्कार था इसलिए उनके—

'मरण रे, तुहुं मम श्याम समान'।[1]

की भावना-दिशा रूढ़िवादी भक्ति से भिन्न रही। 'गीतांजलि' में भक्ति-भावना के गीत हैं परन्तु वह भक्ति मानसिक बौद्धिक या आध्यात्मिक है। आचारिक नहीं। वह शुष्क साधना से अधिक एक मर्म अनुभूति है।

'गीतांजलि' में भक्ति के रूढ़ स्वरूप पर आघात है उसका नवीन भक्ति भाव जड़ उपासना से विद्रोह करता है। यह ब्राह्म-समाज का संस्कार था।

('कर्मयोग' और मानव-सेवा)

मन्दिर के प्रकोष्ठ में अन्धकार में एकान्त में चुपचाप माला फेरते हुए पुजारी से रवीन्द्र ने भर्त्सना के स्वर में कहा—

भजन पूजन साधन आराधना समस्त थाक् प'ड़े।
रुद्धद्वारे देवालयेर कोणे केन आछिस् ओरे।

अंधकारे लुकिये आपन् मने
काहारे तुइ पूजिस संगोपने
नयन मेले देख देखि तुइ चेये
देवता नाइ घरे।[2]

"अरे तू भजन पूजन, साधन-आराधन सब रहने दे! पुजारी, तू मन्दिर के द्वार बन्द किये, उसके कोने में अपने मन के एकान्त अन्धकार में चुपचाप किस की पूजा कर रहा है? अरे, आँखें खोलकर देख तेरा देवता (भगवान्) वहाँ नहीं है।

इस क्रान्ति-भावना की प्रतिष्ठा भक्ति में सबसे पहिले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ही की थी। उन्होंने पुजारी से कहा—वह देवता मन्दिर में नहीं है, अरे वह तो वहाँ गया है, जहाँ किसान धरती को जोत रहा है और जहाँ श्रमिक पत्थर तोड़ रहा है —

तिन गेछेन जेथाय माटिभेङे करछे चाषाचाष।
पाथरभेङे काट्छे जेथाय पथ खाट्छे बारोमास।[2]

१ 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' : २ गीतांजलि (बंगला)

"वह तो वहाँ गया है जहाँ कृषक धरती पर हल चलाकर मिट्टी तोड़ रहा है और जहाँ श्रमिक सड़क के पत्थर चूर चूर कर रहा है बारह मास !"

इसी गीत में कवि ने मुक्ति की भी नवीन व्याख्या की है, नया दर्शन दिया है—

"मुक्ति ? अरे मुक्ति है कहाँ ? मुक्ति तुझे कहाँ मिलेगी ?"

"अपना प्रभु स्वयं ही सृष्टि के बंधन स्वीकार करके सब के साथ बँधा हुआ है।...अरे तू भी अपने पवित्र वस्त्र छोड़कर उसी प्रभु की भाँति कर्म-पथ आ जा और उसके साथ कर्मयोग में लीन होकर स्वेच्छदल बहा !"

मुक्ति ? ओरे मुक्ति कोथाय पाबि ?
　　　　मुक्ति कोथाय आछे ?
आपनि प्रभु सृष्टि बाँधन प'रे,
　　　　बाँधा सबार काछे !
राखो रे ध्यान, थाक् रे फूलेर डालि,
　　　　छिंडुक् वस्त्र, लागुक् धूलाबालि।
कर्मयोगे ताँर साथे एक हये,
　　　　घर्म्म पड़ुक् झरे ॥

(गीतांजलि : ११६)

रूढ़िवादी भजन, पूजन, साधन, आराधन आदि बाह्याचार के विरुद्ध आर्य-समाज ने भी क्रांति की थी और ब्रह्म-समाज ने भी। रवीन्द्रनाथ ने ईश्वर का ईश्वरत्व मानव में ही देखा और मानव-पूजा ही ईश्वर-पूजा के समान पवित्र वस्तु हो गई। मानव भी समाज का शोषित-पीड़ित वर्ग श्रम-जीवी ! सामान्य श्रमजीवी में ईश्वर का दर्शन आध्यात्मिक जगत् में भक्ति के दर्शन में महा क्रांति थी। इस प्रकार ईश्वर सामान्य मानव के रूप में अधिष्ठित हुआ। 'गीताञ्जलि' के ही एक दूसरे गीत में रवि ठाकुर ने उसका दर्शन संसार के अधमातिअधम, दीनातिदीन सर्वहारा-जन (अंग्रेजी में

the poorest, lowliest and lost) में अपने चरण रखते हुए, उनके साथ रिक्तभूषण और दीन-दरिद्र वेश में चलते हुए किया है—

अहंकार तो पाय नागाल जेथाय तुमि फेरो
रिक्तभूषण दीन दरिद्र साजे।

भारतीय धर्म-ग्रन्थों (Scriptures) में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र को ब्रह्म का उत्तमांग, बाहु, उदर और उरू (अथवा चरण) के आलंकारिक रूप में माना है—सर्वहारा जनगण वस्तुतः समाज के चरण ही हैं अतः वे विश्वात्मा के चरण हैं ! उन्हें स्पर्श करने के लिए यह अभिमानी मनुष्य शिर तक नहीं झुकाना चाहता—

'जेथाय थाके सबार अधम दीनेर ह'ते दीन,
सेइखाने जे चरण तोमार राजे।
सबार पीछे सबार नीचे
सबहारादेर माझे।"

हिन्दी कवियों ने उपासना के इस मानववादी स्वरूप को भावना में प्रतिष्ठित करके राशि-राशि अभिव्यक्तियाँ की होंगी। 'प्रसाद' ने इसी स्वर में कहा—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ?
डरा है तू निज पापों से
इसीसे करता निज अपमान !
दुखी पर करुणा क्षणभर हो
प्रार्थना पहरों के बदले
मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तब सम्मान।
(आदेश : 'झरना')

कवि मैथिलीशरण ने भी मानव मात्र में विशेषतः दीन-दुखी, अपंग-अपाहिज प्राणियों में उसी परमाराध्य के दर्शन किये और इस प्रकार उनके प्रति प्रेम और सेवा को ही ईश्वर-भक्ति के रूप में व्यंजित किया—

गलितांगों का गंध लगाये
आया फिर तू अलख जगाये

हट कर मैंने तुम्हें हटाया,
बार बार तू आया !

('स्वयमागत')

यह कर्मयोग और मानव-सेवा की प्रतिष्ठा भक्ति का नवीन उत्थान है। नवीन मानवता, नयी सामाजिकता की आत्मा भक्ति को इस प्रकार मिली। विवेकानन्द का दर्शन इसमें था ही; इसी समय गीता के कर्मयोग से इसका संगम हो गया।

रवीन्द्र के लिए ईश्वर की संसार से पृथक् सत्ता नहीं है। विवेकानन्द के मतानुसार वह विश्व में ही अधिष्ठित है। वह मानव में ही समाया हुआ है। मानव ही ईश्वर है; अतः मानव-सेवा ही ईश्वर भक्ति है। वह भावना पश्चिम में भी मिलती है। 'अबू बिन अद्म' नामक कविता का मूल स्वर मानव-प्रेम ही है।

रवीन्द्र ने एक गीत में ('नैवेद्य' में) ईश्वर का यह नया दर्शन दिया। "वैराग्य साधन से मुक्ति ? अरे वह मेरी नहीं है ! मैं तो विश्व के असंख्य बन्धनों में ही मुक्ति का स्वाद पालूँगा।"

'गीतांजलि' और 'नैवेद्य' की इन्हीं भावनाओं की पूर्ण प्रतिष्ठा आधुनिक भक्ति-परक कविताओं में हुई यह हम देखेंगे।

रवीन्द्र-काव्य में भक्ति की इस नवीन धारा की गंगा के साथ प्रेम की यमुना का भी संगम है। 'प्रेम' जो परोक्ष सत्ता के प्रति हो भक्ति का ही एक रूप कहा जा सकता है। भक्ति के अनेक प्रकारों में एक सख्यभाव की भक्ति भी है। सूर की भक्ति इसी प्रकार की कही जाती है। उसमें भगवान् भक्त के समकक्ष होता है। आदर-श्रद्धा का भाव जब मिट जाता है और निकटता आ जाती है तो वही प्रेम में पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार प्रेम से इसका विरोध नहीं।

एक भक्ति और है माधुर्य भाव की, जिसे मीरा में हम देखते हैं। यहाँ मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की मानकर हम चलते हैं। उसमें भक्त (भक्तिन बन कर) अपने आराध्य को प्रियतम मानता है: इसीका प्रतीप है सूफियों का प्रेम जिसमें ईश्वर की स्त्री रूप में कल्पना की जाती है। इसे फारसी कविता में इश्क हक़ीक़ी की संज्ञा मिली है। यह हिन्दी में आध्यात्मिक प्रेम है।

रवीन्द्रनाथ की कविता में इस प्रकार के प्रेम का गहरा पुट है। कवि ने अनेक अनुभूतियाँ इनके पृथक् पृथक् या संश्लिष्ट प्रभाव में कीं और 'गीतांजलि' में प्रस्तुत किया। ऐसी दिव्य-रति की अनुभूतियों में लौकिक प्रेम-प्रणय की भाषा में कई चित्र थे। आलम्बन अलौकिक और अरूप होने के कारण इनमें एक प्रकार की रहस्यात्मकता थी। इसी के कारण उन्हें अंग्रेज़ी विद्वानों ने 'मिस्टिक' और 'गीतांजलि' को 'रहस्यवादी-काव्य' कहा।[1]

श्री मैथिलीशरण गुप्त की भावना इससे प्रभावित हुई और उन्होंने 'अनुरोध', (१९१२), 'यात्री' (१९१७), 'दूती' (१८) 'खेल' (१८), 'स्वयंमागत' (१८) आदि गीत उन्होंने रवीन्द्र की छाया में ही लिखे।

राय कृष्णदास के गीत 'खुलाद्वार' (१९१६) 'सम्बन्ध' (१६) 'शुभकाल' (१७) 'अहो भाग्य' (१९१७) और मुकुटधर पांडेय के 'विश्व बोध' (१७) 'रूप का जादू' (१८) 'मर्दित मान' (१८) और बदरीनाथ भट्ट तथा सियाराम शरण गुप्त के कई गीत ऐसे हैं जिनमें रहस्य की हल्की-गहरी छाया है। ये १३ से १८ तक प्रकट हुए थे।

रवीन्द्र द्वारा प्रभावित भावधारा के गीत श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'झंकार' में हैं। यह स्मरणीय है कि झंकार वीणा पर उठती है और वीणा हृदय का प्रतीक बन चुकी थी। गुप्तजी के 'झंकार' के गीत स्फुट रूप में 'सरस्वती' आदि में आये—पुनर्जन्म, देना लेना, दूती, पुनरुज्जीवित, यथेष्टदान, बार-बार तू आया, स्वयमागत। इनमें रहस्य-भावना भक्ति के ही क्रोड़ में है, इसीलिए इसे भक्ति-मूलक रहस्यवाद कहा जा सकता है। इनमें कवि अपने अंतर्यामी को श्रद्धा और समर्पण के स्वर में सम्बोधित करता है अपने एकान्त प्रियतम को नहीं। यह विशेष उल्लेखनीय है। 'प्रभु की प्राप्ति' आदि कवितायें इस कथन की साक्षी हैं। वस्तुतः उनका आराध्य भारतीय उपनिषदों का सगुण-साकार ब्रह्म ही है। वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के उपासक हैं। इसी साकार सर्वव्यापी ब्रह्म की भक्ति-भावना से अनुप्राणित उनके रहस्य-गीत हैं। गुप्त जी की मूल भावधारा भक्ति-प्रधान ही है। वे एक गीत में संकेत से संसार के विभिन्न भक्ति-मार्गों का इंगित करते हैं—

1"We go for a like voice to St. Francis and to William Blake who have been so alien in our violent history"

—W. B. yearts. (Introduction to Gitanjali)

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किस से हो कर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है,
कैसे भीतर आऊँ मैं ?

परन्तु अंत में उनका भक्त मन उदास हो उठता है—

बीत चुकी है बेला सारी ।
आई किन्तु न मेरी बारी ।

पर यह क्या ?—

कुटी खोल भीतर आता हूँ ;
तो वैसा ही रह जाता हूँ !
तुझको यह कहते पाता हूँ—
'अतिथि, कहो क्या लाऊँ मैं ?'

(स्वयमागत : सरस्वती : नवम्बर १९१८)

इस प्रकार भक्त के अन्तस् में ही उस परमाराध्य को पाने की वह अनुभूति कबीर के निर्गुण मत के ही अनुसार है । गुप्तजी वैष्णव हैं इसीलिए वे पूर्णतया 'रहस्य' के उपासक न हो सके । उनका 'ब्रह्म' कहीं 'राम' है, कहीं 'भगवान्', कहीं 'प्रभु' और 'नाथ' का सम्बोधन है । कवि कभी अपने आराध्य से आँख मिचौनी का 'खेल' खेलता है—

ध्यान न था कि राह में क्या है,
काँटा-कंकड ढोंका-ढेला ।
तू भागा मैं चला पकड़ने,
तू मुझ से, मैं तुझसे खेला ।
यदि तू कभी हाथ भी आया ।
तो छूने पर निकली छाया ॥
हे भगवान् यह कैसी माया ?

(खेल : सरस्वती : अक्टूबर १९१८)

इसी प्रकार रवीन्द्र की मुक्ति और बन्धन की धारणा के स्वर में वे कहते हैं—

सखे, मेरे बन्धन मत खोल,
आप बन्ध्य हूँ आप खुलूँ मैं।
तू न बीच में बोल !

(बन्धन)

रवीन्द्र ने मरण को दूती के समान माना है क्योंकि वह परोक्ष प्रियतम की संदेशवाहिनी है और इस पार्थिव प्रणयिनी आत्मा को आध्यात्मिक प्रियतम से मिलाती है। 'गीतांजलि' के गीत के स्वर में ही गुप्त जी का गीत है—

दूती ! बैठी हूँ सज कर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से,
धाम-धरा-धन सब तज कर मैं !

('दूती')

यों इसमें कबीर की भी छाया है। परन्तु कबीर और रवीन्द्र में भेद ही क्या था ? दोनों प्रेमवादी भक्ति के भावक थे।

'गीतांजलि' में कई गीत भक्ति-मूलक हैं परन्तु दार्शनिक तथ्यों की व्यंजना भी करते हैं। इसी प्रकार एक गीत (हाट) में गुप्त जी ने लिखा—

धन दे कर मन कभी न लेना,
इस में धोखा खाओगे।
पाओगे तब उसको मन के,
बदले ही तुम पाओगे।
मैंने मन दे कर मन पाया।
हाँ, मैं हाट देख आया॥

(सरस्वती ; नवम्बर १९१७)

पंत जी के 'झंकार' के सभी गीतों में भक्ति का हृदय, किन्तु रहस्य की भाषा है।

राय कृष्णदास के हृदय पर भी रवीन्द्र का सम्मोहन है। उनकी 'साधना' तो हिन्दी की 'गीतांजलि' ही कही जा सकती है; परन्तु यहाँ हम कविता की समीक्षा करेंगे। इनकी भक्ति-भावना भी गुप्त जी की भाँति वैष्णव-भाव पर अवलम्बित है पर रवीन्द्र की छाया भी कम नहीं। गिरिवर के वासी—झरने को प्राणेश्वर सागर का प्रेम-निमन्त्रण मिला है। यहाँ प्रकृति के प्रतीक से आत्मा-परमात्मा के प्रेम-संकेत की व्यंजना है :

क्या यह न्यौता तेरा है ?
प्रेम-निमन्त्रण मेरा है ?
इस की अवहेला क्या मुझ से,
हो सकती है भला कभी ?
गाओ सब मंगल गाओ।
सुमन-अञ्जली बरसाओ ॥
यह अति अहोभाग्य है मेरा,
हुई नाथ की कृपा तभी ।
सब कामों को छोड़ूँगा।
पर न यहाँ मुँह मोड़ूँगा ॥
क्योंकि चरण-सेवा तेरी है,
इस जीवन की साध सभी।
इच्छा के गिरि गिरा गिरा ।
कर निज मार्ग प्रशस्त निरा ॥
प्राणेश्वर के पद-पद्मों में,
पहुँचा बस मैं अभी अभी ॥
('शुभकाल')

इस भाव-धारा को भक्ति (नवीन भावात्मक अर्थ में) और रहस्य के सीमांत पर कहा जा सकता है।

जब 'भक्ति' इस प्रकार रवीन्द्र-चिन्ता से प्रभावित होने लगी तो उसका नव प्रस्फुटन हृदय की प्रेम-वृत्ति के रूप में होने लगा। गुप्त जी की "अनुरोध' कविता का उल्लेख किया जाचुका है। इसी प्रकार की प्रेम-प्ररक भक्ति की भावना में रामचरित उपाध्याय ने 'प्रौढ़ प्रेम' लिखा—

यथा नीर में क्षीर, क्षीर में दधि है जैसे,
घृत है दधि में यथा, आप मुझ में हैं वैसे।
यथा धरा में गंध, व्योम में नाद भरा है;
तथा आप में मेरा प्रेमस्वाद भरा है।
पर तो भी मैं हूँ आपका कभी न मेरे आप हैं।
ज्यों ऊर्मि उदधि का है सही, उदधि न ऊर्मि कलाप है।

इस प्रेम में आत्म-समर्पण का संकेत है—

मम नेत्र ओट होना नहीं हट कर कभी समीप से,
तुम हमें शलभ करना नहीं होकर निर्दय दीप से।
(प्रौढ़ प्रेम : रामचरित उपाध्याय)

श्री गोकुलचन्द्र शर्मा ने यह कविता 'गीतांजलि' की छाया पर लिखी है—

मुक्ति ! हाँ मुक्ति मुझे मिल जाय,
सिद्ध की युक्ति मुझे मिल जाय !
भजन पूजन आराधन में
योग जप-तप के साधन में,
देव - मंदिर के अर्चन में,
पूज्य प्रतिमा के चर्चन मे
मिला है मुझे न उचित उपाय
मुक्ति, हाँ मुक्ति मुझे मिल जाय।
(मुक्ति : गोकुलचन्द्र शर्मा)

मुकुटधर पांडेय ने भी अद्वैत का रहस्य हृदयंगम किया है—अणु-परमाणु (ज्ञान, योग, पूजा-पाठ आदि) में ब्रह्म (परमेश्वर) को खोजकर अन्त में कवि उसका रहस्य पा लेता है—

हुआ प्रकाश तमोमय मग में।
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
तेरा हुआ बोध पग - पग में,
खुला रहस्य महान् !

इस प्रकार इस भावना पर रहस्यात्मक छाया भी है और आध्यात्मिक उपासना का नवीन रूप भी—

रवीन्द्र के पुजारी को सम्बोधित किये गये गीत के ही अनुसार कवि कहता है—

दीन हीन के अश्रुनीर में,
पतितों की परिताप-पीर में,
सन्ध्या के चञ्चल समीर में
करता था तू ज्ञान।
सरल स्वभाव कृषक के दल में,
पतिव्रता रमणी के बल में,

श्रमसीकर से सिंचित धन में
संशय रहित भिक्षु के मन में
कवि के चिन्ता पूर्ण वचन में
तेरा मिला प्रमाण !

और भक्ति-बन्धन वाले गीत की भावना को ही अनुध्वनि में कवि कहता है—

देखा मैंने—यहीं मुक्ति थी;
यहीं भोग था; यही भुक्ति थी;
घर में ही सब योग-युक्ति थी,
घर ही था निर्वाण !
(विश्व-बोध)

'गीतांजलि' के 'निभृत प्रेम-पूर्ण गीतों के ही अनुरणन में यह कवि भी गाता है—

पाजाऊँ मैं तुमको जो फिर नाथ।
रक्खूँ उर में छिपा यत्न के साथ।
बिछा हृदय पर आसन मेरे आज
सजे तुम्हारे स्वागत के हैं साज।
गूँथ प्रेम के फूलों की नव माल
रक्खा मैंने पलक–पाँवड़े डाल।
(मर्दित मान : सरस्वती: नवम्बर १९१८)

मुकुटधर पांडेय का हृदय इस प्रकार अपने प्रियतम को समर्पित है। वह मन्दिर के कोण में तो नहीं परन्तु शून्यकक्ष में उसका नीरव अभिषेक करना चाहता है :—

शून्य काल में अथवा कोने ही में एक
करूँ तुम्हारा बैठ यहाँ नीरव अभिषेक
सुनो न तुम भी वह आवाज
नाथ, सताती मुझ को लाज !
(लज्जा : सरस्वती : अप्रैल १९२०)

रवीन्द्र की वीणा के स्वर भी इसी प्रकार के हैं—जिनमें शून्य स्थान में नीरव प्रेम अभिषेक की मधुचर्चा है।

'गीतांजलि' में दुःखवाद पर उन्होंने एक अच्छा समीक्षात्मक लेख लिखा था। 'गीतांजलि' की उस धारा में उन्होने अवगाहन किया था।

रवीन्द्रनाथ की भावना को प्राचीन अर्थ में भक्ति नहीं कह सकते; वह केवल अनन्य अनुरक्ति है, दिव्य रति है। वह प्रेम-प्रवण या प्रेम-परक है।

'प्रसाद' के इस समय के गीतों में एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने कविता में प्रेम की जो राशि-राशि अनुभूतियाँ कीं क्वचित् ही 'रहस्य' का संकेत करती हैं।

इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्रसाद की भी 'तुम' कविता वैदिक उपासना और भक्ति-भावना के उत्संग से उठी और सूफ़ी प्रेम-रहस्यवाद में जाकर पर्यवसित हो गई।

जीवन जगत के, विकास विश्ववेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो?
रमणीय आप महामोदमय धाम तो भी
रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो?

की ही भाव-शृंखला में कवि आगे कहता है—

सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरन्द सा अनूप है;
मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।
मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा, यह
'नहीं, नहीं' करना भी 'हाँ' का प्रतिरूप है;
घूँघट की ओट में छिपा है भला कैसे कभी
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है।

संकेतात्मक शैली में लिखी 'प्रसाद' की कविता 'रत्न' है—

"यह रत्न पथ में मिल गया था, किन्तु मैंने फिर यत्न न किया, न उसमें पहल बना था, न खराद चढ़ा रहा; (वह) स्वाभाविकता में छिपा (था), कलंक-विषाद न था। चमक थी, न तड़प की झोंक थी, केवल, मधु स्निग्धालोक रहा। मुझे मूल्य मालूम नहीं था किन्तु मन उसको चूम लेता।

उसे दिखाने के लिए हृदय कचोट उठता और सभय (कि) रुके रहते

कोई खोट न करे। बिना समझे ही मूल्य रख दे। जिस मणि के तुल्य कोई न था उसे अमोल जान करके भी फिर कौतूहल का तोल बढ़ा।

मन आग्रह करने लगा, दाम पूछने लगा, वह लोभी बेकाम आँकाने के लिए चला (परंतु) पहनकर व्यवहार नहीं किया, गले का हार नहीं बनाया।[१]

इसी प्रकार की कवितायें है 'कुछ नहीं', 'कसौटी', 'धूप का खेल' आदि इन कविताओं में विदग्ध प्रेम की अनुभूतियाँ है। ऐसी ही प्रेमानुभूति की कविताएँ उनके सांस्कृतिक नाटकों में भी हैं! प्रसाद की अभिस्थति उर्दू की सी थी परंतु 'प्रसाद' रवीन्द्र की भावना से प्रभावित हुए बिना न रहे। परोक्षानुभूति तो उन्हें भी हुई। यह स्पष्ट है कि यह प्रीति थी—'परोक्ष सत्ता के प्रति'। इसे 'परदेसी की प्रीति' प्रसाद जी के शब्दों में कहा जा सकता है :

परदेसी की प्रीति उपजती अनायास ही आय
नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूँ क्या हाय ?[२]

या 'दूर का प्रेम' कहें—

'न कर तू कभी दूर का प्रेम ![२]

इसी प्रकार एक गीत में वे लिखते हैं—

पर कैसी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे
हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे।[२]

श्री सियारामशरण ने रवीन्द्र के 'अयि भुवन मनमोहिनी' का रूपान्तर तो किया ही था; वे भी रवीन्द्र की भावना से पूर्ण प्रभावित थे :

आजि झड़ेर राते तोमार अभिसार
पराण सखा बन्धु हे आभार !

गीत 'गीताञ्जलि' का है। उसी का अनुवाद 'प्रेम विह्वल' सियारामशरण जी ने किया—

प्राण सखे ! इस वृष्टि निशा में आज तुम्हारा है अभिसार,[३]
इत्यादि।

सियारामशरण गुप्त ने इस प्रकार रवीन्द्र की छाया में कई रहस्यात्मक कविताएँ लिखीं। 'गीतांजलि' का एक गीत है।—

---

१. 'रत्न' (प्रसाद) २. बिन्दु (झरना : प्रसाद) ३. सरस्वती फरवरी १९२०

जीवन जखन शुकाय जाय करुणाधाराय एशो।
सकल माधुरी लुकाये जाय गीत सुधारसे एशो।

इसी छाया में इस कवि ने लिखा है—

जिस दिन तुम इस हृदय-कुञ्ज पर अकस्मात छा जाओगे,
करुणाधाराएँ बरसा कर सब सन्ताप बहाओगे।

(सन्तोष : सरस्वती मार्च १६१६)

इसी की प्रकार 'भेंट' आदि गीतों पर भी रवीन्द्र-विता की छाया है। उनकी बाद की कविताओं में भी 'गीतांजलि' की भावना की मुद्रा है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को भी रवीन्द्र से प्रभावित कवियों में विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऐसी कवितायें है रहस्य, अज्ञात आदि। 'रहस्य' में खद्योत से प्रश्न है—

अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो?
तुम खद्योत क्षुद्र हो, तब फिर क्यों तुम ऐसा दम भरते हो।

× × ×

नभ में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं जिसके कारण
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन!

इसको संकेतवादी कविता कह सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' का प्रभाव सुमित्रानन्दन पन्त की नवोदित कवि-भावना पर भी पड़ा है। उनकी प्रारंभिक काव्य-कृति 'वीणा' है जिसका नाम ही रहस्य की मुद्रा को सूचित करता है। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' का गीत है—

तोमार सोनार थालाय साजाब आज दुखेर अश्रु धार,
जननी गो गाँथब तोमार गलार मुक्ता-हार
तोमार बुके शोभा पावे आमार दुखेर अलंकार

पन्त ने भी 'विनय' ('पल्लव') में लिखा—

माँ मेरे जीवन की हार!
तेरा मञ्जुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार;
(मेरे सफल श्रमों का सार)

तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम जलमय मुक्तालंकार ।

इसे रचना-काल के अनुरोध से 'वीणा' में होना था । इसी प्रकार इस समय की उनकी रचना 'याचना' में रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का ही दान है—

(गीताञ्जलि) जीवन लये जतन करि
यदि सरल बांशि गड़ि,
आपन सुरे दिबे भरि सकल छिद्र तार

(वीणा) बना मधुर मेरा भाषण
वंशी-से ही करदे मेरे सरल प्राण औ' सरस वचन,
\+ \+ \+
रोम-रोम के छिद्रों से मा ! फूटे तेरा राग महन !

'वीणा' में कवि अपने प्राण-प्रिय के लीला-विलास पर मुग्ध होने लगा है—

अभी मैं बना रहा हूँ गीत
किया करते हो जो दिन-रात
प्राण-प्रिय होकर तुम विपरीत

अश्रु से एक एक लिख घात
बुझते हो प्रदीप बन बात,
निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

उनके उर के भीतर अधिष्ठित चिरसुन्दर अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि कर रहा है—

कौन हो तुम उर के भीतर
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?

यह स्मरणीय है कि रवीन्द्र के गीतों में सुन्दर ! सम्बोधन कई आये हैं—

'सुन्दर, तुमि एशेछिले आज प्राते'

रवीन्द्र की प्राण-वीणा की झंकृति भी सुनिए—

छवि की चपल अंगुलियों से छू मेरे हृत्तन्त्री के तार,
कौन आज यह मादक अस्फुट राग कर रहा है गुञ्जार ?

★

६ : 'प्रतीक' और 'संकेत'

'एकान्तवासी योगी' से लेकर 'प्रियप्रवास' और 'भारत-भारती' तक की 'भारती' की कविता में कविता की बाल्य से कैशोर्य के विकास तक की अवस्थायें आ चुकी थीं। वर्णनात्मक (इतिवृत्तात्मक) और उपदेशात्मक अवस्था का अतिक्रमण करती हुई जब नई कविता भावात्मक अवस्था में आ रही थी, तब अचानक उसमें यौवन का सहज गुरु-गाम्भीर्य और मदिर माधुर्य प्रस्फुटित हो गया। मानवी-बाला में कैशोर्य के अनन्तर जिस प्रकार यौवन का आगम अचानक उसके भीतर के चेतन को संवेदित और स्पंदित कर देता है कुछ उसी प्रकार कविता के प्राणों में भी ऐसा ही नव-स्पन्दन लक्षित हुआ।

जिस नई कविता को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और श्रीधर पाठक ने लालित-पालित किया और अपने स्नेह-वात्सल्य का पोषण दिया, अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध) और मैथिलीशरण गुप्त, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त और गिरिधर शर्मा, रूपनारायण पांडेय और लोचनप्रसाद पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरणसिंह, जयशंकर 'प्रसाद' और माखनलाल चतुर्वेदी, बदरीनाथ भट्ट और लाला भगवानदीन को काव्य-प्रतिभाओं ने उस कविता का समुचित संस्कार कर दिया था।

जीवन के दृश्यमान स्थूल विषयों पर शत-शत अभिव्यक्तियाँ हो चुकी थीं, बहिश्चक्षुओं से दिखाई देनेवाले पृथ्वी से लेकर आकाश तक के विषयों की अपरिमेय सूची समाप्त हो चुकी थी। देश और समाज के अंग-प्रत्यंग उसमें दिखाये जा चुके थे, प्रकृति के प्राणों तक का अनुसन्धान किया जा चुका था

और प्रेम जैसे सूक्ष्म तत्वों का निदर्शन और विवेचन हो चुका था। वस्तु-जीवन का समग्र प्रत्यक्ष पक्ष कवि के दृष्टि-पथ में आ चुका था और अज्ञात रहस्यमय प्रदेश में पदक्षेप करने के लिए कवि-प्रतिभा उत्सुक हो उठी थी और आवश्यकता पड़े तो अन्तश्चक्षुओं के खुलने का समय आ पहुंचा था। एक युग की साधना के पश्चात् द्विवेदी-काल की कविता इस समय (१९१४ के आसपास) संक्रमण की अवस्था में थी। एक दिशा में कविता की वह सब निधि थी, ऋजु और सरल स्पष्ट अभिव्यक्ति ही जिसकी प्रकृति थी, आदर्श-वाद और सन्देश-वाद ही जिसका हार्द था, पवित्र और उदात्त भाव और विचार ही जिसका आत्मन् था, मर्यादा और नियम-पालन ही जिसका धर्मानु-शासन था।

कविगणों की अगली पंक्ति में इस सब निधि के प्रहरी थे—श्री मैथिली-शरण गुप्त और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय।

दूसरी ओर श्री जयशंकर प्रसाद तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी स्वतंत्र मौलिक चेतना लेकर इसी पंक्ति में आ गये थे। श्रीधर पाठक और देवी प्रसाद 'पूर्ण' विश्राम और विराम ले रहे थे। 'सनेही' और 'शंकर', रामचरित उपाध्याय और लाला भगवानदीन क्लान्त-श्रान्त थे। पं० गिरिधर शर्मा, और कामता प्रसाद गुरु, रूपनारायण पाण्डेय और लोचनप्रसाद पाण्डेय, गोकुलचन्द्र शर्म्मा और लक्ष्मीधर वाजपेयी अपनी परिपाटी पर चल रहे थे। हिन्दी कविता के ये अग्रदूत और अग्रणी, प्रहरी और प्रचेता, वैतालिक और चारण, धीरे धीरे कर्मक्षेत्र के योद्धा और धर्मभूमि के यात्री बनते हुए थककर विश्राम के लिए विराम करनेवाले थे, तभी क्षितिज पर ऐसे नव-तारकों का आविर्भाव हो गया जो मर्म-लोक का आलोक अपनी दृष्टि में लेकर आये।

अबतक के कवि लोकभाषा के मुख में 'चींटी से लेकर हाथी-पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत' के वर्णन और इतिवृत्त दे चुके थे; भाषा में भी परिमार्जन हो गया था। अब आगे क्या? यह प्रश्न था।

राष्ट्रीय जागरण के ये कवि देश के लिए, लोक के लिए, समाज के लिए 'कविता' करते थे। वह कविता 'लोकहिताय', 'बहुजन हिताय' थी। इतिवृत्तात्मक यथार्थ और उपदेशात्मक आदर्श कविता के दो उपजीव्य थे। लोक-पक्ष का आलोचन कविता में पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था; परन्तु इस विपुला पृथ्वी और अनन्त सृष्टि में भौतिक, लौकिक-जीवन का स्थूल पार्श्व (वहिर्पक्ष)

ही सब कुछ नहीं है। चर्मचक्षुओं से अतीत और अगम्य, स्थूल दृष्टि से अस्पर्श्य, जीवन का सूक्ष्म पार्श्व (अन्तःपक्ष) भी है। यह अन्तर्जगत् देखने में जितना सूक्ष्म-अणुवत् है, उतना ही विराट् रूप है। वस्तुतः तो उसी के विराट्रूप में यह बहिर्जगत समाविष्ट है—ऐसा भी कह सकते हैं। इस अन्तर्जगत की ओर कवि ने कल्पना को प्रेरित-परिचालित नहीं किया था।

मनुष्य की आँख पलकें खोलकर जितने विशाल संसार को देखती है, उन्हें बन्द करके उससे भी अधिक व्यापक लोक-लोकान्तर में भ्रमण करती है। अब तक की कविता बहिर्जगत का ही दर्शन करती रही थी। वह अन्तर्जगत् जो अब तक उपेक्षित था अब अपनी अस्मिता को प्रकट कर रहा था। कवि-मानव का 'स्व' पक्ष अब चेतन हो उठा था।

कविता के वर्ण्य विषय से अभिव्यंजना-शैली का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहता है। वस्तु जगत् के समस्त स्थूल विषयों को कविता में वर्णित कर चुकने के अनन्तर ही कवि सूक्ष्म विषयों की ओर झुका। इस झुकाव को हम सहज मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के रूप में पाते हैं। "जब वर्णनात्मक अथवा वस्तुवृत्ति प्रधान (objective) रचनाओं का बाहुल्य हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया भावनात्मक अथवा भाव-प्रधान (subjective) रचनाओं के द्वारा हुए बिना नहीं रहती।"[१]

शताब्दियों से हिन्दी-कविता पर एक प्रकार की भौतिक दृष्टि का प्रभाव था। इसी भौतिक मुद्रा को हम युग और जीवन का प्रभाव कहते हैं। मध्य-युग के शृंगारिक काव्य में जो वासना-जन्य प्रेम अन्तर्भूत था, उसकी प्रतिक्रिया में आया भारतेन्दु-काल, जिसमें कवि-कलाकार की दृष्टि समाज की ओर भी गई। उसी की परिणति हुई द्विवेदी-काल में, जिसमें पार्थिव जगत् के सभी लोकोपयोगी विषय कविता के वर्ण्य बन गये और शास्त्र-विहित काव्य-परिपाटी में उनकी अभिव्यक्ति की गई। भाव और भाषा की जिस प्रकार वृद्धि-समृद्धि हुई यह आलोचित किया जा चुका है। 'रंग' और 'रूप' में पूर्ण क्रान्ति घटित हो चुकी थी, परन्तु 'रेखा' की नहीं। 'रेखा' से हमारा तात्पर्य उस अभिव्यक्ति-भंगिमा से है, जिसे शैली कहा जा सकता है।

'पर' पक्ष को सम्यक् रूप से आलोचित-पर्यालोचित कर चुकने के अनन्तर कवि-वृत्ति को उससे सहज विकर्षण होने लगा। 'स्व' पक्ष अर्थात् आत्म-जगत् (अन्तर्जगत) की पुकार इतनी उत्कट हो उठी कि कवि को उधर भी

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' : 'हरिऔध' द्वितीय संस्करण पृ० ५६१.

झाँकना पड़ा। इस अन्तर्जगत के मार्ग हिन्दी कविता में सहज-स्वाभाविक क्रम से खुलने लगे। इसी अन्तःप्रकृति की प्रक्रिया से कवि ने जग-जीवन के स्थूल पक्ष से विकर्षित होकर सूक्ष्म पक्ष की ओर दृष्टि डाली। इस प्रकार कवि-कल्पना या कवि-भावना का आलम्बन अब अन्तर्जगत की आत्मानुभूति (या स्वानुभूति) हो गई और आत्मगत (subjective) कविता का सूत्रपात हुआ। कविता में यहाँ आत्माभिव्यक्ति चिर-उपेक्षित थी।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने इस प्रतिक्रिया पर लिखा है—

"कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"[1]

आचार्य द्विवेदी इस स्वानुभूतिमयी कविता को प्रशस्ति न दे सके—यह भ्रांति यहाँ नहीं होनी चाहिए। वे कालिदास और रवीन्द्रनाथ के भाव-माधुर्य के प्रशंसक थे, पाश्चात्य, पौर्वात्य आत्मगत कविता के वे रसज्ञ-मर्मज्ञ थे। कवि के लिए आत्मानुभूति का क्या महत्त्व है?— यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए।

"अनेक प्रकार के विकार-तरंग उसके मन में उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इन का अनुभव कराने में समर्थ होता है।"[2]

कविता में उनका आग्रह कल्पना, भावना और अनुभूति पर रहता था, 'प्रतिभा' को प्रशस्ति देते हुए उन्होंने लिखा था—

(१) "इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं कवि कभी-कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।"[2]

कल्पना को वे प्रतिभा की ही उत्पत्ति मानते थे—

"जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा।"[2]

प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण को भी उन्होंने प्रशस्ति दी है—

---

१ "छायावाद"—महादेवी २ कवि और कविता—महावीरप्रसाद द्विवेदी

"जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।"

आत्मानुभूतिमयी कविता क्या इन उपकरणों से पृथक जा सकती है?

आलोचक प्रवर पं० रामचंद्र शुक्ल ने इस नई प्रवृत्ति को द्विवेदी-काल की प्रवृत्ति से भिन्न मानते हुए लिखा—

"द्विवेदीजी के प्रभाव से जिस प्रकार के गद्यवत् और इतिवृत्तात्मक (matter-of-fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लग रहा था उसके विरुद्ध प्रतिवर्तन (reaction) होना अवश्यम्भावी था।"[1]

आप्त पुरुष की भाँति उनका यह मत भले ही मान्य हो परंतु इतना संशोधन इसमें आवश्यक है कि यह 'प्रतिवर्तन' इतिवृत्तात्मक पद्यों के विरुद्ध नहीं था, यह प्रतिवर्तन वस्तुत: काव्य के विषय के विरुद्ध था। यह प्रतिवर्तन सहज विकास के रूप में आया।

कविता में वस्तु-प्रधानता सीमा तक पहुँच चुकी थी। जीवन के 'पर' पक्ष का अंकन और आलेखन उसने सांगोपांग रूप में कर लिया था : 'स्व' पक्ष उपेक्षित था। ऐसी कविता का प्राय: अभाव था जिसमें आत्मानुभूति प्रधान हो! कवि जिस वस्तु का वर्णन करता था, उसे प्रत्यक्ष-दर्शन की कसौटी के अनुसार, कविता कला की शास्त्र-निर्धारित बँधी हुई सीमा-रेखाओं में रहकर करता था। रस-पद्धति और अलंकार-विधान की निश्चित रीति का नियमानुशासन उसपर था। आचार्य द्विवेदी शास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। उनकी छत्रच्छाया में शास्त्र या लोक-व्यवहार से भिन्न स्वच्छन्दता दिखाना किसी कवि के लिए सम्भव नहीं था। पर वे उसके प्रति अनुदार न थे। वे रसज्ञ थे।

यहाँ थोड़ा विषयान्तर होते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि द्विवेदी वृत्त से बाहर के कवियों में यह सहज स्वच्छन्दता स्वत: प्रस्फुट हो गई थी। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' और 'एक भारतीय आत्मा' की भाव-प्रधान आत्मानुभूति-मयी कविताएँ (जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे) इसी दूसरी कोटि की प्रतीत होती हैं। उनकी इन भाव-प्रधान आत्मानुभूतिमयी कविताओं को आलोच्य काल की मूल धारा की विशेषता ही कहना होगा।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल

विद्वान् विचारक और काव्य-मर्मज्ञ श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने द्विवेदी जी के क्रोड़ में पालित-पोषित कविता को वृत्ति-प्रवृत्ति को दो शब्दों में सीमित किया 'पौराणिक युग की किसी घटना' (का बाह्यवर्णन) और 'देश विदेश की सुन्दरी' (का बाह्य वर्णन)। इन दो विषयों से कवि का इंगित पौराणिक आख्यानों और मानव रूप (शृंगार) के वर्णनों की ओर है। यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने प्रकृति और 'समाज-राष्ट्र' जैसे दो बड़े विषयों की उपेक्षित कर दिया है—ये दो विषय भी कविता के प्रधान वर्ण्य थे। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी......"[1]

अस्तु आत्मानुभूति अब कविता की प्रधान वृत्ति हो गई। अन्तर्जगत के आभ्यन्तर भाव सूक्ष्म होते हैं; उनकी अभिव्यक्ति उतनी सरल-सुबोध और सुगम नहीं होती जितनी बहिर्जगत् के स्थूल भाव की। वस्तुत: उसके लिए भाषा भी गहन-गूढ़ हो जाती है। उस भाषा में आन्तरिक स्पर्श रहता है, अभिधा शक्ति वाली वाच्यार्थमयी भाषा वहाँ असमर्थ रह जाती है। अभी तक की भाषा का प्रधान गुण 'प्रासादिकता' ही थी। ऋजु-सरल अभिव्यक्ति और सुगम-सुबोध वाक्य-विन्यास उसके आवश्यक लक्षण थे। उसमें बांकम भंगिमा नहीं थी। अभिधा और लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों का सम्यक् विश्लेषण प्राचीनों ने किया था। उनका प्रचुर प्रयोग भी कविता में हुआ था। परंतु वह पूर्व जन्म की घटना की भाँति अज्ञात थी। इस युग की नई कविता को वह पूर्व जन्म की विशेषता विस्मृत थी।

भाषा की उन्नति के साथ कविता की उन्नति का और कविता में युग के भाव का प्रतिनिधित्व सिद्ध करते हुए द्विवेदी जी ने कविता का भविष्य भी अब देखा था। उपदेश और मनोरंजन को कविता का कर्म बतानेवाले द्विवेदी जी की ही लेखनी अब लिख रही थी :

(१) "कवि को अनुकरण न करना चाहिए कोई नई बात पैदा करनी चाहिए।"

यह क्रान्ति का संकेत है।

(२) "आदर्श तो बदलते ही हैं, विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं।"

---

१ यथार्थवाद और छायावाद : काव्य और कला''' —प्रसाद

यह विषय बदलने का संकेत है।

(३) "कवि किसी भी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्यों ही वह अपने सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध करता है अथवा वर्ड्स्वर्थ या ड्राइडन के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्यों ही वह कवि के उच्च आसन से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से तो वह गान उद्गत होना चाहिए जिससे समस्त मानवजाति की हृत्तन्त्री में विश्व-वेदना का स्वर बज उठे।"[1]

और कविता का विकास दिखाते हुए उन्होंने यह आत्मानुभूति की ओर मुड़ने का इंगित देते हुए लिखा :—

"बाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है। भविष्य कवि का लक्ष्य इधर ही होगा।"[1]

यही नहीं उन्होंने तो 'प्रगतिशील' कविता की भी कल्पना कर ली थी—

"अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था। × × × परन्तु अब वह क्षुद्रों को भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा।" × × "जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनन्त सौंदर्य से युक्त है।"[1]

कविता का धर्म आत्मरंजन-आत्मदर्शन हो, अतः वह लौकिक घटना और लोक-दृश्यों का प्रत्यक्ष आकलन-आलेखन छोड़कर आत्मानुभूति की ओर मुड़ गई। बहिरंग से अन्तरंग की ओर उसकी दिशा होगई। कवि ने अन्तरंग को चित्रित करना आरंभ किया किन्तु बहिरंग की तूली से और कवि ने बहिरंग को देखा परंतु अपनी आभ्यन्तर आँखों से। आत्मानुभूति के क्षेत्र में उसकी सूक्ष्म दृष्टि को उतना ही विराट् और गहन जगत् (अन्तर्लोक) मिल गया, जितना जटिल और विशाल विश्व स्थूल दृष्टि को बाहर मिला था। कवि के अन्तश्चक्षु खुले थे, वह अन्तर्मुख था। आत्मा-

१. 'हिन्दी कविता का भविष्य' : सम्पादकीय : सरस्वती १९२०

नुभूति का माधुर्य इतना उत्कट और इतना अनिवर्चनीय था कि उसमें कवि के सारे साधन रंग-रूप-रेखा जुट गये।

जिस प्रकार आत्मा से प्रकृति को और शरीर को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आत्मानुभूति से अभिव्यक्ति को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। वस्तुतः आत्मानुभूति का जो नया स्वरूप इस अवस्था में प्रस्फुट हुआ वह अभिव्यक्ति की विचित्र भंगिमा के कारण ही। वाणी के साथ अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कवि ने अपने चिर-प्रयुक्त शब्दों में एक नई लाक्षणिक भंगिमा देकर उन्हें नया अर्थ दिया। यह शब्दों की कथा हुई।

संपूर्ण वाक्य-रचना में भी एक ऐसी भंगिमा कि जिससे व्यंजना और ध्वनि का समावेश हो जाता है, अर्थ की कान्ति को बढ़ा देती है। कवि 'प्रसाद' ने इस लावण्य (कांति) को ही छाया, विच्छित्ति के प्राक्तन नामों से विहित किया है—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवित' में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेयोरन्तःस्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता, विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।"[1]

आगे तो 'प्रसाद' जी ने इसे वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में समाविष्ट किया है। भाषा की यह लाक्षणिक भंगिमा तथा ध्वन्यात्मकता, आचार्यों के द्वारा आलोचित-विवेचित हो चुकी थीं। कवि 'प्रसाद' की दृष्टि में इसका पुनरुत्थान इस आत्मानुभूतिमयी कविता में हुआ।

श्री 'प्रसाद' इस प्रकार की लाक्षणिक भंगिमा और ध्वन्यात्मकता के अथवा उन्हीं के शब्दों में छाया (विच्छित्ति : लावण्य) के पुरस्कर्त्ता थे। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में हमें यह स्वानुभूति प्रस्फुट दिखाई देती है।

---

१ छायावाद : काव्य और कला...—'प्रसाद'

जब से तेरे लोचन-शायक, लगे हृदय पर वे मेरे,
चैन नहीं पड़ती है मुझको, बिना किये दर्शन तेरे।[1]
(प्रेम-पताका : सत्यशरण रतूड़ी)

श्री गोपालशरणसिंह की 'हृदय की वेदना' यों है—

सुरभित बहती है मोददायी समीर,
पुलकित करती है जो सभी का शरीर।
मगर यह न थोड़ा भी मुझे है सुहाती,
सचमुच दुखियों को है सुधा भी न भाती।[2]

एक शैली सूक्ष्म भाव के मानवीकरण की भी थी। कुछ नई प्रतिभा लेकर आनेवाले कवि मुकुटधर पांडेय ने 'हृदय' का मानवीकरण किया है :

प्यार की दो बात कहने के लिए,
जिस दुखी के पास है कोई नहीं।
पास उसके दौड़कर जाता हृदय,
और घण्टों बैठ रहता है वहीं।[3]

अन्योक्ति और प्रतीक

कवियों ने अन्योक्ति अलंकरण के द्वारा इस प्रकार की आत्मानुभूति पूर्ण व्यंजनाओं में बड़ा सहयोग लिया। अन्योक्ति की प्रत्येक कविता तो आत्मानुभूति की सीमा में नहीं आती। आत्मानुभूति के तत्त्व से अस्पृश्य रहकर भी अन्योक्ति की जाती है।

कवि का भाव-तादात्म्य जबतक वर्ण्य विषय से नहीं हो पाता तब तक आत्मानुभूति की व्यंजना नहीं आती। रूपनारायण पाण्डेय ने 'दलित कुसुम' पर अन्योक्ति करते हुए एक अकाल-काल-कवलित सन्तति पर अन्तर की तीव्र वेदना व्यक्त की—

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था।
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था।
दलित कर इसे तू काल क्या पा गया रे।
कणभर तुझ में क्या है नहीं हा ! दया रे॥

---

१ सरस्वती, अगस्त १९०५ २ सरस्वती, अप्रैल १९१५
३ „ मार्च १९१७

श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'नक्षत्र-निपात' कविता में भी इसी प्रकार की आन्तरिक वेदना मुखरित है :

जो स्वजनों के बीच चमकता था अभी।
आशापूर्वक जिसे देखते थे सभी।
होने को था अभी बहुत कुछ जो बड़ा।
हाय वही नक्षत्र अचानक खस पड़ा।
निशि का सारा शांत भाव हत होगया।
नभ के उर का एक रत्न सा खोगया।
आभा उसके अमल अन्तिमालोक की।
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की।।

('सरस्वती' : जून १६१४)

ऐसी कविताएँ अन्योक्ति की सीमा में आती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि में जो अन्तर्वेदना है वह नक्षत्र को देखकर फूट पड़ी है। प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत विषय (पदार्थ या घटना) भी कवि की भावना में रहता है और उसकी ओर वह केवल संकेत करता है। वह अनुभूति सीधी आत्मगत नहीं होती।

प्रस्तुत में अप्रस्तुत की योजना का मनोविज्ञान यह है कि जब कवि अपने मनोगत भाव या आवेग को व्यक्त करना चाहता है तो उसका आलम्बन खोजता है; कभी वह प्रकृति के चेतन रूपों और तत्त्वों में उसे मिल जाता है और कभी पृथ्वी के जड़ पदार्थों में।

कोई विषय या भाव ऐसा नहीं जो अन्योक्ति के माध्यम से अधिक प्रभाव के साथ ग्रहण न कराया जा सके।

अन्योक्ति से सामान्य उक्ति भी कितनी अधिक प्रभावशाली हो जाती है इसके अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं। श्री गुप्त की कविता का एक उदाहरण है :

भव-भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल, प्रणाम।[1]

इसे पढ़कर ऐसा व्यंजित होता है कि यह कविता केवल उस निर्जीव शाल वृक्ष को ही सम्बोधित नहीं है— वस्तुतः तो वह शाल-धर्मी प्रत्येक व्यक्ति को सम्बोधित है। वह किसी 'परहेतु-शरीर' मानव के प्रति है।

१ प्रणाम : सरस्वती : अगस्त १६२०

अन्योक्ति-पद्धति को इसीलिए प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने अपनाया है। अन्योक्ति विधान में वस्तुत: एक बड़ी शक्ति है और वह है व्यंजना; उसे हम ध्वनि भी कह सकते हैं। इसी ध्वनि का उपयोग कवि जब करता है तो कविता में एक आभा झलझला उठती है। अर्थ-गौरव भी बढ़ जाता है। इसके नये-नये प्रयोग इस काल में कवियों ने किये हैं। इसी का एक उत्कृष्ट रूप-प्रयोग है प्रतीक। 'प्रतीक' पद्धति का अनुशीलन हम आगे करेंगे।

अन्योक्ति सदा साम्य के आधार पर होती है। उपमेय और उपमान के बिना अन्योक्ति नहीं हो सकती। जब दोनों में क्रिया-व्यापार का एकीकरण हो जाता है तो अन्योक्ति की योजना हो सकती है। वस्तु का मुख्य धर्म ही बढ़कर उसका रूपक हो जाता है तो प्रतीक की योजना हो जाती है। प्रतीक वस्तुत: अप्रस्तुत की समग्र आत्मा या धर्म या गुण का समन्वित रूप लेकर आने वाले प्रस्तुत का नाम है। यह रूपक से भी थोड़ा भिन्न है। 'रूपक' में रूप-साम्य के साथ प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों होना अनिवार्य हैं। रूपक से भी बिम्ब-ग्रहण होता है — दृगिन्द्रिय के सन्निकर्ष और माध्यम द्वारा; परन्तु 'प्रतीक' तो अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार ही है।

जीवन के किस क्षेत्र में 'प्रतीक' का प्रयोग नहीं हो सकता? लौकिक जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पार्श्व हैं। आत्मिक जीवन के दार्शनिक, आध्यात्मिक पार्श्व हैं। जहाँ प्रतीक से राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हो वहाँ 'राष्ट्रीय प्रतीकवाद' होगा, जहाँ प्रेम, करुणा, आशा, अभिलाषा, आकांक्षा आदि वेदनाओं की आन्तरिक अनुभूति साध्य हो वहाँ 'भावात्मक प्रतीकवाद' होगा। जहाँ दार्शनिक चिंतन अभिप्रेत हो वहाँ 'दार्शनिक प्रतीकवाद' होगा और जहाँ अध्यात्म-चिंतन अभिप्रेत हो वहाँ 'आध्यात्मिक प्रतीकवाद' होगा। दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रतीकवाद अतीन्द्रिय तत्त्व होने के कारण 'संकेतवाद' भी कहे जा सकते हैं। प्रकृतिगत प्रतीकवाद को 'छायावाद' के अंगभूत देखा जा सकता है। हम क्रम से इनके उदाहरण लें—

राष्ट्रीय प्रतीकवाद

राष्ट्रीय अनुभूति में कवियों ने राष्ट्रीय प्रतीकवाद का आविर्भाव किया। एक उदाहरण श्री 'एक भारतीय आत्मा' की कविता का है—

देश के वन्दनीय वसुदेव,
कष्ट में लें न किसी की ओट।
देवकी माताएँ हों साथ;
पदों पर जाऊँगा मैं लोट।
जहाँ तुम मेरे हित तैयार,
सहोगे कर्कश कारागार।
वहाँ बस मेरा होगा वास,
गर्भ का प्रियतर कारागार॥[1]

यहाँ वसुदेव, देवकी, कारागार आदि शब्द प्रतीक ही हैं।

महाभारत की पौराणिक गाथा में अक्रूर, जरासंध रणछोड़, दुःशासन और भारत (अर्जुन) का कर्तृत्व है। वही मूर्तिमान होकर आज कल की राष्ट्रीय कविता में प्रतीक बन जाता है—

१ नहीं सब दूर रहे अक्रूर, जरासंधों से उलझा काम,
बनेंगे विवश, विश्व के लिए, वीर 'रणछोड़' पलट कर नाम।
२ उधर वे दुःशासन के बन्धु युद्ध-भिक्षा की झोली हाथ,
इधर वे धर्म-बन्धु नय-सिन्धु, शस्त्र लो, कहते हैं दो साथ।[2]

ये प्रतीक इस प्रकार होंगे—

१ जरासंध : निन्दक वृत्ति के व्यक्ति
२ कंस : अत्याचारी राजा
३ दुःशासन के भाई : अंग्रेज जाति
४ धर्म के भाई : भारतीय नेता
५ शस्त्र न लेने का प्रण : अहिंसक नीति (निःशस्त्रता)
६ कृष्ण : मोहन
७ कंस का कारागार (कृष्ण का जन्मस्थल) : कारागार (जेल)

इस प्रकार के राष्ट्रीय प्रतीकवाद की योजना एक भारतीय आत्मा की राष्ट्रीय कविताओं में प्रचुर परिमाण में है।

१-२ जीवित जोश : एक भारतीय आत्मा

हृदयवाद

एकान्त-आन्तरिक-अनुभूति-प्रधान भावाभिव्यक्ति 'हृदयवाद' है। 'प्रतीक-वाद' इसमें सहयोगी हो जाता है।

'हृदयवाद' का मूल बीज खोजने के लिए तो भारतेन्दु के भाव-उपवन का अन्वेषण करना होगा। 'हृदय' की बात यों तो देव ने कही है, घनानन्द ने कही है, परन्तु 'भारतेन्दु' में उसका नवीन उन्मेष था :

१ बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी।
२ बैन हू अथान लागे, नैन कुम्हिलान लागे,
प्राननाथ आओ अब प्रान लागे मुरझान।

यह स्वर पूर्वोक्त ब्रजभाषा कवियों से कुछ नया अवश्य है। जयशंकर 'प्रसाद' ने इस काल में हृदय की आन्तरिक अनुभूतियों को प्रकृति के प्रतीकों से अभिव्यक्त या व्यंजित किया। 'झरना' का प्रतीक लेकर कवि अन्तर्भावना के उत्स की अभिव्यंजना करता है—

कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।

यह झरना प्रेम की पवित्र परछाईं में हो बहता है और उसमें लालसा की हरित विटपी की झाईं पड़ती है, और उसका उद्देश्य है तापमय जीवन को शीतलता देना :

प्रेम की पवित्र परछाईं में।
लालसा हरित विटपि झाईं में॥
वह चला झरना।
तापमय जीवन शीतल करना।

प्रेमी कवि के अन्तस् की मर्मवेदना इसमें छलक पड़ी है :

पिलाया तुमने कैसा तरल?
माँगा हो कर दीन,

कंठ सींचने के लिए,
गर्म झील का मीन।
निर्दय तुमने कर दिया,
सुना था तुम हो सुन्दर! सरल!

(सुधा में गरल)

और कहीं कवि के प्रेम की सचाई की घोषणा है :

तपा चुके हो विरह-वह्नि में
काम जँचाने का न इसे
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम,
तुमको शंका केवल है॥

(कसौटी)

उर्दू कविता के प्रेमवाद का भी 'प्रसाद' पर प्रभाव दिखाई दिया :

किसी पर मरना, यही तो दुख है।
उपेक्षा करना, मुझे भी सुख है।

और यह प्रेम आध्यात्मिक भंगिमा भी लिये हुए है—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह अलस जीवन सफल सब हो गया।
+ + +
इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा॥

(मिलन : झरना)

अभिव्यंजना की भंगिमा लौकिक से इसे पारलौकिक कर देती है। यही दूर का प्रेम है :

रे मन!
न कर तू कभी दूर का प्रेम!
निष्ठुर ही रहना अच्छा है,
यही करेगा क्षेम॥

(बिन्दु)

संकेतवाद

हृदयवाद के दार्शनिक और आध्यात्मिक पार्श्व को हम संकेत का नाम दे सकते हैं। यों वह संकेत प्रतीक में रहता ही है परन्तु अतीन्द्रिय परोक्ष सत्ता को अप्रस्तुत मानकर जब प्रतीक उसकी ओर इंगित करता हो तो उसे संकेत का नाम देना ही समुचित होगा।

श्री राय कृष्णदास ने दार्शनिक संकेत दिया है :

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?
तू पिंजरबद्ध चला होने,
बनने अपना ही आप काल !

(उद्बोधन : सरस्वती, नवम्बर १९१८)

कवि ने राजहंस से यहाँ आत्मा या जीव का संकेत किया है। यह पद-गीत प्रतीकवाद की व्यापक परिभाषा के भीतर आयेगा। दार्शनिक तथ्यों की व्यंजना करने की दृष्टि से इसे दार्शनिक संकेतवाद कहेंगे।

बदरीनाथ भट्ट मनुष्य और संसार के सम्बन्ध को तिनका और सागर के प्रतीकों से व्यजित करते हैं—

सागर में तिनका है बहता।
उछल रहा है लहरों के बल,
मैं हूँ, मैं हूँ, कहता ॥

(मनुष्य और संसार : सरस्वती, अक्टूबर १९४६)

यह संकेत केवल जीव या आत्मा की ओर है ब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर की ओर नहीं।

निराला जी ने 'अधिवास' कविता में आत्मा के चिरन्तन अधिवास का संकेत किया है—

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?

संसार में आकर किस प्रकार मानव-वेदना में आत्मा ओतप्रोत हो जाती है इसका भी संकेत है—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई।
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई।
उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय!
फँसा माया में हूँ निरुपाय,
कहो, फिर कैसे गति रुक जाय?

आत्मा की गति संसार में इसीलिए अनंत हो जाती है। परन्तु अधिवास छूटने का इसीलिए आत्मा को त्रास नहीं है--

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास!

(अधिवास : निराला)

आत्मानुभूतिमयी कविता और 'छायावाद'

इस संक्रमण-काल में स्वाभाविक मनौवैज्ञानिक प्रक्रिया के क्रम से यह भाव-भंगिमा अपरिहार्य होगई। अपनी अनुभूति को स्वर देने के लिए कवि ने भावाकुल भाषा की सृष्टि की। उसे ऐसी वाणी कल्पित और आविष्कृत करनी पड़ी जो आभ्यंतर ग्रन्थियों को खोल सके। आन्तरिक जिज्ञासा को रूप दे सके और संवेदन को मूर्त्त कर सके, इस प्रकार आत्म-मग्न कवि के अन्तर्मन की वेदना के सूक्ष्म संवेदन के वर्णन या चित्रण में प्रयुक्त यह गहन, गूढ़, विचित्र, संकेतात्मक अभिव्यक्ति दूसरों के लिए कुछ धूमिल और अस्पष्ट हो कर आई।

यह स्मरणीय है कि अन्तर्जगत के इस दर्शन में वहिर्जगत् नितान्त उपेक्षित नहीं हो गया। प्रकृति और मानव-सृष्टि के रम्य रूप-व्यापारों ने कवि को अपनी रहस्यमयता से आकर्षित और सम्मोहित किया। इस सम्मोहन को उसने अपनी गूढ़ भाषा में व्यक्त किया और एक संकेतात्मकता की सृष्टि की। बाह्य जगत् को अपने अन्तर्नयनों से देखते हुए जो छाया या प्रतिबिम्ब कवि के हृदय-दर्पण में पड़ता है कवि उसे जब कवितामें लाना चाहता है तो उसका आनन्द कभी कभी गूंगे के गुड़ की भाँति अकथ हो जाता है।

हिन्दी में यह प्रवृत्ति कुछ पीछे आई, इससे पूर्व पूर्व में बंगभाषा के कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ आत्मानुभूति-परक कविता की सृष्टि कर चुके थे; पश्चिम में अंग्रेजी रोमांटिक कवियों में यही प्रधान प्रवृत्ति थी। इनके अनुशीलन का भी प्रच्छन्न प्रभाव नये कवियों के मानस पर अवश्य पड़ा। इस प्रकार प्रभावित होकर हिन्दी की कविता ने अपनी अन्तर्मुखी साधना का आरम्भ किया।

इस अन्तर्मुखी कविता की कई विशेषताएँ हैं—

भाव-पक्ष

(१) आत्मानुभूति : जो उसकी आत्मा है,

(२) अन्तर्वेदना : जो उसका हृदय है। वेदना का अर्थ यहाँ एक प्रकार 'वेदन' है जो एक अतीन्द्रिय भावलोक में कवि के भावुक मन पर होता है। सुन्दर और अद्भुत के प्रति आकर्षण, प्रेम और करुणा की अतःस्पर्शिता इसमें लक्षित होती हैं। प्रकृति और दृश्यमान् विश्व के प्रति कवि की एक अन्तर्दृष्टि इसमें सजग हो जाती है।

कला-पक्ष

(३) लाक्षणिक भंगिमा : जो उसकी प्रकृति है, जो सरल से अधिक विचित्र है। धर्म-विपर्यय और प्रतीक-विधान इसके अंग हैं। प्रतीक-विधान इसका उपादान है, जिसमें मानवीभाव का समावेश हुआ है।

(४) चित्रभाषा और चित्र राग : जो उसकी वाणी है, अभिव्यक्ति है। ध्वन्यर्थव्यञ्जना का भी इसमें योग है।

'रहस्यवाद' : 'छायावाद'

आध्यात्मिक संकेतवाद : परोक्ष-दर्शन

पूर्व-कथित संकेतवादी अनेक गीत और कविताएँ सन् १३-१४ से हिंदी में प्रस्तुत होने लगे थे। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' (प्रकाशित १९१०) की संकेतवादी भाव-धारा इसमें कैसे तत्कालिक प्रेरणा बन गई इसका अनुशीलन हम आगे करना चाहते हैं।

१९१३ में 'गीतांजलि' पर विश्व-सम्मान मिला। उसकी भावधारा-चिन्ता-धारा वेग से हिन्दी में आने लगी। 'गीतांजलि' स्वानुभूतिमयी कविताओं से पूर्ण है। इसकी कई स्वानुभूतिमयी कवितायें किसी परोक्ष सत्ता के प्रति सम्बोधित हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'परब्रह्म' रवीन्द्र के इन गीतों का आराध्य वा परोक्ष प्रियतम है। उनकी भाषा में वह 'प्राणसखा बन्धु हे आधार !" है। कभी-कभी वह राजेश्वर, कभी देवता, कभी प्रियतम के मधुर सम्बोधन से संकेतित होता है, परन्तु 'ईश्वर' नहीं बनता।

आत्मा परमात्मा-विश्वात्मा की प्रेमिका प्रणयिनी-विरहिनी बनकर आती है परन्तु उसमें मिलनानुभूति भी है। स्वप्न, स्मृति, सन्देश, मिलन आदि सभी प्रेमानुभूतियाँ उसमें हैं। कल्पना में प्रियतम के प्रणय की मधु-चर्या होती है, जिसे कवि अपनी अनुभूति से कविता की कड़ियों में उतारता है। उस समय के चित्र सांकेतिक भाषा में होने के कारण अस्पष्ट, धूमिल और गुह्य होते हैं। इन्हें छायाभास (Phantasm) कहा जाता है। वे पार्थिव इन्द्रियों के लिए गुह्य, गोप्य या रहस्यमय होते हैं; इसीलिए रहस्य भी इनकी संज्ञा हो सकती है। अंग्रेज़ी के विद्वानों ने इन्हें मिस्टिक (या 'रहस्य') कहा है और इनकी समता सेंट फ्रांसिस और ब्लेक जैसे सन्तों और कवियों से की है। 'मिस्टिसिज्म' के रूपान्तर के रूप में रहस्यवाद और छायावाद दोनों ही शब्द प्रचलित हैं। बंगाल में ऐसी कविता को 'छायावाद' कहा गया परन्तु हिन्दी की इन गूढ़ार्थबोधिनी कविताओं की संज्ञा व्यंग्य से 'छायावाद' मानी गई।

कविता जब अन्तरात्मा की गहन-गूढ़ वेदना से उद्भूत होने लगी तो वस्तु-जगत अनुभावक के अन्तर्जगत् में रँग गया और एक ऐसी शब्दावली में कवि अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त करने लगा जिन्हें दूसरे 'अटपट' कहने लगे। इन अनुभूतियों की गहन-गूढ़ता को रूढ़िवादी या परम्परावादी समीक्षक यथेष्ट रूप में ग्रहण न कर सके और उसे प्रशस्ति न दे सके। अपनी सीधी-स्पष्ट प्रसाद-पूर्ण कविता के आगे वे छन्द-बन्ध-हीन अस्पष्ट (अटपट) और अगम्य रचनाओं को (अस्पष्टता के अर्थ में) 'छायावाद' कहने लगे। आचार्य द्विवेदी के कर्तृत्व काल में इस प्रकार की कविताओं का जन्म होने लगा और उस पर व्यंग्य और परिहास भी। किसी लेखक ने तो अलिखित पत्र को छायावादी कविता कहकर इसका उपहास किया था।

स्वयं द्विवेदी जी ऐसे छायावाद को आशीर्वाद न दे सके जो अस्पष्ट और अटपट था। उन्होंने लिखा—

"अंग्रेजी में एक शब्द है Mystic या Mystical। पंडित मथुराप्रसाद मिश्र ने अपने त्रैभाषिक कोष में उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवीन्द्रनाथ की वह नये ढंग की कविता इसी मिस्टिक शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थबोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। 'छायावाद' से लोगों का क्या मतलब है कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कवि के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद कहना चाहिए।"[1]

अस्पष्टता के कारण इन गूढ़ार्थविहारी कवियों की कविता को उन्होंने 'छायावाद' माना था यह स्पष्ट है :

"आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं—उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है जो देश-प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या "चलो वीर पटुआ खाली" की तरह की पंक्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के और गुण भले ही न हों पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती!"

छायावाद की अस्पष्टता

छायावाद में अस्पष्टता का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ तो प्रतीकवाद पर है। एक प्रतीकवाद के विधान में अस्पष्टता आने का पहला कारण यह होता है कि प्रतीक में जब प्रस्तुत अप्रयुक्त-अप्रचलित रहता है और उसकी परम्परा नहीं रहती, तब वह अपने अप्रस्तुत प्रतिरूप की ओर स्पष्ट इङ्गित नहीं कर सकता। केवल कवि ही उसका रहस्य जानता है और दूसरों के लिए उसकी भूमिका अज्ञात रह जाती है। हिन्दी की इस नई कविता के पास प्रतीकों की कोई परम्परा न थी अतः वे प्राचीनों को ग्राह्य न हुए। 'एक भारतीय

१ आजकल की हिन्दी कवि और कविता : महावीर प्रसाद द्विवेदी।

आत्मा' के कई गीत तो इसीलिए अगम्य हैं, परन्तु इसी कारण वे सब रहस्य-वाद नहीं बन जाते। रहस्यवाद के लिए आध्यात्मिक प्रतीकवाद अवश्य अपेक्षित है।

कवि की अभिव्यंजना-शैली नई थी। अन्तर्भाव और आत्मानुभूति के चित्रण में जब उसकी अन्तर्वेदना, जिज्ञासा और कल्पना, भावना और संवेदना नये-नये रंग लेकर झलकी, तो उसे ऋजु (सीधी सरल) अभिव्यक्ति न सँभाल सकी और उसको उसके अनुरूप रंग-रूप देने के लिए वक्र-बंकिम व्यंजना, लाक्षणिक विचित्रतावाली चित्रवती भाषा में सहज ही एक प्रकार की दुर्बोधता और दुरूहता आ गई। इस प्रक्रिया का सामंजस्य छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा की इस उक्ति से देखा जा सकता है—

"मानव हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग चढ़ाकर न बनाये जायँ तो ये चित्र प्रेत-छाया के समान लगने लगें।"[1]

छायावाद को 'रहस्यवाद' (आध्यात्मिक प्रतीकवाद) के अर्थ में मानते हुए कवि मुकुटधर पांडेय ने कहा—

"वस्तुगत सौंदर्य और उसके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणा ही कविता की जड़ है। यहीं कविता से 'अव्यक्त' का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है जो कभी विच्छिन्न नहीं होती। इस रहस्यपूर्ण सौंदर्य-दर्शन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरंगें उठती हैं वे प्रायः कल्पनारूपी वायु-वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि याथार्थ्य की साहाय्य-प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता लिये होते हैं। इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम 'छायावाद' है।"[2]

'छायावाद' में वस्तुतः मानसिक भावात्मक प्रतीकवाद का विधान होता है। उसमें हृदय की नाना भावनाओं और अनुभूतियों को प्रकृति के अथवा दृश्य जगत् के दूसरे प्रतीकों द्वारा व्यंजित किया जाता है। तब कवि की अन्तर्वासना का वहिर्गत प्रतीक-प्रतिबिम्ब हो जाता है। उसमें कवि की आशा-निराशा व्यथा-वेदना, प्रेम-प्रणय की संश्लिष्ट भावनाओं की छाया डोलती रहती है। उनका प्रभाव (अनुभूति के रूप में ही) झलकता है और वह धूमिल हो जाता है। कम से कम वह दुर्गम्य रहता है।

---

१. "उन छाया चित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चित्रों की आवश्यकता होती है। कारण उन चित्रों का आधार छूने या चर्म चक्षु से देखने की वस्तु नहीं।"—महादेवी

२ मुकुटधर पांडेय [सरस्वती, दिसम्बर १९१२]

अब हम छायावाद की कविताओं पर विचार करना चाहते हैं जिससे 'रहस्यवाद' से उसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाय। उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें मुख्य 'हृदयवाद' है।

प्रेम और वासना

छायावाद का जगत् अन्तर्भावनाओं का जगत् है।

यह अमान्य नहीं किया जा सकता कि 'छायावाद' में प्रेमिक वृत्ति का भी प्रस्फुटन है। प्रेम वासना-रूप से मानव के अन्तस् में रहता है। आलोच्यकाल की पवित्रतावादी (Puritan) प्रवृत्ति में वह भावना कुछ कुण्ठित हो गई थी।

हरिऔध और मैथिलीशरण जैसे कवियों ने आख्यान-काव्यों में कुछ स्त्री-पुरुष चरित्रों के आश्रय-आलम्बनों के माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया। इसके पश्चात् वाली पीढ़ी के कवि के ऊपर पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान का आकर्षण न था, इसलिए उन्हें उसके लिए द्वार या मार्ग न मिल सका। प्रारम्भिक आत्मानुभूति की कविता में यह प्रेम सूक्ष्म वासना के रूप में मिलता है। चर्मचक्षु से दृश्यमान प्रकृति में कवि अपनी अभुक्त वासना की छाया देखता है। इसका एक उदाहरण है, 'जुही की कली'।

'एक भारतीय आत्मा' ने आत्मानुभूतिमयी कई कविताएँ आलोच्यकाल में लिखीं जिनमें परोक्ष प्रेम की तीव्रता भी है वे भी हृदयवाद की ही कोटि में आयेंगी—

चमक रहीं कलियाँ चुन लूँगी।
कलानाथ अपना कर लूँगी।
एक बार 'पी कहाँ' कहूँगी॥
देखूँगी अपने नैनन में।
उड़ने दे घनश्याम गगन में॥[1]

इसी प्रकार भक्ति के भाव-लोक में यह कविता है—

दुर्गम हृदयारण्य दण्डकारण्य घूम जा आजा।
मति भिल्ली के भाव बेर हों जूठे, भोग लगाजा॥

१ हिमतरंगिनी : १३ (१९१४)

मार पांच बटमार, साँवले रह तू पञ्चवटी में।
छिने प्राण प्रतिमा तेरी भी, काली पर्णकुटी में॥[1]

वह स्मरणीय है कि भक्ति के भावलोक में भी प्रतीक का बड़ा महत्त्व है। रवीन्द्र जैसे रहस्यवादी के गीतों में भी प्राणों में भक्ति, हृदय में प्रेम और मस्तिष्क में रहस्य है। 'निर्माल्य' के एक गीत में वे भगवान् से कहते हैं—

ओदेर साथे मेलाओ, यारा चराय तोमार धेनु।
तोमार नामे बाजाय यारा बेणु॥

— 'उनके साथ मुझे मिलाओ जो तुम्हारी धेनुएँ चराते हैं—तुम्हारे नाम की बेणु बजाया करते हैं।' इसीमें आगे वे कहते हैं—

एइ तो तोमार आलोक धेनु सूर्य-तारा दले-दले।
कोथाय बसे बाजाओ वेणु चराओ महा गगन तले॥
मोर जीवनेर राखाल, ओगा डाक देबे कि सन्ध्या होले।

—"सूर्य ताराओं का दल ही तुम्हारा आलोक धेनु-दल है! न जाने कहाँ बैठे बैठे तुम वंशी बजाते हुए उन्हें महाकाश में चराया करते हो।...क्या तुम सन्ध्या होते ही उनको पुकार लोगे, मेरे गोपाल!"

'एक भारतीय आत्मा' और रवीन्द्र की इन भावनाओं में कितनी तद्रूपता है। कवीन्द्र के लिए परोक्ष, प्रियतम आराध्य है। मैथिलीशरण की कविता में भी रवीन्द्र-चिन्ता की छाया देखी गई—

तप के पीछे सजल जलद सम बरसो विरह-विनाश करो।
सघन तिमिर में पथप्रदर्शक अपना प्रभा प्रकाश करो॥

और पदुमलाल पु० बख्शी की कविताओं में भी—

मुझ से भी तुम आज माँगते हो भिक्षा का दान।
× ×
भिक्षुक से भिक्षा लेकर तुम करते हो उपकार॥+
(पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

श्री मुकुटधर में प्रतिभा बड़ी द्रुतगति से प्रस्फुटित हुई थी। उनकी १९१७ की एक उद्गार कविता शिल्प विधान की दृष्टि से पूर्ण प्रगीत

---

१ अनुरोध (गुप्त, अप्रैल १९१५ + भिक्षुक का दान : अक्टूबर १९१६

(lyric) है। प्रगीत की पहली विशेषता 'आत्माभिव्यंजना' है। यह गीत आत्माभिव्यंजना-प्रधान, आत्मगत है—

मेरे जीवन की लघु तरणी !
आँखों के पानी में तर जा।

मेरे उर का छिपा खजाना;
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त स्वेद बूँदों में ढर जा।
मेरे नयनों की चिर आशा,
प्रेम-पूर्ण सौंदर्य-पिपासा,
मत कर नाहक और तमाशा,
आ मेरी आहों में भर जा।

अन्त में उस प्रियतम को लक्ष्य करके रहस्यात्मक उद्भावना भी है—

अय मेरे प्राणों के प्यारे !
इन अधीर आंखों के तारे,
बहुत हुआ मत अधिक सतारे,
बातें कुछ भी तो अब कर जा।

मोहित तुझको करने वाली,
नहीं आज मुख की वह लाली,
हृदय यन्त्र यह रक्खा खाली,
अब नूतन सुर उस में भर जा।

वस्तुत: हिन्दी कविता में 'नूतन सुर' भरने वालों में मुकुटधर पांडेय का नाम अग्रिम पंक्ति में ही रहेगा। उनके 'रूप का जादू' गीत में परोक्ष प्रियतम के प्रति आकर्षण की अनुभूति भी है:—

हुआ प्रथम जब उसका दर्शन।
गया हाथ से निकल तभी मन॥

सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात

और प्रेम की वेदना भी—

अच्छा किया मुझे जो छोड़ा।
मुझसे उसने नाता तोड़ा॥
दे सकता अपने प्रियतम को कभी नहीं मैं शाप। [1]

कवि की अंतर्भावनाओं का मूर्त्त आधार वाह्यजगत् के प्रतीकों में मिल जाता है। कभी प्रतीक-भाव हृदय उपवन की क्यारी बन जाता है, अश्रुजल सिंचन करने लगता है, कष्ट कण्टक बन जाते हैं और मनोकामना फूल—

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुञ्ज।
सींचता दृगजल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका पुञ्ज॥
न काँटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूँ इन्हें सयत्न।
कभी तो होगा इनमें फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न॥

(वसन्त की प्रतीक्षा : प्रसाद)

कवि की दृष्टि में प्रेमी की मूर्ति रहती है तो वह प्रतीकात्मक भूमिका में प्रियतम के साथ सहचरण का एक चित्र अभिव्यक्त करता है—

दूर! कहाँ तक दूर? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़ कर खेल न था मैंने खेला॥
कहते हो 'कुछ दुःख नहीं'; हाँ ठीक हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से किस किसको किसने झेला॥

(बालू की बेला : प्रसाद)

'प्रसाद' के कई गीतों में प्रेम-चर्या ही है। ऐसे कई चित्र 'गीतांजलि' में भी हैं—

हाय कली थी एक हृदय के पास ही।
माला में, वह गड़ने लगी, न खिल सकी॥
मैं व्याकुल हो उठा कि तुमको अंक में,
ले लूं, तुम ने झोरी फेंकी सुमन की।

(स्वप्न-लोक)

मिलन का आनन्द भी, मिलन की उत्कण्ठा भी, विरह की वेदना भी उनमें है। 'झरना' के प्रारम्भ के गीतों में 'प्रसाद'जी के विदग्ध प्रेमी हृदय की अनेक अनुभूतियाँ हैं। किसी पर मरना, किसी के द्वारा मन पर निर्मम प्रहार होना

१ सरस्वती अप्रैल १९१८

आदि की अनुभूतियाँ इन गीतों में मिलती हैं। यह उर्दू-काव्य की भाव-धारा का प्रभाव है—पर वहाँ रवीन्द्र भाव-चिन्ता की भी मुद्रा है—

उस वर्षा में भीगे जाने से भला,
लौट चला आवे प्रियतम इस भवन में।
आश्रय ले, मेरे वक्षस्थल में तनिक।
लज्जे! जा, बस अब न सुनूँगी एक भी।
तेरी बातों में से, तूने दुख दिया
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये।

(अर्चना : झरना)

कवि अतीन्द्रिय किन्तु अनंत रमणीय पुरुष को आलम्बन रूप में ग्रहण करके लौकिक प्रणय की भाषा में उससे मधुचर्या करता है। इसके उदाहरण भी 'प्रसाद' की 'झरना' की कविताओं में मिलते हैं।

'रूप' में काया-सौंदर्य का पान प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा है, 'वसंत की प्रतीक्षा' में प्रेम-प्रणय की आकांक्षा है, प्रेम-मदिरा पान करने की अभिलाषा है 'एक क्षण बैठे हमारे पास पिला दोगे मदिरा मकरन्द।' 'बालू की बेला' में आलिंगन की पिपासा है—'गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला!' 'निवेदन' में 'चुम्बन' है—केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा। रवीन्द्रनाथ ने भी 'गार्डनर' (श्री गिरिधर शर्मा द्वारा अनूदित) में लिखा है—

मुक्त कर मुक्त मुझे,
बन्धनों से मेरी प्यारी,
महामाधुरी के तेरे,
बन्धनों से मुक्त कर,
और नहीं और नहीं,
चुम्बनों का वह मधु!

(बागवान : ४८)

कवि प्रसाद पर अमर खैयाम की सी फ़ारसी और उसकी भाव-संतति उर्दू की कविता का स्पष्ट प्रभाव है। ये लौकिक संकेत देकर कवि अपनी अलौकिक प्रणय-चर्या की व्यंजना करता है। इसी प्रकार 'स्वभाव' और 'प्रियतमा' में उपालम्भ है, 'अनुनय' में अनुनय है, 'निवेदन' में अनुरोध है। और

'प्यास' में मधुर प्रणय-स्मृति है, 'स्वप्नलोक' में स्वप्न-चर्या है, 'मिलन' में मिलनानन्द की अनुभूति है।

प्रकृति-दर्शन : सर्वचेतनवाद

छायावाद में प्रकृति का विशेष महत्त्व है, केवल रूपकत्व और उद्दीपकत्व ही लेकर वह नहीं आती वह स्वतन्त्र और चित् सत्ता बनकर आती है। प्रकृति के साथ कवि अपनी आत्मा का तादात्म्य पाता है। कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त पर तो इस 'प्रकृति-दर्शन' का सर्वाधिक प्रभाव है। उन्होंने लिखा है—

"वीणा' और 'पल्लव' विशेषत: मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनायें हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था।"[१]

इसमें दो बातों का स्पष्ट संकेत है : प्रकृति में दैवी सत्ता और प्रकृति के क्रिया-व्यापार में मानवी (या दैवी) सजीवता।

सृष्टि और जीवन अखण्ड सत्ताएँ हैं। सृष्टि के सभी तत्त्वों में एक ही प्राण धारा प्रवाहित है। यह स्मरणीय है कि कल्पना, अनुभूति और सहज अन्तर्चेतना से भी हम इस चिन्ता पर पहुँचते हैं। चिंतन में यह सर्वचेतनवाद (Pantheism) का दर्शन है। जड़-चेतन-मय निखिल जगत् में एक ही प्राणधारा प्रवाहित है—इस दार्शनिक भूमिका से हम उसी अनुभूति के भावलोक में पहुँचेंगे जो छायावाद का आधार हो जाता है। यही वह भाव-भूमि है जहाँ से कवि की अनुभूति अद्वैतवाद के रहस्य को पहचानने लगती है। छायावाद में प्रकृति एक ऐसी सत्ता के रूप में प्रस्तुत होती है जिसका एक छोर मानव-प्राण से और दूसरा छोर किसी अज्ञात-चेतन सत्ता से जुड़ा हुआ रहता है।

प्रकृति के अणु-परमाणु में—जड़-चेतन, कोमल-कठोर, सौम्य-उग्र रूप-व्यापारों में एक तारतम्य हो जाता है, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन के हृदय में और दूसरा छोर उसके असीम हृदय में समाया हुआ है।

१. आधुनिक कवि (२) की भूमिका

भारतीय दर्शन में प्रकृति को विश्व-सुन्दरी माना गया है। उसमें भाव तत्व मानवत्व का अनुसंधान हमारे द्रष्टाओं ने, कवियों ने, ऋषिओं ने, मुनियों ने किया था। हम उपनिषद् से एक उदाहरण लें:—

भद्रासि रात्रि चमसोनविष्टो विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि:
चक्षुष्मति मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या नक्षत्रण्यमुक्था।

—हे रात्रि तुम कल्याणमयी हो, तुम सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वी रूप हो गई हो। हे चक्षुष्मती, तुमने आकाश के नक्षत्रों से अपने शरीर का शृंगार किया है।"

विराट् सत्ता का स्फुरण मानते ही यह चेतनत्व और मानवत्व प्रकृति को मिल गया तथा आत्मानुभूति की उत्कटता से भी सर्वचेतनवाद की चिंता आई। छायावाद में कवि अपनी वेदना को प्रकृति के कण-कण में बिखरा देता है। उसकी जिज्ञासा, उसका विस्मय, उसकी कामना, उसकी अभिलाषा, उसकी पीड़ा, उसकी आकांक्षा, उसकी तृप्ति भी, विश्व और प्रकृति के अणो-रणीयान् महतो महीयान पदार्थ और व्यापार में उसे मिलती है और प्रकृति अपनी चिन्मयता में स्पन्दित हो उठती है।

भावना में मानवीय क्रिया-व्यापारों और प्रकृति के क्रिया-व्यापारों का आरोप-अध्यवसान होता है। प्रकृति मानव के मानवीय भावों, क्रियाओं और व्यापारों की प्रतिकृति बनती है, मानव अपनी भावनाओं, क्रिया-व्यापारों में प्रकृति का प्रतिरूप। दोनों में भावनाओं का एक रहस्यालोकित आदान-प्रदान हुआ। जड़ और अमूर्त सत्तायें चेतन और मूर्त रूप में मानस-लोक में प्रतिष्ठित हुईं और उनकी अतीन्द्रिय ज्योति से पार्थिव पुतलियों को दिव्य दृष्टि मिल गई।

इसीलिए अब कवि की कल्पना, भावना और अनुभूति में लहर नृत्य करती है, सरिता इठलाती है, फूल मुसकराते हैं, आकाश पृथ्वी पर अपनी नीलम की आँख से अश्रु बिन्दु टपकाता है, छाया बाल खोले पीले पत्तों की शैय्या पर दम यन्ती की भाँति या रतिश्रांता वज्र-वनिता की भाँति, विरह-मलिन और दुःख-विधुरा होकर मूर्च्छा सी पड़जाती है। प्रकृतिको विविध अनुभूति की पुतलियों से

नाना कल्पनाओं के रंग में रँगकर कवि ने देखा और प्रकृति के चेतन शरीर को असंख्य अपरिमेय व्यापार प्रदान किये। छायावादी कवियों ने प्रकृति से एक अज्ञेय सम्मोहन एक अनिवर्चनीय आनन्द पाया और उनकी हृदय की वीणा झंकृत हो उठी—

लतिका के कम्पित अधरों से
यह कैसा मृदु अस्फुट गान।
आज मन्द मारुत में बह कर
खींच रहा है मेरा ध्यान।
किस प्रकार का गूढ़ चित्र यह
आज धरित्री के पट पर।
पत्रों की मायाविनि छाया
खींच रही है रह रह कर।
छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरी हृत्तन्त्री के तार।
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुञ्जार?

इसी प्रकार के स्वर में सृष्टि में, कुछ संकेत देखकर, श्रीधर पाठक भी पुकार उठे थे—

भरे गगन में है जितने तारे, हुए हैं मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो, दो उँगलियों पर नचा रही है।

छायावाद में कवि ने ऐसी अन्तर्दृष्टि पाई जो कल्पना और भावना से भी बढ़कर चेतन थी। छायावादी कवियों ने उसी से अरूप (Formless) को रूप (Form) दिया। ये कवि अन्तस् के कलाकार हैं। भावना-कल्पना में वे चित्र-विधान करते हैं और वर्णों में उसे अवतरित-अंकित करते हैं।

अरूप को रूप देने की परम्परा कवियों में अनादि है। अंग्रेजी में इसे मानवीभाव (Personification) कहा गया है। शेक्सपियर जैसे १६-१७ वीं शती के कवि ने इसका प्रचुर प्रयोग किया था।

प्राचीन हिन्दी कविता में पदमावती की विरह-वेदना 'रकत आँसु घुँघची बन रोई' थी। प्रेम की ज्वाला की लपटों में सारी प्रकृति जलती थी, परन्तु उसका मानवीभाव से कितना संबन्ध था?

बिहारी ने लिखा था :—

दुरी देखि तरु सघन वन, बैठि सदन तन छाँह ।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह ॥

इसे परन्तु एक प्रकार का वाग्वैदग्ध्य या वाग्वैचित्र्य ही कहा जायगा। मानव-जीवन में, सृष्टि में ऐसे कई सूक्ष्म संघटना या तत्त्व या पदार्थ हैं जिनकी कोई रूपरेखा नहीं जैसे—आशा, आकांक्षा, प्रेम, शोक, हर्ष मनोभाव, जैसे ऊषा, प्रभात, सन्ध्या, जैसे मृत्यु, प्रलय, भूकम्प इन्हें हम अरूप (Formless) कह सकते हैं। अपनी अनुभूति और कल्पना के दुर्दम आवेग में कवि ने 'अरूप' को 'रूप' दिया और सरूप बनाया।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृतसदृश नश्वर काया में।

यहाँ 'विषाद' को मूर्त्त रूप मिला है। इस कविता में आगे सूक्ष्म मूर्तिविधान हैं।

कवि ने प्रकृति में चेतनत्व और मानवत्व की अनुभूति (आरोपमात्र नहीं) की। प्रसाद की 'किरण' और निराला की 'जुही की कली' इस दिशा में सुन्दर प्रयत्न हैं। पन्त की प्रसिद्ध कविता 'छाया' भी प्रकृति-संघटना का मानवीभाव है।

आलोच्य काल की संध्या में कवि अपनी इसी अन्तर्दृष्टि प्रेरित-कल्पना से, स्वप्न, बालापन, छाया, जैसे अमूर्त अरूप वस्तुओं को सम्बोधन करने और चित्रण करने लगे हैं।

छायावाद मूलतः स्वानुभूति की कविता है। स्वानुभूति उसका उद्गम-क्षेत्र है। 'छायावाद' में प्रकृतिवाद और सर्वचेतनवाद का चिंतन है। यह उसका चिंतन पक्ष है।

'छायावाद के उपादान'

'छायावाद' में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो प्रायः मिलती हैं। उनका हम यों विश्लेषण-अनुशीलन कर सकते हैं—

(१) निगूढ-वेदना
(२) विस्मय-भावना
(३) सूक्ष्म तत्त्व-बोध
(४) कल्पना का प्रसार

निगूढ़ वेदना

'छायावाद' में जो निगूढ़ वेदना मिलती है उस पर दो तत्त्वों ने प्रभाव डाला है। पहला प्रभाव है दार्शनिक चिन्तन और दूसरा प्रभाव है भौतिक परिस्थिति।

व्यक्ति के जीवन को हम दुख के या करुणा के पट पर अंकित चित्र कह सकते हैं। जीवन में कदाचित् वेदना अधिक है। कुछ वैयक्तिक कारण होते हैं—इस व्यथा के अवश्य। व्यक्ति के जीवन में न जाने कितनी ही कुण्ठायें हैं और उनकी प्रेरणा इन आत्मानुभूति-व्यञ्जक अभिव्यक्तियों में होती है। छायावाद की कविता में अन्तर की निगूढ़ वेदना का यही कारण है। उसमें ऐसी निगूढ़ वेदना मिलती है, जिसे भुक्तभोगी कवि ही जानता है। शब्दों में उसे वह बिखेरना नहीं चाहता और इसलिए दूसरों को वह अगम्य हो उठती है। 'प्रसाद' की वेदना देखिए—

> जब करता हूँ बेकल, चंचल मानस को कुछ शान्त,
> होती है कुछ ऐसी हलचल हो जाता हूँ भ्रांत;[१]

और देखिए 'एक भारतीय आत्मा' की वेदना—

> अपने जी की जलन बुझाऊँ अपना-सा कर पाऊँ,
> "वैदेही सुकुमारि चिते गई"—तेरे स्वर में गाऊँ।[२]

उसी वेदना से 'प्रसाद' कहते हैं—

> वेदने ठहरो ! कलह तुम न करो; नहीं तो कर दूँगा निःशस्त्र।[३]

प्रेम की वेदना यहाँ मुखरित है—

> अरुणोदय में चंचल होकर व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
> मायामयी सुप्ति में सोकर अति अधीर हो अर्ध क्षेम से।
>
> × × ×
>
> हाय ! मुझे निष्किञ्चन क्यों कर डाला रे, मेरे अभिमान,
> वही रहा पाथेय तुम्हारे, इस अनन्त पथ का अनजान !

---

१ बिखरा हुआ प्रेम : 'प्रसाद' २ हिमतरंगिनी [४२] : १९१३

३ वेदने, ठहरो ! 'झरना'

जीवन धन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ मत मौन रहो,
वाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो ?[१]

राष्ट्रीय भावभूमिका के कारण भी यह वेदना सहज ही आ गई है। देश पराधीन है, समाज दुखी है, जीवन त्रस्त है; तब कवि को मन में मुक्त उल्लास नहीं एक गूढ़ वेदना ही स्थान पा सकती थी। यह मुद्रा 'एक भारतीय आत्मा' की कविता में मिलती है। राष्ट्रीय जीवन की अहिंसा ने भी एक प्रकार की आत्म-निषेधात्मक वृत्ति जगा दी थी—

मार डालना किंतु क्षेत्र में जरा खड़ा रह लेने दो,
अपनी बीती इन चरणों में थोड़ी सी कह लेने दो;

कुटिल कटाक्ष कुसुम सम होंगे, यह प्रहार गौरव होगा,
पद-पद्मों से दूर स्वर्ग भी, जीवन का रौरव होगा;

प्यारे इतना सा कह दो कुछ करने को तैयार रहूँ,
जिस दिन रूठ पड़ो, सूली पर चढ़ने को तैयार रहूँ।[२]

भारतीय दर्शन (तत्त्वज्ञान) ने भी वेदना की गहरी छाया मानस पर डाली है। भारतीय दर्शन क्षणभंगुरता का निर्देश करता है—वस्तु-जगत् से मनुष्य की आस्था और आसक्ति को वह मूल से ही काटता है और हमें पराङ्मुख, परोक्षोन्मुख कर देता है।

परोक्षोन्मुख होना इतना बुरा नहीं है जितना वस्तु जगत् से आस्था और आसक्ति को मिटा देना। यह तो एक प्रकार का आत्म-निषेध (Self-negation) है; इससे भयंकर परिणाम निकलते हैं। वैयक्तिक आत्म-निषेध ही सामूहिक-सामाजिक असहायता, कायरता और निर्बलता के रूप में प्रतिफलित हो जाता है। जन्म में मृत्यु की छाया दिखाई देने लग जाती है, विलास में विनाश झलकने लगता है, वसन्त में पतझड़ और यौवन में जरा और मरण की छाया डोलने लगती है। अन्तर्मन इस प्रकार के दर्शन से अभिभूत रहता है अतः आत्मानुभूति में वेदना की अगम छाया अवश्य ही आनी चाहिए।

---

१ कहो ! (झरना) २ 'हिमतरंगिनी' [३५ : १९१४]

विस्मय-भावना

छायावादी कवि की अभिव्यक्तियों में एक विस्मय-भावना मिलती है। यह उसकी चिन्तन-वृत्ति का सहज परिणाम है। वह विश्व और प्रकृति, मनुष्य और ईश्वर के रहस्यों के प्रति सप्रश्न हो उठता है। (कदाचित् उसका उत्तर देने में वह असमर्थ और असफल है।) जीवन-मरण भी उससे अपना उत्तर माँगते हैं—

१. किन जन्मों की चिर-संचित सुधि बजा सुप्त तन्त्री के तार,
नयन-नलिन में बँधी मधुर सा करती मर्म-मधुर गुंजार ?[1]
२. निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया,
दृग पलकों में विचर रही या वन्य देवियों की माया ?[1]

'प्रसाद' के 'झरना' में किरण पृथ्वी से स्वर्ग को मिला रही है—

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक।[2]

सूक्ष्म तत्त्व-बोध

कवि सुन्दरम् का उपासक है क्योंकि वह कलाकार है। सत्य के भीतर छिपे हुए शिवम् के आत्मन् को और सुन्दरम् के रूप में दिखाई देनेवाले उस 'रूप' को कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही देख सकती है। छायावाद में यह सूक्ष्म सौन्दर्य का बोध मिलता है।

"बाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत् की ओर दृष्टिपात करता है तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है।"

इसी में छायावादी कवि प्रकृति म चेतनतत्व देखता है, उससे वह सम्मोहन पाता है। वह अनेक मानवी भावों, रूपों, व्यापारों से स्पंदित हो उठती

१ स्वप्न [१९१९] २ 'किरण' (झरना)

है जिसका उल्लेख किया चुका है। इसी में वह अरूप का रूप देखता है और मूर्त्त विधान करता है : वह अमूर्त को मूर्त रूप देता है—

बालक के कम्पित अधरों पर किस अतीत सुधि का मृदुहास.
जग की इस अविरत निद्रा का करता नित रह रह उपहास।
(स्वप्न : पन्त)

और कभी मूर्त्त को अमूर्त्त रूप भी :

चिर अतीत की विस्तृत स्मृति सी, नीरवता की सी झंकार,
आँखमिचौनी सी असीम की निर्जनता की सी उद्गार!

(छाया : पन्त)

कल्पना का व्यापक प्रसार

कवि कल्पना-प्रवण होता है। भावुक अन्य मानव भी होते हैं, परन्तु कल्पना (रूप-निर्माण-कला) कवि की अपनी शक्ति है! कल्पना के लिए कवि प्रसिद्ध हैं। पृथ्वी से लेकर आकाश तक कल्पना का संचरण-क्षेत्र हो जाता है।

कल्पना का धर्म है सूक्ष्म के आधार पर एक चित्र का निर्माण करना। भावना अमूर्त्त हो सकती है परन्तु कल्पना अमूर्त नहीं हो सकती। छायावाद में चर्म-चक्षुओं से न दिखाई देने वाले भव्य चित्र मिलते हैं।

कलापक्ष

छायावाद का कला-पक्ष विशेष समृद्ध है। भाषा और ध्वनि में यह प्रकट हुआ। वस्तुतः कल्पना के ही कारण छायावाद का कलापक्ष विशेष समृद्ध हो सका है।

'चित्रभाषा' और 'चित्रराग'

छायावादी कवियों की कल्पना-शक्ति बड़ी उर्वर है। 'चित्रभाषा' और 'चित्रराग' की सृष्टि द्वारा उन्होंने भाषा-समृद्धि की है।

'चित्रभाषा' का अर्थ है—'रूप-व्यंजक शब्द'। पन्त के शब्दों में "उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर

लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें।"[1]

और 'चित्रराग' है—'अर्थ और भाषा का सामञ्जस्य, स्वरैक्य'। इस प्रकार चित्रभाषा चित्रराग में पर्याप्त समानता है, अन्तर सूक्ष्मता का है, एक का रूप की ओर तथा दूसरे का अर्थ की ओर इंगित है।

ये विशेषताएँ छायावाद की कविता में इतनी परिस्फुट हैं कि इसे एक कलावाद माना गया और आचार्य शुक्ल जी ने इसे 'अभिव्यञ्जनावाद' के अर्थ में ग्रहण किया।

लाक्षणिक भंगिमा

छायावाद में पहले लाक्षणिक भंगिमा आई। शास्त्र के अनुसार भी लक्षणा में मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध होकर फिर उससे सम्बन्धित संकेतित अर्थ का बोध होता है। इस व्यापक लक्षण में 'उपमा' और 'रूपक', 'रूपकातिशयोक्ति' अन्योक्ति, समासोक्ति और प्रतीक सब आ जाते हैं! विशदता में जाने का प्रयोजन यहाँ नहीं है। अगूढ़ और ऋजु (अभिधा-मूलक) अभिव्यक्ति से भिन्न यह शैली अब एक मनोवैज्ञानिक न्याय और कलात्मक वृत्ति लेकर प्रकट हुई थी।

शुद्धा और गौणी लक्षणा के विभिन्न भेदों के जितने प्रकार के प्रयोग हैं वे 'छायावाद' में पूर्णतया उपलब्ध होते हैं। इनमें कहीं 'रूढ़' लक्षणायें हैं, तो कहीं 'प्रयोजनवती'। 'प्रयोजनवती' में कई 'गूढ़- व्यंग्या' हैं और कई 'अगूढ़-व्यंग्या'। उदाहरण के लिए निराला की 'जुही की कली' गूढ़-व्यंग्या प्रयोजन-वती लक्षणा का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसी कविता में लाक्षणिक अर्थ लगाने के पश्चात जो दो प्रेमियों की प्रणय-चर्या ध्वनित है वह उसे व्यंजना भी प्रदान करती है।

लाक्षणिक भंगिमा के कई प्रकार छायावाद में मिलते हैं।

---

१ पल्लव की भूमिका।

(क) लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक

संज्ञा से कई नये विशेषणों का निर्माण किया गया। यह परम्परा पुरानी थी किन्तु इसका उत्थान हुआ। रेशम से रेशमी का अर्थ होगा—कोमल। इस प्रकार के अलङ्करण के प्रयोगों से आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य समृद्ध है। छायावादी कवियों (विशेषत: पन्त जी) ने उसी समृद्ध भाषा से यह निधि अर्जित करके स्वभाषा में स्थापित की। भाषाओं की विविधता अपने-अपने मार्गों से भी अन्ततः भाव की एकता की ओर ही गतिमती है; इसलिए ऐसा अर्जन स्वस्थ कहा जा सकता है। गुप्त जी ने कुछ अनुवाद किये थे जैसे नया पन्ना पलटे इतिहास (turn a new page)। पन्तजी द्वारा भी प्रचुर शब्द निर्मित हुए—स्वप्निल (Dreamy), स्वर्णिम (Golden) आदि और प्रस्तुत हुए कई लाक्षणिक प्रयोग जैसे स्वर्ण सरित, स्वर्ण-युग। 'स्वर्ण' बहुमूल्य पदार्थ है अतः वह वैभव का सूचक अथवा प्रतीक हो गया; मधु और अमृत मधुर माना जाता है अतः वह मधुरता का प्रतीक हो गया; प्राचीन 'अमर' अर्थ को उसने कुछ-कुछ छोड़ दिया है। एक छन्द में अनेक प्रतीक (लाक्षणिक प्रयोग) समन्वित हो गये हैं—

नव-नव सुमनों से चुन-चुन कर धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु-कलिका में भर दे कर दे विकसित मन।

(पंत)

पंत की "विश्व-व्याप्ति" कविता में 'फूल' केवल पार्थिव फूल नहीं है वह अबोध सुन्दर कोमल शिशु का प्रतीक है, जो पूरी कविता पढ़ जाने पर स्पष्ट भी हो जाता है—

पा चुके तुम भव-सागर-कूल,
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?

(ख) धर्म-विपर्यय

दो तत्त्वों के संसर्ग से एक का गुण दूसरे में आरोपित हो जाना ही धर्म-विपर्यय है। यह एक प्रकार का अर्थालङ्करण है। तद्गुण भी इसी का सजातीय है, जिसमें एक वस्तु का गुण दूसरी समीप वस्तु ग्रहण कर लेती है। यह अधिक सूक्ष्म है, यहाँ अंग-वस्तु अंगी का धर्म ग्रहण करती

है। वाच्यार्थ का बाध होने और संकेतित अर्थ का स्वीकार होने के कारण यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही है। अंग्रेज़ी अलंकरण-शास्त्र में यह 'विशेषण-विपर्यय' (Transferred epithet) नाम से प्रचलित है। इसके उदाहरण हैं—

निद्रा के उस 'अलसित' वन में क्या वह भावी की छाया ?–पन्त

यहाँ वन 'अलसित' नहीं हो सकता परन्तु निद्रा का यह गुण उसने ग्रहण किया है।

२. बच्चों के 'तुतले' भय सी।—पन्त

यहाँ भय 'तुतला' नहीं सकता, बालक का यह धर्म उसने ग्रहण किया है।

(ग) 'मानवीभाव'

प्रकृति और विश्व की समस्त जड़ तथा अरूप वस्तुएँ चेतन और सरूप बनकर मानवी क्रिया-व्यापार, भावना-अनुभूति में करने लगती हैं तब 'मानवी-भाव' होता है: इस अलंकरण की उद्भावना चित्रोपमता लाने के लिए और इस प्रकार अनुभूति-प्रवणता की दृष्टि से हुई है। इसमें अमूर्त को मूर्त, जड़ को चेतन और चेतन को मानव रूप में दिखाया जाता है।

[अमूर्त्त भाव का मूर्त्तीकरण]

मचल-मचल कर 'उत्कण्ठा' से छोड़ा 'नीरवता' का साथ।
विकट 'प्रतीक्षा' ने धीरे से कहा, निठुर हो तुम तो नाथ।
नाद ब्रह्म की रुचिर उपासिका मेरी इच्छा हुई हताश।
बह कर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा विश्वास।
[विरहाकुल : नवीन]

[जड़ का चेतनीकरण]

भृंग गुञ्जरित भृंग, तनिक यह मेरी विनती कान धरो।
बस तुम मेरा हृदय वेध दो फिर गुन-गुन-गुन गान करो।
[वेणु की विनती : राय कृष्णदास]

अतल-निवासिनि हृदय खोल जल पर तिरती है।
भारी-भारी तरल तरंगों में फिरती है।

प्रेम नीर की झड़ी लगा देता नव घन है।
छक जाता पर एक बूँद से तेरा मन है।
(परिग्रह : राय कृष्णदास)

[चेतन का मानवीकरण]

नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल,
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही !
(जुही की कली : निराला)

नलिनी-मधुर-गंध से भीना पवन तुम्हें थपकी देकर
पैर बढ़ाने को उत्तेजित बार-बार करता प्रियवर!
(राय कृष्णदास)

ऐ अवाक् निर्जन की भारति, कंपित अधरों से अनजान !
मर्म-मधुर किस स्वर में गाती-तुम अरण्य के चिर आख्यान ?
(छाया : पन्त)

'चित्रराग' के कुछ प्रकार हैं—

(क) अर्थ-व्यञ्जना

मनोवैज्ञानिक प्रभाव-सृष्टि के लिए इसका आविष्कार हुआ। वर्ण की ध्वनि (नाद) से अर्थ की व्यञ्जना (Sound echoing the sense) ही ध्वन्यर्थ-व्यञ्जना है। अर्थ के अनेक प्रकार या पार्श्व हैं—

(१) रूप। (२) गति-व्यापार। (३) भाव-अनुभाव।

अतः रूप-व्यंजना, वर्ण व्यञ्जना, भाव व्यंजना, अनुभाव व्यंजना आदि इस अर्थ-व्यंजना, के विविध रूप हो सकते हैं—

रूप-व्यञ्जना

पन्त ने लिखा है—पर्य्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे 'भ्रू' से क्रोध की

वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, भौहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है।" "पंख शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है;...स्पर्श जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है उसका चित्र है;... अनिल से एक प्रकार की कोमल-शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो; वायु में निर्बलता तो है ही लचीलापन भी है। यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है।"...इत्यादि।—'पल्लव' की भूमिका।

छायावादी कवियों ने विशेष सजग होकर इन रूप-व्यंजक शब्दों का प्रयोग किया। जैसे—

(क) रूप-व्यञ्जना

१. ढलकते हिमजल से लोचन
अधखिला तन, अखिला मन,
धूलि से भरा स्वभाव प्रकूल,
मृदुल छवि, पृथुल सरलपन! —पन्त

२. तृप्ति में आशा बढ़ती थी, चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त।
गगन में सुमन खिल रहे थे, मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शांत।'प्रसाद'

(ख) वर्ण व्यञ्जना है :

उषा सौंदर्यमयी मधुकांति अरुण यौवन का उदय विशेष।
सहज सुषमा मदिरा मे मत्त अहा! कैसा नैसर्गिक वेश।

(ग) अनुभाव-व्यञ्जना है :

इसका सुन्दर उदाहरण है 'जुही की कली' में—

चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी-हँसी-खिली,
खेल रङ्ग, प्यारे-संग! ('जुही की कली' : 'निराला')

दूसरा उदाहरण है—

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लील विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास।
(वसन्त श्री : पल्लव : १६१८)

'प्रसाद' की कविता में अनुभावों की व्यञ्जना अधिक स्पष्ट है :

शिथिल शयन सम्भोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे
प्रतिपद व्याकुल आज छंद क्यों होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता,
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता।[1]

कुछ ऐसी व्यंजनाएँ भी हैं जिन्हें हम नूतन अलंकरण कह सकते हैं—

ध्वन्यर्थ-व्यञ्जना

गति व्यञ्जना : जहाँ शब्दों की ध्वनि से क्षिप्र-मंद गति की व्यञ्जना हो :

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता पुञ्जों को पार कर
पहुँचा......

(जुही की कली 'निराला')

यहाँ पवन की क्षिप्रता ध्वनि से व्यंजित हो उठी है।

नाद-व्यञ्जना : जहाँ ध्वनि से वस्तु के नाद (शब्द) की व्यंजना हो—

मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँज के,
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।

(प्रसाद)

कणकण रव किंकिणि
रणन रणन नूपुर

('निराला')

इसके उदाहरण निःसन्देह प्राचीन हिन्दी कविता में भी थे। तुलसी के 'कंकन किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' में नूपुर की ध्वनि भी सुनाई देती है। वृत्तियों के निर्वाह में कुछ ऐसा ही सिद्धान्त था, परन्तु उसमें पूर्ण ध्वनि-व्यञ्जना का निर्वाह क्वचित ही हो पाता था। नादानुकरण पर भाषा में अनेक शब्द (हिनहिनाना, झंकार, हुंकार आदि) बने हैं। पन्त जी ने शब्द के चित्र के साथ उसकी ध्वनि की प्रकृति को भी पहिचाना है। उन्होंने छोटे-छोटे नादानुकारी पदों की सृष्टि की। रलमल् रणमण, टलमल, टलटल छलछल, कलमल, रलमल, कलकल, छलछल, झरझर, मरमर।

---

१ 'कहो ?' (झरना)

भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से यह छायावाद एक युगांतरकारी आंदोलन था।

छायावाद-रहस्यवाद-एक स्पष्टीकरण

छायावाद और रहस्यवाद की एकता इनके जन्म के समय थी किन्तु आज ये भिन्न-भिन्न रूप-रंग-रेखा के वाद हैं। दोनों में साम्य है, दोनों की सीमा-रेखायें मिलती हैं। कभी-कभी ये एक-प्राण हो जाते हैं, फिर भी दोनों के क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं।

यह भेद हम कवि की आत्मानुभूति की व्यञ्जना की प्रक्रिया में देखें— आत्मानभूति की अभिव्यंजना के आधार खोजने पर कवि को वहिर्जगत ही दिखाई देता है। वहिर्जगत को 'प्रकृति' कह सकते हैं। इससे वह तादात्म्य स्थापित करता है।

हृदय की अस्पष्ट धूमिल अनुभूतियों को वह प्रकृति के रूप-व्यापारों में पाने लगता है (यह तादात्म्य का प्रथम लक्षण है)। इसी छायावाद के भावलोक में जब कवि का भावक-भावुक मन किसी परम रम्य अनन्त रमणीय (पुरुष या नारी) से आत्म-तादात्म्य की, अर्थात् उसके प्रति जिज्ञासा, विस्मय, सम्मोहन, प्रणयानुराग, आसक्ति, मिलन आदि प्रेमिक अनुभूतियाँ करने लगता है तो वहाँ 'रहस्यवाद' के क्षेत्र की सीमा आ जाती है। इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद के सीमान्त मिल जाते हैं। छायावाद से आगे की ही भाव-भूमि 'रहस्यवाद' है।

यदि कवि प्रकृति में (सर्वचेतनवाद के अनुसार) चेतनत्व और मानवत्व पाता है और इस चेतनत्व की प्रतीति से जब वह आत्मानुभूति का सम्बन्ध जोड़ता है तो 'छायावाद' की सृष्टि होती है; यहाँ कोई तीसरी सत्ता नहीं आती [परन्तु जब कवि प्रकृति के] चेतनत्व या मानवत्व में किसी परमचेतन परमसुन्दर की छाया देखने लगता है। या ऐसा न करके, प्रकृति के विविध रूप-व्यापारों के माध्यम से अपने और उस परोक्ष सत्ता के तादात्म्य की व्यञ्जना करने लगता है तो छायावाद की भूमि छूट जाती है और 'रहस्यवाद' का अलोक-लोक आ जाता है।

यह अवश्य हो सकता है कि यदि कवि 'विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप' करने के साथ-साथ उसमें विश्वात्मा (परमतत्त्व) की अनुभूति भी करता चले, जैसी कि महादेवी वर्मा की विशेषता है, तो वहाँ छायावाद और

रहस्यवाद का संश्लिष्ट स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। ऐसे स्थान पर उसे केवल छायावाद या केवल रहस्यवाद कह देना अपर्याप्त होगा।

रहस्य की सीमा पर

'छायावाद' के क्रोड़ में दार्शनिक संकेतवाद है। जीव और ब्रह्म की एकता का और माया की भ्रांति का प्रतिपादन मैथिलीशरण गुप्त करते हैं :

जीव एक है, ब्रह्म एक है, माया के अनेक व्यवहार !
आ, हे प्रकृति-हृदय के हार !

कवि धीरे-धीरे अनन्त का 'यात्री' बनने लगता है—

रोको मत छेड़ो मत कोई मुझे राह में,
चलता हूँ आज किसी चंचल का चाह में।

यह आध्यात्मिक प्रियतम की ओर संकेत है।

रहस्यवाद आत्मन् और परमात्मन्—या रहस्यवादी परिभाषा में ससीम और असीम—के चिरंतन-अद्वैत से लेकर उनके विरह-प्रेम-मिलन की अनुभूतियों का लोक है। सच्चे ज्ञानी या मर्मी के लिए यह एक जीवन-दशा या साधना की स्थिति हो सकती है और कवियों में कबीर जैसे रहस्यदर्शी सन्त ही उस कोटि में आते हैं परन्तु भावना या कल्पना में भी ऐसी अनुभूति होने लगती है और उसमें लौकिक प्रेम की समस्त अनुभूतियों की व्यंजना आने लगती है, तब उसे भी रहस्यवाद ही कहा जाता है। रहस्यवादी कवियों के पथदर्शक रवीन्द्र भी इसी भावक अर्थ में रहस्यवादी हैं, साधक अर्थ में नहीं।

इस प्रकार रहस्यवाद एक प्रकार से 'आध्यात्मिक संकेतवाद' हो जाता है, कहीं-कहीं वह दार्शनिक संकेतवाद से मिल जाता है, कहीं प्राकृत (प्रकृतिपरक) संकेतवाद से और प्रतीकवाद तो उसके लिए आधार है ही। आगे इन सब दिशाओं में चलने वाले कुछ कवियों की अभिव्यक्तियों का निदर्शन है जो रहस्य की किसी-न-किसी रूप में अवतारणा करते हैं।

'प्रसाद' ने प्रकृति की भूमिका में ऐसे प्रेमवाद की अभिव्यक्ति की जिसमें कहीं-कहीं परोक्ष प्रेम का संकेत है।

दूसरे कवि हैं सूर्य कान्त त्रिपाठी निराला। उनकी 'जुही की कली' में कली की सुप्ति, आत्म विस्मृति मन के अंधकार के बाद है—जागरण, आत्म परिचय, प्रिय-साक्षात्कार। कली सोते से जगी हुई, प्रिय से मिली हुई, खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में सर्वोच्च दार्शनिक व्यंजना। इस प्रकार के दार्शनिक संकेत देनेवाले छायावादी कवि हैं श्री निराला। यह दार्शनिक रहस्यवाद होगा।

इसी प्रकार उन्होंने 'अधिवास' में 'एकोऽहं बहुस्याम' के अनुसार अपने में ब्रह्म की छाया और प्रत्येक प्राणी में अपनी ही वेदना देखी है—

मैंने मैं शैली अपनाई
देखा एक दुखी निजभाई
झट उमड़ वेदना आई

इसी काल के एक 'भावुक' कवि श्री राय कृष्णदास को भी प्रकृति के रूपों में परम प्रिय की अनुभूति होती है—

मैं इस झरने के निर्झर में प्रियवर सुनती हूँ वह गान,
कौन गान ? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण,
कौन प्राण ? जिनको निशि-वासर रहता एक तुम्हारा ध्यान,
कौन ध्यान ? जीवन-सरसिज को जो सदैव रहता अम्लान !

—'सम्बन्ध' (भावुक)

रामचन्द्र शुक्ल बी० ए० भी 'वह छवि' देखने को अनुसन्धान-शील हैं और लता-लावण्य तथा कुसुम-कली में उसका विकास-विलास पाने की कामना करते हैं—

कभी लता-सौन्दर्य बीच में ही मिलो।
कभी कुसुम की नई कली ही में खिलो।

इसी समय एक पार्वतीय गायक की 'वीणा' भी झंकृत हो उठी जिसपर रवीन्द्र का स्वर छिड़ उठा। प्रकृति के गायक कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने 'गीतांजलि' के गीतों की रहस्यात्मकता का पान किया था। 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' को कवि ने 'अन्तरमम विकसित करो' की भाव-संतति माना है। एक दूसरी कविता है—

अनुपम ! इस सुन्दर छवि से मैं आज सजा लूँ निज मन,
अपलक अपार चितवन पर अर्पण कर दूँ निज यौवन !
इस मंद हास में बह कर गा लूँ मैं बेसुर-'प्रियतम',
बस इस पागलपन में ही अवसित कर दूँ निज जीवन !

प्रकृति के प्राणों में परोक्ष सत्ता की छाया देखना संकेतवाद-रहस्यवाद की व्यापक परिभाषा में आता है। 'छाया' में कवि पन्त ने उस परोक्ष सत्ता के प्रेम का संकेत दिया है—

फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्द्धान !

यह 'रहस्यवाद' भावी युग में ही पूर्ण परिस्फुट हुआ।

'छायावाद' और 'रहस्यवाद' की दार्शनिक व्याख्या

अब कविता में 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' भिन्न हो गये हैं। वस्तुतः इन दोनों में अन्तर केवल 'दर्शन' (चिंतन) के क्षेत्र में है। यह स्मरणीय है कि 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' केवल काव्य-शैली ही नहीं हैं—वे वस्तुतः विशेष कवि दृष्टियाँ (poetic outlook) हैं। ये दृष्टियाँ वस्तुतः भाव-लोक पर अवलम्बित हैं। 'छायावाद' के रूप में कवि की दृष्टि 'स्व' के आत्म-तत्व पर, सृष्टि (प्रकृति) की सम्पूर्ण भूमिका में, पड़ती है। और 'रहस्यवाद' में कवि की दृष्टि 'स्व' के आत्मतत्त्व पर स्रष्टा (पुरुष) की भूमिका में, पड़ती है। पहले में वह समस्त सृष्टि (प्रकृति) को अपनी सत्ता से एकीभूत—एक प्राणतत्व से स्पंदित देखता है और दूसरे में वह अपनी सत्ता को, परोक्ष सत्ता का तद्रूप, तदाकार और प्रतिरूप देखता है। पहले में द्रष्टा कवि को वर्तमान जीवन ही प्रत्यक्ष होता है किन्तु दूसरे में अतीत और अनागत भी द्रष्टा कवि को प्रत्यक्ष हो जाता है, पहले में दृष्टि प्रत्यक्ष जगत् की सूक्ष्म चेतना ही पर केन्द्रित रहती है दूसरे में दृष्टि परोक्ष जगत् के परोक्ष तत्व की भावना और अनुभूति पर। 'छायावाद' में प्रकृति के जड़ में चेतनत्व की प्रतीति ही आवश्यक है, ईश्वर की प्रतीति नहीं, परन्तु रहस्यवाद में 'प्रकृति' में विश्व और मानव में परोक्ष तत्व की प्रतीति अनिवार्य है। अतः वह ईश्वरवादी (आस्तिक) दर्शन है।

: ६ :

कला-समीक्षा

गेय मुक्तक की परम्परा भारतेन्दु ने पुनः प्रतिष्ठित की थी ! उनके पद भक्ति-श्रृंगार पर अधिक होते थे। लोक-गीतों की भी रचना उन्होंने की थी। इस काल में भी गेय मुक्तकों की परम्परा विकसित हुई। प्रारम्भ में भक्त कवियों की ही पद-शैली प्रतिष्ठित रही, फिर उसका स्थान भजनों और गजलों ने लिया और अन्त में उसकी प्रकृत परिणति आधुनिक शैली के प्रगीत मुक्तकों के रूप में हो गई। गेय मुक्तक की सृष्टि करनेवालों में श्रीधर पाठक, 'पूर्ण', शंकर, 'सनेही', मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट, जयशंकर 'प्रसाद', राय कृष्णदास, सुमित्रानन्दन पन्त के नाम और गेय काव्य कृतियों में—'वीर पंचरत्न', 'भारत-गीतांजलि', 'स्वदेश-संगीत', 'झंकार', 'भारत-गीत', विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रबन्ध काव्य की परम्परा में पिछले युग में 'एकांतवासी योगी'का उल्लेख हो चुका है जो अंग्रेजी का अनुवाद था। आलोच्यकाल की पहली सृष्टि आचार्य द्विवेदी कृत 'कुमार-संभवसार' (अनुवाद) और श्रीधर पाठककृत 'श्रांत पथिक' (अनुवाद) को कहना चाहिए। खड़ी बोली में वास्तविक अर्थ में खण्ड-काव्य की दिशा में प्रथम मौलिक प्रयत्न था श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'रंग में भंग' (१९६६ वि०) । फिर तो उनकी लेखनी ने एक परम्परा ही दी—'जयद्रथवध' (१९६७ वि०); 'भारत-भारती' (१९७१ वि०)। 'भारत-भारती'को मैं भावात्मक प्रबन्ध काव्य कहता हूँ जिसका नायक भारत है। श्री जयशंकर प्रसाद ने 'प्रेमपथिक (१९१३) और महाराणा का महत्व (१९१४) की, सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्यविजय'(१९१४) की और हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' (१९१३) का रचना की । 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का आदि महाकाव्य है ! यहां आकर एक मंजिल पूरी हुई। दूसरी मंजिल में भी कई अच्छे प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। 'प्रणवीर प्रताप' 'अनाथ, किसान' 'मिलन' 'वनवैभव' 'वकसंहार' 'गांधी-गौरव', 'ग्रन्थि' 'शकुन्तला', 'पथिक', 'रामचरित-चिन्तामणि'। 'साकेत' महाकाव्य (आंशिक) की रचना इस काल में हो सकी।

गीति-रूपक (Opera) नामक नूतन काव्य-रूप इस काल की विशेष देन है। 'गीति-रूपक' नाटक में कविता या कविता में नाटक है। इसके प्रथम पुरस्कर्त्ता 'प्रसाद' हैं। उनका 'करुणालय' एक गीतिरूपक है।

मैथिलीशरण गुप्त ने सन् १९१६ में 'लीला' गीतिरूपक राम-कथा के एक मधुर-प्रसंग की भूमिका में लिखा था। वह वस्तुतः एक सुन्दर प्रयत्न था।

आगे भी कवि ने यह काव्य-रूप छोड़ा नहीं और 'अनघ' में उसको प्रतिष्ठित किया ।

'गीतिरूपक' गीतितत्त्व और नाटकतत्त्वों का कलात्मक संगम होता है। ऐसे काव्य को बहिरंग की दृष्टि से कविता में ही परिगणित करना पड़ता है।

प्रसाद जी ने 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन', चम्पू का निर्माण किया जो नई वस्तु थीं। इनमें पद्य व्रजभाषा में ही था।

इस प्रकार इस काल में स्फुट (पाठ्य) मुक्तकों से लेकर गेय, चम्पू और गीति-रूपक जैसी भावात्मक सृष्टियों की निधि प्रस्तुत हुई। काव्य के ये सभी रूप प्रस्तुत हो जाना इस तथ्य का परिचायक है कि कवियों ने नई भारती की अकिंचनता को समृद्धि में परिवर्तित करने की साधना की है।

काव्य-रूपों के विधान में प्राचीनता से नवीनता की दिशा स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रबन्ध-काव्य में सर्ग-बद्ध-विधान, नाटकोपमता (जिसमें कथोपकथन की सुष्ठु भंगिमा है) तथा गोपन, विस्मय और कौतूहल की सम्यक योजना है। उनमें सम्यक चरित्रचित्रण है, कथोपकथन है, जीवन के विविध चित्र और कथावस्तु का सम्यक विभाजन है और उनमें प्रत्येक में भाव या रस की एकाग्रता भी है। एक ही सर्ग में विभिन्न रसों की मटकियाँ नहीं सजाई गई हैं।

अन्तर्भावात्मक या आत्मगत (Subjective) काव्यों में भावोच्छ्वास, अनुभूति की विदग्धता, कल्पना का स्पर्श, वेदना की छाया, लाक्षणिक भंगिमा आदि विशेषताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। 'झरना' (प्रसाद) की कविताओं, सुमित्रानन्दन पन्त की 'छाया', 'स्वप्न', अनुरोध आदि पल्लव की कविताओं और निराला की 'जूही की कली', 'अधिवास' जैसी मुक्त रचनाओं में शब्दों में अन्तर्हित भाव की जो भंगिमा है—वह छायावादी शैली के विकास का आधार बनी।

कविता में गीतितत्त्व की प्रधानता तो विशेष उपलब्धि है। १९१३-१४ के पश्चात् तो स्वतन्त्र रूप से गीत-धारा प्रवाहित होने लगी है। उनके पूर्व तो वह प्रबन्ध की धारा में ही समाविष्ट थी।

इस प्रकार इस काल में कविता के सभी पार्श्व आलोकित हो उठे हैं।

ख : भाषा-विन्यास

विकास की सीमा

यह जानते हुए भी कि आज की हिन्दी काव्य-भाषा में 'साकेत' और 'कामायनी' की सृष्टि हो चुकी है, जिसमें एक महाकाव्य है तो दूसरा महान काव्य, और जिसमें 'पल्लव' और 'गुंजन' जैसी कोमल-कान्त-पदावली पूर्ण मुक्तक कवितायें 'यामा' और 'दीपशिखा' जैसे महान् गीतिकाव्यों की सृष्टि की जा चुकी है और अब यह विवाद उठाना यातयाम (out-of-date) हो गया है कि खड़ी बोली में काव्य का माध्यम बनने की क्षमता है कि नहीं—इस विषय में नवीन या प्राचीन विद्वानों और कविता-मर्मज्ञों के दो मत नहीं हो सकते कि ब्रजभाषा की कोमलता असंदिग्ध है। ब्रजभाषा की कोमलता के पक्ष में हरिऔधजी ने 'प्रिय-प्रवास' की भूमिका में बहुत कुछ लिखा है। यहाँ पुनर्कथन नहीं करना है, केवल उस स्वयंसिद्धि को मानकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना है।

ब्रजवाणी की शताब्दियों की ललित पदावली से जिनके कर्ण-रन्ध्र पूरित हो चुके थे उन्हें नई (खड़ी) बोली के शैशव की वह लड़खड़ाहट, खड़खड़ाहट अरुचिकर हुई होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है।

ब्रजभाषा की मधुर कविताओं के पश्चात् खड़ी बोली की प्रारम्भिक एक कविता का अवतरण देते हुए एक विद्वान ने लिखा था—

"अब देखिये कैसी भौंड़ी कविता है!-मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है। इससे कविता अच्छी नहीं लगती।"

—जार्ज ग्रियर्सन

यह स्मरणीय है कि यह एक भाषा-विज्ञानवेत्ता का मत है। स्वयं भारतेन्दु और प्रतापनारायण आदि कवियों के मत की चर्चा भी की जा चुकी है। परन्तु

'जयद्रथवध' और 'मौर्यविजय', 'प्रिय-प्रवास' और 'रामचरित-चिंतामणि' 'मिलन' और 'पथिक' जैसे खण्ड काव्य, 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की स्वप्न और 'छाया' जैसी कविताओं तथा 'झरना' के कई गीतों को देखकर भी क्या यही कहा जा सकता है ?

स्पष्ट है कि भाषा के लालित्य और माधुर्य्य का समुचित विकास आलोच्यकाल में हो गया है।

भाषा का आदर्श

इस काल के मंत्रदाता आचार्य द्विवेदी जी भाषा के विकास में प्राणपण से संलग्न थे। वे स्वयं भाषा-विन्यास की दृष्टि से सफल रचना करते थे और अपने वृत्त के कवियों की कविता का संशोधन भी करते थे।

अब देखना यह है कि भाषा का आदर्श क्या था ? भाषा के निम्नलिखित गुण द्विवेदी जी ने बतलाये थे[1]—

(१) भाषा की सुबोधता (प्रसाद-गुण)
(२) भाषा की शुद्धता (व्याकरण सम्मतता)
(३) भाषा की सजीवता (प्रोक्ति-पूर्णता)
(४) भाषा की रसानुरूपता (ओज-माधुर्य)

और अन्त में यह भी कहा था—

'रसवती, ऊर्जस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।'

किसी वस्तु के विकास का मूल्यांकन करने के लिए उसके प्रारम्भ से चलना उचित होता है। हम आलोच्यकाल के प्रवर्तक आचार्य श्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी की लेखनी के दो अवतरण लेते हैं। एक है मात्रिक छन्द में उनकी 'विधि-विडम्बना' से, दूसरा वर्णवृत्त में उनकी 'हे कविते' कविता से :

(१) रम्यरूप रसराशि विमलवपु, लीला-ललित मनोहारी,
सब रत्नों में श्रेष्ठ शशिप्रभ अति कमनीय नवलनारी।

१ दे० 'कवि कर्त्तव्य' का विश्लेषण : रूप क्रान्ति की साधना

रच फिर उसको जरा-जीर्ण तू करना है निःशेष,
भला और तुझ जरठ जीव से क्या होगा सुविशेष !

(२) सुरम्यरूपे रसराशि-रञ्जिते,
विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा—
कवीन्द्र-कान्ते कविते ! अहो कहाँ ?

दोनों उद्धरण मई-जून १९०१ के हैं। ये आधार-शिलाएँ थीं जिनके ऊपर भाषा-सौष्ठव का प्रासाद निर्मित हुआ था। ये मील के पत्थर थे, जिनसे हम दूरी की नाप कर सकेंगे।

जिस समय ये कविताएँ लिखी गईं थीं—खड़ी बोली की कविता में दो धाराएँ थीं। एक धारा थी वह जिसमें ब्रज का पुट मिलता था। ऐसी भाषा श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी', 'जगत सचाई सार' आदि में मिलती है। इसमें शब्द को गुरु से लघु बनाकर तोड़ने की निरंकुशता होती थी।

दूसरी धारा थी उर्दू-शैली की। इसमें छन्द भी उर्दू के होते थे जो लय के अनुरूप चलते थे। इसमें बोली को लोक-गम्य बनाने का आग्रह रहता था और शब्द की गुरु-लघु वाली निरंकुशता दिखाई जाती थी। खड़ी बोली में ये दोनों शिथिलताएँ द्विवेदी जी को मान्य न थीं। भाषा सजीव हो परन्तु सुबोध भी। वह सुबोध हो पर शुद्ध भी।

सुबोधता

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का भाषा का आदर्श मैथिलीशरण गुप्त ही प्रस्तुत कर सके। उनकी भाषा कठिन चाहे हो गई हो परन्तु दुर्बोध और अशुद्ध नहीं। उनकी लेखनी से 'जयद्रथवध' और 'भारत-भारती' की सृष्टि हुई तो वर्षों तक इन दोनों काव्यों की ही भाषा का सौष्ठव अनुकरणीय हो गया। उसमें खड़ी बोली की जो गरिमा, जो सुषमा प्रस्तुत हुई वह एक मानदण्ड बन गई, वह क्रमिक रूप से उत्कर्ष की ओर ही अग्रसर हुई :

भूलोक का गौरव प्रकृति का पुण्यलीला स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ ?

सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन भारतवर्ष है ?[1]

इसका ही अनुसरण उनके अनुज सियारामशरण गुप्त की भाषा में है :

पूर्णचन्द्र है उदित सुनील नभोमंडल में;
चारु चन्द्रिका छिटक रही है वसुधातल में।
विहग-गणों का बन्द हुआ है आना-जाना;
नहीं रुका है किन्तु पिकों का मधु बरसाना।[2]

श्री मैथिलीशरण इस काल के कवियों के आदर्श हैं। श्री रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी और श्री गोकुलचन्द्र शर्मा की भाषा भी हमें मैथिलीशरण की ही अनुसारिणी दिखाई देती है।

शुद्धता

इस परिपाटी के कवि शब्दों का तत्सम रूप रखने के पक्षपाती थे। तद्भव रूप को वे ब्रजभाषा के लिए सुरक्षित मानते थे। कदाचित् द्विवेदी जी का शुद्धता का यही अर्थ था। इसके फलस्वरूप भाषा में ऐसी श्रुति-कर्कशता आ जाती थी :

१ पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता।
२ दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।[1]

भाषा के शुद्धिवाद के आगे श्रुतिरंजन का तत्त्व उपेक्षित होता रहा। यह वृत्ति धीरे-धीरे सरलता की ओर उन्मुख है—एक उदाहरण लीजिए—

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है।
हा अन्न ! हा हा अन्न का रव गूँजता सब ओर है;
आते प्रभञ्जन से यथा तरु मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।[1]

इस उदाहरण में भी 'दुर्भिक्ष-रव, प्रभञ्जन, तरु-मध्य, पत्र, सर्वत्र शब्द हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। यह तो अच्छा हुआ कि कवि ने 'बुभुक्षित भिक्षुक' नहीं लिखा ! स्पष्ट है कि कवि यहाँ सामान्य स्तर पर भी उतरने में प्रयत्नशील है। वह कुछ कुछ सफल भी है—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

---

१. 'भारत-भारती' २. ''मौर्यविजय'

निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे।
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे ?[१]

यहाँ केवल 'परस्पर', 'नेत्र' और 'शुष्क' शब्द ही विचारणीय हैं। ये सब उदाहरण एक ही पुस्तक के हैं जिससे भाषा-शैली के विविध स्तरों का अनुमान हो जाए।

गुप्तजी को क्लिष्ट भाषा का ही आग्रह है यह कहना समुचित नहीं। वे तो ठेठ प्रोक्ति का भी प्रयोग करते हैं—'बारह बरस दिल्ली रहे पर भाड़ ही झोंका किये !' इसी प्रकार का उदाहरण हैं—

'हो आध सेर कबाब मुझको एक सेर शराब हो,
नूरजहाँ की सल्तनत है, खूब हो कि खराब हो !'[१]

फिर भी 'भारतभारती' में पर्याप्त मात्रा में संस्कृतोगम ऊर्जस्विता है—कदाचित् भारतीय गौरव को वही प्रतिध्वनित भी कर सकती थी। अपनी उन रचनाओं में गुप्तजी निम्न स्तर पर उतर आये हैं—जहाँ उन्होंने सर्वहारा का जीवन लिया है—

पहला ही ऋण नहीं चुका है रहँटी बीज खवाई का ;
कैसे चुके लगा है झगड़ा सबके साथ सवाई का ;
खेती में क्या सार रहा अब कर देकर को बचता है,
कड़े व्याज के बड़े पेट में सभी फलों में पचता है।[२]

यह कवि का यथार्थवादी स्पर्श अभिनन्दनीय है।

जमींदार ने कहा कि "सुनलो कहते हैं हम साफ़—
अबकी बार फ़सल फिर बिगड़े या लगान हो माफ़
पर हम जिम्मेदार नहीं हैं छोड़ेंगे न छदाम,
जो तुमको मंजूर न हो तो देखो अपना काम।"[३]

'किसान' में ऐसे उदाहरण प्रचुर परिमाण में हैं। वस्तुतः मैथिली बाबू दोनों हाथों से कविता लिखते थे। कुछ कविताएँ उनकी बायें हाथ की लिखी हुई हैं, कुछ दायें हाथ की। आदर्शवाद और उदात्तवाद को वे दायें हाथ से अंकित करते थे, यथातथ्य जीवन के चित्र, वेदना के स्वर वे बायें हाथ से अंकित करते थे।

---

१. 'भारत भारती' २. किसान (बाल्य और विवाह) ३. 'किसान' (गार्हस्थ्य)

यही समता हमें 'हरिऔध'जी में मिलती है। यह कवि भाषा का पारगामी-पारदर्शी पंडित है। एक ओर वह क्लिष्ट से क्लिष्ट स्तोत्रोपम पंक्तियों की सृष्टि कर सकता है। 'प्रियप्रवास' में ऐसी संस्कृत की छाया प्रचुर है—

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता-सर्वत्र-सम्मानिता
रोगी-वृद्ध-जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा
सद्भावातिरता अनन्यहृदया सत्प्रेम संपोषिका
राधा थी सुमना प्रसन्न-वदना स्त्रीजाति रत्नोपमा।[1]

तो दूसरी ओर चौपदों में ठेठ बोली की छटा भी दिखा सकता है—

जी लगा जाति के सुनो दुखड़े।
सच्च कहते हुए डिगो न डरो।
एक क्या लाख जोड़ बन्द लगें।
बन्द तुम कान मुँह कभी न करो।[2]

दोनों अतिवादों में यह सामान्य गुण या प्रवृत्ति तो हम पाते हैं कि कवि भाषा-शिल्प का धनी है। संस्कृत भाषा की स्तोत्रोपम समास-शैली हो चाहें लोक-प्रयुक्त भाषा की प्रोक्तिपूर्ण शैली, उसमें पृथक् पृथक् निजस्वता है। 'प्रियप्रवास' में उन्हें संस्कृत के वृत्त मिले थे, जो हिन्दी के अपने न थे; फलत: क्लिष्टता सहज-स्वाभाविक हो गई। परन्तु चौपदों में उन्हें कोई बाधा न थी, पर उन्होंने प्रोक्ति-शिल्प का बन्धन अपने ऊपर ले लिया था। अस्तु, प्रोक्ति-प्रयोग में हरिऔध से बढ़कर कोई न हो सका। सनेही जी में इन्हीं की भाषा का अनुसरण है।

'निरंकुशता'

ब्रजभाषा के कुंज-निकुंज से एकदम बाहर आने पर हिन्दी कवि के सामने कठिनाइयाँ आ गईं। ब्रजभाषा में चिर प्रयुक्त शब्द नितान्त बहिष्कृत हो गये और उर्दू के शब्द हिन्दी के चौके से बाहर समझे गये। फिर भी कवियों ने 'निरंकुशता' का धर्म स्वीकार किया और ब्रज के तथा दूसरी बोलियों के शब्दों का प्रयोग किया। 'प्रियप्रवास' की भूमिका में कवि ने स्पष्टीकरण दिया—

१. 'प्रियप्रवास' २. 'चोखे चौपदे'

"सब भाषाओं में गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है ; कारण यह है कि छन्द के नियम में बँध जाने से ऐसी अवस्था प्रायः उपस्थित हो जाती है कि जब उसमें शब्दों को तोड़-मरोड़ कर रखना पड़ता है या उसमें कुछ ऐसे शब्द सुविधा के लिए रख देने पड़ते हैं, जो गद्य में व्यवहृत नहीं होते।"[१]

कवि-कर्म की कठोरता का विस्तृत विवेचन हरिऔधजी ने किया है। मात्रा या वर्णन की बेड़ी के होते हुए भाषा की स्पष्टता, प्रसाद, ओज, माधुर्य, सौष्ठव इत्यादि अनेक साध्य उसके सामने रहते हैं। 'प्रियप्रवास' में उन्होंने 'लालित्य' के आग्रह से ही ऐसे प्रयोग किये—

१ रोये बिना न छन भी मन मानता था।
२ रोना महा अशुभ जान पयान बेला।

इन दोनों के स्थान पर तत्सम रूप (क्षण, प्रयाण) रक्खे जा सकते थे परन्तु कवि ने इनमें लालित्य पाया। ब्रजभाषा को वे, हिन्दी की ही शैली के रूप में, इतना वहिष्कृत नहीं करना चाहते। बिलग, बगर, बोरना, पैन्हते, विलसती, अवलोकतो, लौ, यक, पै, औ, ए, प्रयोगों में 'निरंकुशता' देखने से पहले हमें कवि को मूल भावना को प्रशस्ति देनी होगी। विम्बोष्ठ-शोभा, स्वेदाम्ब, सँशोभिता, प्रावर्य, ईदृशी, संज्ञक, तथैव, बिबि, घोटक, उड्डीयमाना, सदसि, मुहुर्मुहुः आदि क्लिष्ट प्रयोग भी हिन्दी में दुष्पाच्य रहेंगे। ये प्रयोग 'प्रिय प्रवास' के हैं।

संस्कृत-संस्कार वाले कवियों की कविता में संस्कृताभास उच्चारण ही दिखाई दिया। यथा मैथिलीशरण गुप्त का यह छन्द—

निदाघज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी
भुलाने जाता था निज विमल वंशव्रत सभी
दिया पत्रद्वारा नव बल मुझे आज तुमने।
सुसाक्षी हैं मेरे विदित कुलदेवग्रहपति।[२]

यहाँ प्रयुक्त कुछ शब्दों में 'घ', 'श', 'त्र', व, और 'ति' को गुरुवत् उच्चारण करना पड़ता है। यह संस्कृत की प्रकृति है। संस्कृत वृत्तों में यह अधिक लक्षित हुई। धीरे धीरे यह मिट भी गई, परन्तु वासनारूप से बनी

१ प्रियप्रवास : भूमिका

रही। कुछ और कवियों में भी इस काल में यह प्रवृत्ति है—'जब मृतप्राय सा लौट चला वह घर को (सियारामशरण गुप्त)। 'पितृशोक' में 'तृ' को लघुवत् उच्चारण करना भी यही प्रवृत्ति है। संस्कृत के दक्कालिमा जैसे शब्द हिन्दी में क्लिष्ट ही माने जायेंगे।

गुप्तजी की भाषा-शैली संस्कृत से रस पाते हुए भी अपनी निजस्वता लिये होती थी। गुप्तजी ने कुछ प्रान्तीय प्रयोग किये कदाचित यथार्थता के पुट के लिए :

हमारी प्रान्तीय बोलियों में कभी कभी ऐसे अर्थपूर्ण शब्द मिल जाते हैं जिनके पर्याय हिन्दी में नहीं मिलते। जब हम अरबी-फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तो आवश्यक होने पर अपनी प्रान्तीय भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए?"[1]

हरिऔधजी की भाषा संस्कृत-पदावली के भार से भी लद जाती थी और ब्रज की भाँति तुतलाने भी लगती थी। उनकी ठेठ हिन्दी की भाषा में दुहरे प्रकार की छटा थी। इसके विषय में हरिऔधजी की मान्यता जाननी चाहिए। हरिऔध जी का मत था—

"अधिकतर ऐसे ही ग्रन्थों की आवश्यकता है जिनकी भाषा बोलचाल की हो, जिससे अधिक हिन्दी भाषाभाषी जनता को लाभ पहुँच सके।" इसलिए सन् १६०० ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के भवन-प्रवेशोत्सव के लिए उन्होंने एक लम्बी कविता 'प्रेम-पुष्पोपहार' लिखी थी, जो 'बोलचाल की भाषा' में थी :

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी!
काम जो हैं आज के दिन तक हुए
हैं न होने के बराबर वे सभी।

यह बन्ध शुद्ध हिन्दी छन्द-प्रकृति में है। परन्तु ऐसे बन्ध भी लिखे थे उन्होंने—

आप ही जिसकी है इतनी बेबसी
है तरसती हाथ हिलाने के लिए।
आस हो सकती है उससे कौन-सी
हो सके है क्या भला उसके किये?

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त

इस दूसरे बन्ध के छन्द की प्रकृति (विशेषतः 'गुरु' को लघु के रूप में पढ़ना), इस के कुछ शब्द (जैसे 'बेबसी') और अभिव्यक्ति की शैली यह तो इंगित करते हैं कि उनका झुकाव उर्दू शैली की कविता की ओर अधिक था।

सामान्यतया इनकी भाषा को 'ठेठ हिन्दी' कहा जा सकता है, जो उनके 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (गद्य-कृति) की ही प्रतिकृति है। देखिए—

'धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपने ठौरों खड़े हैं, उन की हरियाली भी वैसे ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़िया वैसे ही बोल रही हैं। रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चांदनी वैसी ही छिटकी।' ...

भाषा के अन्य गुणों के प्रकाश में अब हम कविता को देखें।

सजीवता : प्रोक्ति-चमत्कार

सजीव और प्रोक्ति चमत्कार-पूर्ण भाषा देने वालों में अग्रगण्य स्थान है श्री 'हरिऔध' का। उन्होंने एक ग्रन्थ तक इसी दृष्टि से लिखा।

"मैंने 'बोलचाल' नाम की एक पुस्तक लिखी है। बाल से लेकर तलवे तक जितने अंग हैं उन सब अंगों के कुल मुहाविरों पर, इनमें पैंतीस सौ से अधिक चौपदे हैं। अंगों के मुहावरों के अलावा और भी बहुत से मुहावरे काम पड़ने पर इसमें आ गए हैं। चौपदे बिलकुल बोलचाल के रँग में ढले हैं, नमक मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है, गढ़ी और सीधी-सादी बातें भी एक सी नहीं होतीं चौपदे और बोलचाल की भाषा में अगर भेद है तो इतना ही।"

हरिऔधजी के इन शब्दों में उनका उद्देश्य स्पष्ट है। वे तो गद्य भी लिखेंगे 'पूँजी वालों का पेट दिन दिन मोटा हो रहा है, पर किसी सटे पेट वाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बंध जाती है। संडे मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाब लें पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जीते हैं,

हम उन्हीं को निगल रहे हैं। और जो हमारे भरोसे पाँव फैलाकर सोते हैं हम उन्हीं को आँखें बन्द करके लूट रहे हैं। हमी में डूबकर पानी पाने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खड़े बाल निगलनेवाले हैं, आग लगाकर पानी का दौड़ने वाले हैं, रंगे सियार हैं, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।'

बात को चटपटी करने की इसी प्रवृत्ति से कवि ने प्रोक्ति-चमत्कार कविता में दिखाया हैं। कविता प्रधानतया रागात्मक होने के कारण मन और आत्मा को स्पर्श करती है प्रज्ञात्मक साधनों से नहीं।

हरिऔध जी के चौपदे अवश्य ही शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ति-काव्य की श्रेणी में परिगणित होंगे। इनमें चमत्कार-वृत्ति ही प्रधान है। कुछ उदाहरण देखिए—

दें न हलवे छीन तो करवे न लें
नाथ कब तक देखते जलवे रहें,
कब तलक बलवे रहेंगे देश में
कब तलक हम चाटते तलवे रहें।

स्पष्ट है कि 'हलवे, जलवे, बलवे, तलवे' के मोह ने ही उनके भावों को विजड़ित किया है।

भाव-प्रकाशन में भी अतिप्रोक्ति-प्रयोग से बाधा आती है—

(१) उत्साहभाव :-

हम नहीं हैं फूल जो वे दें मसल।
है न ओले जो हवा लगते गलें।
है न हलवे जाय जो कोई निगल
है न चींटी जो हमें तलवे मलें।

(२) क्रोधभाव

घोंटते जो लोग हैं उसका गला,
क्यों नहीं उनपर लहू हम गार लें।
है हमारी जाति का दम घुट रहा,
हम भला दम किस तरह से मार लें।

उनका यह चौपदा कहीं अधिक प्रभावशाली है—

जबकि कस ली पत गँवाने पर कमर।
पत उभरने का रहा तब कौन डर ।
बेपरदे क्यों हो न परदेवालियाँ ।
पड़ गया परदा हमारी आँख पर ।

इसे पढ़कर तो अकबर का कलाम सामने आ जाता है—

बेपरदा नजर आयीं कल जो चन्द बीबियाँ
'अकबर' जमी में ग़ैरते कौमी से गड़ गया।
पूछा जो उनसे आपका परदा कहाँ गया ?
कहने लगीं कि अक्ल पै मरदों की पड़ गया।

इस काल में खड़ी बोली कविता करनेवालों का एक वर्ग ऐसा है जो अलंकारवादी है जो भाव से अधिक भाषा-शिल्प का विश्वासी है।

श्री हरिऔध का हिन्दी के भाषा-शिल्प पर अच्छा अधिकार है, परन्तु उसमें प्रयत्न और कौशल इतना प्रखर है कि कृत्रिमता की पुट आ जाती है और सहज सरल भाव के चारुत्व पर आघात पहुँचाता है। सामान्य वर्णन में भी प्रयत्न प्रोक्ति-चमत्कार दिखाने का है :

आँखों को दे खोल भरम का परदा टाले,
जी का सारा मैल कान को फूंक निकाले।
गुरू चाहिए हमें ठीक पारस के ऐसा,
जो लोहे की कसर मिटा सोना कर डाले।

भाषा का विशाल कोष इस महामनीषी के मस्तिष्क में था कि जो शब्द-रूप में सरलतम किन्तु प्रोक्ति में कठिनतम भाषा में गलता-ढलता रहा।

श्री 'सनेही' भी हरिऔध के ही पीछे पीछे वाक्चातुर्य में संलग्न रहे। उनकी विशेषता यह है कि वे ऐसी प्रोक्तियों (मुहावरों) की योजना कर लेते हैं जो प्रायः अटपट और अपरिचित होती हैं—

करके अत्याचार अनाथों पर जो अकड़ा,
रहकर पापासक्त पुण्य का पंथ न पकड़ा।
भरता हरदम रहा कुटिल कलुषों का छकड़ा,
रहा स्वार्थ वश विकट मोह बंधन में जकड़ा।
संसार-वन-स्थल छानकर खोज विषम विष फल लिया,
इस कर्म भूमि में आप ही कहिए क्या उसने किया ?

उनकी प्रतिनिधि कविता का एक और उदाहरण लिया जा सकता है :

सहकर सिर पर भार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रंगमहल सी जेल आहनी गहना होगा,
किन्तु न मुख से कभी हन्त ! हा! कहना होगा।
डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से
भिड़ना होगा ठोंक कर खम अनीति अन्याय से

सनेही जी उर्दू के प्रभाव में थे अतः उर्दू शब्दों का खुलकर प्रयोग करते थे। जहर, मौत, गम, बाज़, मंजिल के साथ-साथ निश्चेष्ट, भवजनित विषाद, आग्रह, द्वेष, पयोनिधि, आमरण का भी प्रयोग करते हैं वे।

एक और कवि हैं श्री रामचरित उपाध्याय जिनकी कविता में भाषा-विन्यास के शिल्प के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य अच्छा मिलेगा :

(क) चतुर है चतुरानन सा वही
सुभग भाग्य विभूषित भाल है।
मन जिसे मन में परकाव्य की
रुचिरता चिरतापकरी न हो।

(विधि-विडम्बना)

(ख) दुखद है तुमको जनकात्मजा,
तुरत दूर उसे कर दीजिए।
सुखद हो सकती न उलूक को,
नय-विशारद शारद-चन्द्रिका।

('रामचरित-चिन्तामणि')

शब्द-शिल्प का प्रभाव इस काल की कविता में विशेष परिलक्षित होता है। इस शब्द-शिल्प के शैवाल-जाल में काव्य की धारा कुछ-कुछ आच्छन्न हो होगई थी। जब कवि बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टि केन्द्रित कर देता है तो अन्तः सौन्दर्य उपेक्षित हो जाता है। कई कवियों की दृष्टि में कविता की श्रेष्ठता अलंकार में बस गई थी :

प्राण-दान देकर भी प्रण का पालन करने वाला है।
डरनेवाला नहीं खलों से रण में मरने वाला है।
प्रणतजनों के लिए प्रणय से प्रतिपल का प्रतिपाल है।
भारत, भव्य भाव भूषित तू भूमण्डल का भाल है।

इस प्रकार कविता शब्द-शिल्प के आवेश-समावेश की ओर बढ़ रही थी—

धर धीरज धर्म धुरन्धर जो धूर्तों को धता बताते हैं।
नय नदी नीर में निर्मत्सर नेकी कर नित्य नहाते हैं।
चल चाव चली आई चिर की चतुरों के चित्त चुराते हैं।
तप-तत्परता से तृप्त, ताप तीनों ही नहीं तपाते हैं!

(रूपनारायण पाण्डेय)

इस प्रकार की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया पुनः अन्तःसौन्दर्य की स्थापना द्वारा होती है। शब्द-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य को बनाये रखनेवालों में मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी तथा गोपालशरण सिंह आदि ही दिखाई दिये। कुछ नये कवियों ने इसमें विशेष योग दिया। यह भाषा की एक कला-क्रान्ति थी।

दूसरे ओर कुछ कवि स्वतंत्ररूप से लाक्षणिक भंगिमा दिखा रहे थे 'एक भारतीय आत्मा' ने (१६०८ में) 'शान्ताकारं' प्रार्थना पर एक कविता लिखी थी—

मेरे मन की जान न पाये बने न मेरे हामी,
घट-घट अन्तर्यामी कैसे ? तीन लोक के स्वामी !
भाव-चिन्धियों में ममता का डाल मसाला ताजा,
चिक्कण हृदयपत्र प्रस्तुत है अपना चित्र बनाजा !
नवधा की नौ कोनेवाली जिस पर फ्रेम लगादूँ,
चन्दन अक्षत भूल प्राण का जिस पर फूल चढ़ादूँ !

द्विवेदी जी के प्रभाव से पृथक् रहकर श्री जयशंकरप्रसाद कुछ अधिक ध्वन्यात्मक भाषा की निधि दे रहे थे। 'झरना' की कविताओं में से दो उदाहरण लीजिए—

१. जब करता हूँ कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो आती झंकार।
चमत्कृत होता हूँ मन में!

२. चाँदनी धुली हुई है आज बिछलते हैं तितली के पंख
सम्हल कर मिलकर बजते साज मधुर उठती है तान असंख
तरल हीरक लहराता शांत सरल आशा का पूरित ताल
सिताबी छोड़ रहा विधु कांत बिछा है सेज कमलिनी जाल

इसी समय एक नवप्रतिभावान् कवि सुमित्रानन्दन पंत ने प्रवेश पाया—

स्वर्णगगन सा एक ज्योति से आलिंगित जग का परिचय,
इन्दु विचुम्बित बाल-जलद का मेरी आशा का अभिनय

इस कवि की भाषा में एक नई लाक्षणिक भंगिमा थी। पंतजी ने 'पल्लव' की कवितायें उन्हीं दिनों लिखीं थीं जिनमें भाषा का लावण्य था:—विनय, मोह, वसन्तश्री, स्वप्न, छाया, विसर्जन, आकांक्षा, बालापन, विश्वव्याप्ति, याचना आदि भाषा के क्षेत्र में एक नया युग आ गया फिर तो ऐसी कवितायें लिखा जाना सामान्य बात हो गई।—

सुरसरि-हिय में छलक रही है मेरे ही आँसू की धार,
नव वसन्त की सुषमा में है बिखरा मेरा ही शृंगार।
कोयल के इस कलित कंठ में प्रतिध्वनित है मेरा गान,
निखिल विश्व की सीमा में ही परिमित है मेरा अवसान

(गोविन्द वल्लभ पन्त : मैं)

द्विवेदी जी अपने मतानुसार कविता में भी गद्य की सी शब्द रचना के पक्षपाती थे। वे उन्ही शब्दों का प्रयोग कविता में होने देना चाहते थे जिन को व्याकरण-दृष्टि से शुद्धता का प्रमाण-पत्र मिल चुका हो।

कई कवि उर्दू शब्दों या ठेठ हिंदी के द्वारा भाषा में प्रवाह अधिक लाने के पक्षपाती हैं और वे उनमें उर्दू शब्द के प्रयोग द्वारा यह साध्य करते हैं ।

उर्दू के शब्द का प्रयोग होना चाहिए कि नहीं यह भाषा-शैली का विषय रहा है । युग प्रवर्तक द्विवेदी जी को इनसे विकर्षण न था। उनके पद्यों में निहाल, सायवान, बेहतर जैसे शब्द आये हैं। गद्य में भी वे खिचड़ी भाषा का प्रयोग करते थे । उनका प्रयत्न यह होता था कि गद्य-पद्य की भाषायें दूर-दूर हटने के स्थान पर निकट आयें ।

किसी काल विशेष में (और वह काल तभी होता है जब भाव या विषय के अनुरूप भाषा निर्माण हो रहा होता है) ऐसी प्रवृत्ति स्तुत्य और अभिनन्दनीय हो भी जाय परन्तु अन्ततः काव्य की भाषा गद्य से अवश्य ही भिन्न रहेगी। कविता का लोक भावना और कल्पना का होता है। उसकी अपनी संस्कृति होती है । अपने शब्द-विशेष प्रयोग विशेष होते हैं, गद्य में वे नहीं जमते । 'नयन' का प्रयोग ही लीजिए; यह एक कवितानुकूल (poetic) शब्द है, गद्यानुकूल (prosaic) नहीं । गद्य में हम पद, कर, अधर, शीर्ष, कर्ण नासिका आदि शब्द भी नहीं लिखते । लोक-व्यवहार में तो हम नभ, अग्नि, पवन, जल, पृथ्वी—आदि का प्रयोग भी प्रायः नहीं करते । इनके स्थान पर हम आकाश (आसमान), आग, वायु (हवा), पानी और धरती (जमीन) का ही प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार भाषित भाषा और लिखित भाषा में अन्तर (दूरी) है, उसी प्रकार गद्य और पद्य की भाषा में। निस्संदेह काव्यात्मक गद्य (गद्यकाव्य) में यह दूरी मिट जाती है । इससे गद्य और पद्य की संस्कृतियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है । मेरा मत है कि दोनों के समन्वय के लिए प्रयत्न स्वस्थता का सूचक नहीं हैं। गद्य का ही मानदंड इतना ऊंचा उठना चाहिए कि वह कविता के समकक्ष हो जाए। भावभंगिमा, अर्थभंगिमा आदि के प्रयोग से ही वह हो सकता है।

शब्द-निर्माण

शब्द-शास्त्र कहता है एक दिन विद्वानों ने मिलकर शब्दों का सर्व-सम्मति से निर्माण नहीं कर लिया था। प्रतिभा के और प्रयोग के वे फल हैं।

इस काल में मैथिलीशरण गुप्त ने समास और सन्धि से शब्द-निर्माण के कई प्रयोग किये ।

शब्द-निर्माण कला में सुमित्रानन्दन पन्त बड़े कुशल हैं। उनमें गुप्त जी की काव्य कला और काव्य-शिल्प का तो पूर्ण संस्कार था ही, रवीन्द्र के शब्द-विन्यास की छाया थी और शेली-कीट्स का रोमांटिक प्रभाव भी था। फलतः नयी-नयी भाव-भंगिमा वाले शब्द उन्होंने हिन्दी से भिन्न भाषाओं में पाये और उन्होंने उन्हें हिन्दी में रूपान्तरित किया।

काव्य के भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि पूर्व कवियों द्वारा प्रयुक्त सब शब्द आने वाले कवियों की पूँजी हो जाते हैं, उनकी उपलब्धियाँ उन्हें सहज सुलभ रहती हैं। उनके आगे की दिशा बनाना ही उनका काम रहता है। सुमित्रानन्दन पन्त के सामने मैथिलीशरण गुप्त तथा रामनरेश त्रिपाठी का भाषा-सौष्ठव था पन्त जी ने शब्दों में कई गुणात्मक परिवर्तन किये।

अलस	से	अलसित
अवसान	से	अवसित
इंद्र धनुष	से	इंद्रधनुषी
ऊर्मि	से	ऊर्मिल
फेन	से	फेनिल
स्वप्न	से	स्वप्निल
स्वर्ण	से	स्वर्णिम और स्वर्णिल

आदि राशि-राशि शब्द अकेले पंतजी ने ही बनाये।

पंतजी ने ब्रज के ही कई शब्दों को नवजन्म दिया। वे हैं—दुराव (गोपन), बोर (मग्न करना), हुलास (उल्लास), गह (ग्रहण), (विलम्ब, विराम), जुड़ाना (शीतल करना) उन्हों। कई स्वेच्छाचारी प्रयोग भी किये जैसे—प्रभात को स्त्रीलिंग मे लिखना, हर सिंगार को 'सिंगार और 'प्रिय प्रिय आह्लाद' का 'प्रिय प्रि' आह्लाद' लिखना आदि। और को औ' लिखना तो प्राचीन ब्रज-परिपाटी ही थी।

अंग्रेजी भाषा के कोष में से भी हमें कई अच्छी प्रोक्तियाँ मिलीं—

(१) नया पन्ना पलटे इतिहास (turn a new page) (गुप्त)
(२) हे विधि! फिर अनुवादित कर दो (translate) (पंत)
(३) रेखांकित (Underlined) (पंत)

ग : छन्द-विन्यास

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के सभी छन्दों के प्रयोग के साथ-साथ संस्कृत के प्राचीन और उर्दू के नवीन छन्दों के प्रयोग का आदेश दिया था। बंगला में प्रयुक्त (अंग्रेज़ी के अनुकरण) के अमित्राक्षर छन्द के प्रयोग को भी वे अभिनंदनीय मानते थे। उन्होंने छन्द के विशेषीकरण का भी आग्रह किया था। मैथिलीशरण गुप्त ने हरिगीतिका में, हरिऔध जी ने उर्दू शैली के चौपदों छपदों में तथा गणवृतो में, नाथूरामशंकर शर्मा ने कवित्तों में, राय देवी प्रसाद पूर्ण ने 'कुंडलिया' में, सियारामशरण गुप्त ने रोला में, रामचरित उपाध्याय ने द्रुत विलम्बित तथा आर्यावृत्त में विशेषीकरण दिखाया। 'सनेही' जी तथा 'दीन' जी उर्दू बहरों का प्रयोग करते थे।

छन्दों का पुनरुत्थान

रीतियुग में छन्द कवित्त-सवैया में सीमित हो गया था। बिहारी आदि के दोहे उस नियम के अपवाद मात्र थे। हिन्दी के छन्दों को पुनर्जीवन मिला था भारतेन्दु काल में, परन्तु आलोच्यकाल में जब उनका विकास होता जा रहा था, संस्कृत छन्दों की धूम मच गई। उसके अन्त्यानुप्रास और गण के कठोरतम बन्धन से छूटने को स्वच्छन्दवादी वृत्ति ने हिन्दी छंद का पुनरुत्थान किया। इस काल में हिन्दी के अपने छंद पहली बार इतनी विपुल संख्या में लिये गये। वे हिन्दी छंद हैं—रोला, छप्पय, कुण्डलिया, सार, सरसी, गीतिका, हरिगीतिका, ताटंक-लावनी, वीर आदि। उर्दू की लयों तथा अतुकांत के भी सुन्दर प्रयोग हुए।

हिन्दी छन्द पर इस काल में बाह्य प्रभाव प्रचुर परिमाण में है। इसे देखने के लिए पहले छन्द-विधान और हिन्दी-छन्द की प्रकृति का अनुशीलन करना होगा।

हिन्दी-छन्द पर शास्त्रीय दृष्टि

कविता और छन्द का सम्बन्ध कविता और संगीत का सम्बन्ध है। संगीत की लय का एक आलम्बन है छन्द। छन्द लय के बिना निर्जीव है क्योंकि लय ही छन्द का श्वास है। हिन्दी में द्विविध छन्दों का प्रयोग है—संस्कृत के वर्ण-प्रधान—'वर्णिक' और हिन्दी के अपने मात्रा-प्रधान—'मात्रिक'।

वर्णिक में भी दो विभेद हैं—(१) गणाश्रित (गणात्मक) और (२) वर्णाश्रित (वर्णात्मक)

गणाश्रित छन्दों में वर्णत्रय (गण) के लघु-गुरु प्रस्तार से न जाने कितने ही प्रकार हो ते हैं। 'विद्युल्लेखा', 'सोमराजी', 'विमोहा', 'तिलका', 'मालती' 'मोहन', 'शशिवदना' नामक छन्दों से लेकर 'शालिनी', 'इंदिरा', 'रथोद्धता' 'भुजंगी', 'इन्द्रवज्रा', 'उपेंद्र ज्रा', 'तोटक', 'स्रग्विणी', 'भुजंगप्रयात', 'इंद्र-वंशा', 'वंशस्थ', 'द्रुतविलम्बित', 'मौक्तिकदाम', 'वसन्ततिलका', 'चामर', 'मालिनी', 'मन्दाक्रान्ता', 'शिखरिणी', 'शार्दूलविक्रीड़ित', 'स्रग्धरा' और 'मदिरा', 'सुमुखी', 'मत्तगयन्द', 'चकोर', 'दुर्मिल', 'मुक्तहरा', 'वाम', 'किरीट', 'सुन्दरी', 'मत्तमातंग लीलाकर' आदि आदि इत्यादि सभी गणाश्रित छन्द इसके क्रोड़ में आ जाते हैं। इस लम्बी सूची में भी दो वर्ग और बन सकते हैं। एक वे हैं जो एक में ही गण की आवृत्ति से बनते हैं (जैसे तोटक, मौक्तिकदाम और सवैया जातीय छन्द)। दूसरे में वे हैं जो अनेक गणों के सम्मिश्रण से बनते हैं (जैसे द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता आदि)। अतः इन्हें हम क्रमशः (१) समगणात्मक और (२) असमगणात्मक वर्णिक छन्द कहेंगे। यह मेरा अपना नामकरण है।

वर्णाश्रित छन्द वह है जो वर्णाश्रित होकर भी मुक्तक है। इसके उदाहरण हैं—'घनाक्षरी' (मनहरण) और 'जनहरण', 'रूपघनाक्षरी' और जलहरण, और 'देवघनाक्षरी' आदि। इनमें वर्णों की गणना का ही विधान है, उसके क्रम का (अर्थात् गण का) नहीं।

छन्द के इन दो बड़े भेदों, फिर तीन छोटे भेदों, अन्त में चार विशद भेदों को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है।
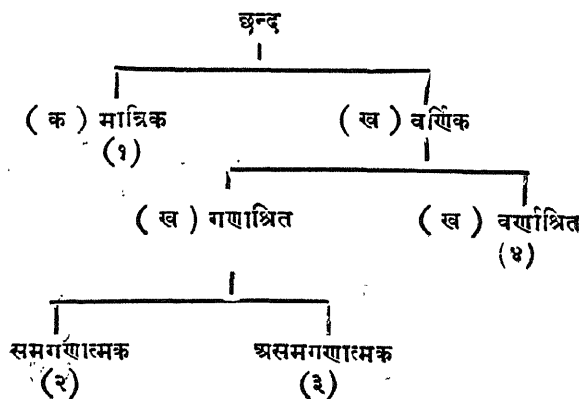
छन्द का एक विशद शास्त्र है और इससे अधिक विभेदों में जाना विषयान्तर होगा। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का वर्गीकरण 'छन्द प्रभाकर' में भी नहीं है।

लय और अन्त्यानुप्रास

पुराकाल में प्रचलित संस्कृत छन्द वर्णिक होते थे। वे अपने अन्त्यानुप्रास में मुक्त होकर भी आन्तरिक कठोर अनुशासन में बद्ध थे। यह अनुशासन गणों का था। उनका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि उनमें अन्त्यानुप्रास की अपेक्षा नहीं रह जाती। कवि पन्त ने लिखा है—

"वर्णिक छन्दों में जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है वह 'तुक' के संकेतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है, वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती है, तुक का अंकुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है।"[1]

हिन्दी के छन्द में 'तुक' का मर्यादा-बन्धन है—श्रवण में अनुरणन के लिए; किन्तु उसकी लय में तरंगिणी की धारा की भाँति निर्बन्धता है। शब्द की छोटी-छोटी लहरियों को यह स्वच्छन्दता है कि वे यदि धारा से बाहर न जायें तो चञ्चल क्रीड़ा में उछल-कूद और लास-विलास कर सकें। यही कारण है कि संस्कृत वर्णवृत्त की लय-परिभाषा को स्थूल नियमों में बताया जा सकता है; परन्तु हिन्दी छन्द की गति के लक्षण को स्थूल नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। केवल मात्रा का परिमाण और आदि या अन्त में लघु-गुरु आदि का नियम मात्र बताकर संतोष करना पड़ता है।

उदाहरण के लिए—

(क) चौपई, चौपाई, रोला, सरसी, सार, ताटंक, वीर इत्यादि की एक ही लय है। इसको समझने के लिए निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त होंगे—

(१) मेरे जीवन के उद्धार (१५)=चौपई
(२) मेरे जीवन के उद्धारक (१६)=चौपाई
(३) मेरे जीवन के उद्धारक तुम कब आये (२४)=रोला
(४) मेरे जीवन के उद्धारक तुम कब आये प्यार (२७)=सरसी

१ 'पल्लव' की भूमिका

(५) मेरे जीवन के उद्धारक तुम कब आये प्यारे (२८)=सार
(६) मेरे जीवन के उद्धारक तुम कब आये प्यारे पा (३०)=ताटंक
(७) मेरे जीवन के उद्धारक तुम कब आये प्यारे पास (३१)=वीर

(ख) 'रोला' छन्द २४ मात्राओं का होता है और 'गीतिका' छन्द २६ मात्राओं का, परन्तु गीतिका को रोला में दो लघु या एक गुरु जोड़कर ही नहीं बनाया जा सकता। वह भिन्न लय का छन्द है। हाँ, गीतिका हरिगीतिका का सजातीय छन्द है।

(ग) दोहे की तीसरी ही लय है।

इसी प्रकार और भी सजातीय लयों की खोज करके छन्दों का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु यह विषयान्तर होगा।

मेरा उद्देश्य यह बताना है कि हिन्दी के छन्द में लय के कुछ वर्ग हैं और मात्रा के आधार पर उसके परिमाण मात्र निर्धारित हैं। और लय इतनी नमनीय है कि लघु-गुरु के कुछ स्थानों को छोड़कर कोई विशेष बन्धन भी नहीं है। किन्हीं गुरुओं के स्थान पर लघु विराजित किये जा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि इस लय में शब्दों को प्रचुर स्वतन्त्रता है। लय का कोई नियम नहीं है। हिन्दी के छन्द की लय को तो कविगण प्रयोग तथा संस्कार से ही समझते आये हैं।

जब मात्रिक छन्द में लय के अन्तर्गत इतनी स्वच्छन्दता है, तो उसमें 'अन्त्यानुप्रास का बन्धन' भार नहीं कहा जा सकता।

दूसरे शब्दों में यों कहा जाना चाहिए कि संस्कृत के छन्द की लय की एकरूपता ने जो अनुरणन उत्पन्न किया उसी से अन्त्यानुप्रास अनावश्यक हो गया और हिन्दी छन्द की लय की बहुरूपता ने जो अनुरणन नहीं दिया उसी से अन्त्यानुप्रास अभिनन्दनीय हो गया। यह हुई अन्त्यानुप्रास (तुक) के मनोविज्ञान की कुंजी।

हिन्दी में जो सवैया जैसे समगणात्मक छन्दों की प्रतिष्ठा हुई उसमें अपेक्षाकृत लय का बन्धन कम था। भिन्न-भिन्न गणों का निश्चित क्रम योजित करने से एक ही गण कई बार लाना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए उसमें भी अन्त्यानुप्रास स्वीकार्य हो गया। इस अन्त्यानुप्रास का महत्त्व इसी से स्पष्ट है

कि इसे वर्ण-संगीत का एक भेद और शब्दालंकार का एक प्रकार माना गया इससे परित्यक्त कविता को 'बेतुकी' कहा गया जो निंदात्मक शब्द है।

वर्णिक मुक्तक (अर्थात् मनहरण, जलहरण, घनाक्षरी, रूप-घनाक्षरी, देव-घनाक्षरी आदि) छन्द भी हिन्दी में इसीलिए अत्यधिक प्रचलित हुआ कि उसमें शब्द को और भी अधिक स्वतन्त्रता मिल गई थी।

कवि पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में न जाने क्यों कहा ?—

'सवैया तथा कविता छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते।'

जो कारण उन्होंने बताया वह यह है कि—

"सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (monotony) आ जाती है।"

आंशिक रूप से यह सत्य है परन्तु, वस्तुत: सवैया में शब्दों की लघु गुरु सम्बन्धी इतनी स्वतन्त्रता कवियों ने ली है कि वह 'एकरसता' नष्ट हो गई है। उदाहरण के लिए सवैया का एक प्राचीन और एक अर्वाचीन अवतरण दिया जाता है—

(१) अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति लै निकसे!

(२)

करने चले तंग पतंग जलाकर, मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तमतोम का काम तमाम किया, दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह सनेही सनेह की और, सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दु:ख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ।

इन 'दुर्मिल' (८ सगण) सवैयों में पहला तुलसीदास जी का है और दूसरा 'सनेही' का। कवियों ने इनमें 'गुरु' को 'लघु' के रूप में पढ़ने की जो स्वतन्त्रता ली है वह विशेष द्रष्टव्य है।

'कवित्त' को पंत जी ने हिन्दी का 'औरसजात नहीं, पोष्य पुत्र' कहा है यह 'कवित्त' के साथ और हिन्दी के साथ अन्याय है। उन्होंने अपने मत की सिद्धि में लिखा है—

"कूलन में केलिन कछारन में कुञ्जन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त हैं"—इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए—

सु कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुञ्जन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकन्त।
बनन में बगर्‌यो (विपुल) वसन्त॥

अब दोनों को पढ़िए और देखिए कि उन्हीं कूलन केलिन आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छन्दों में किस प्रकार भिन्न भिन्न हो जाता है। कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द में स्वकीय हिंदी का अपना उच्चारण मिलता है।[1]

मेरा मत है कि पंतजी को यहाँ भी भ्रांति हुई है। वस्तुतः कवित्त में उच्चारण-कला ही विशेष प्रस्फुटित होती है। उन्होंने एक विशेष रीति से जिसे चारण-भाट अपनाये हुए हैं, कवित्त को पढ़कर यह निर्णय दे दिया। मैं तो समझता कि कवित्त में इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि गुरु को लघुवत् पढ़ा जाये। शुद्ध रीति सनेही-स्कूल के कवियों में मिलती है। यही तो कवित्त की द्विगुणित विशेषता है कि उसे चारण-पद्धति में भी पढ़ा जा सकता है और सनेही पद्धति में भी।

यदि पन्त जी 'सनेही'-पद्धति की कवित्त की उच्चारण-कला देखते तो वे यह न लिखते—

"पर कवित्त छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है।"[1]

पन्तजी ने यह लिखकर तो अज्ञातभाव से कवित्त छंद की संगीत-कला को प्रशस्ति ही दे डाली है :

"उसमें यति के नियमों के पालनपूर्वक चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है। छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता।"[1]

छंद की प्रकृति और विशेषताओं का तथा बंधन और मुक्ति का इतना विश्लेषण करने के अनन्तर अब हम यह देखेंगे कि आलोच्यकाल में छन्द में किस प्रकार परिवर्तन हुए और उसपर क्या-क्या प्रभाव थे ?

---

१ 'पल्लव' की भूमिका

स्वच्छन्द प्रयोग

कवियों ने पहले कई विषम मात्रिक छन्द बनाये। ये दो प्रकार के थे—

(१) मिश्रछन्द—जिनमें दो छन्दों के चरणों का मिश्रण होता था।

(२) असम छन्द—जिनमें एक बंध की मात्राओं में अनियमित असमता थी।

श्री वागीश्वर मिश्र ने पहले का उदाहरण प्रस्तुत किया था। कई प्राचीन छन्दों को मिलाकर उन्होंने तीसरे छन्द की रचना कर ली थी—

इस संसार दुःख सागर में मग्न रहूँ दिन रैन।
इसीलिए लौकिक आँखों से तुझ को देखा है न॥
तुही है विश्व में आनन्ददात्री।
अकेली बच रही है पुण्यमात्री॥

यह सरसी[1] और सुमेरु[2] का मिश्रण है।

श्रीधर पाठक ने भी भिन्न मात्रिकों को मिलाकर मिश्र छन्द निर्मित किया—

अर्जुन साल कदम्ब केतकी के कानन कम्पायमान कर।
उनके कुसुमों के सौरभ से होवे सुरभित।
ऐसा सुखद समीर मेघ जल सीकर से होकर शीतलतर।
किसके मन को करे नहीं उत्सुक औ चिंतित॥

यह मिश्र छन्द कुछ भिन्न परिपाटी का है। इसमें प्रथम-तृतीय (विषम) और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में समानता है। यह अर्द्धसम का लक्षण है। (जैसे दोहा, सोरठा)।

एक प्रकार के मिश्र छन्द की रचना श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'विधि-विडम्बना' कविता में की थी। 'एकांतवासी योगी' में भी इस प्रकार का प्रयोग हो चुका था।

कवि शंकर ने तो इसी प्रकार छन्द-मिश्रण से अनेक मिश्र छन्द बनाये

१: सरसी २७ मात्रा—कला शंभु विश्राम अन्त गल रचिए सरसी छन्द। ['छान्दसी']

२: सुमेरु १९ मात्रा—लगा उन्नीस मात्र सुमेरु गाओ :(मफाईलुन, मफाईलुन, फऊलुन)"

और भुजंगप्रयात मिलिन्दपाद, तोटक मिलिन्दपाद, कलाधर-मिलिन्दपाद, त्रिविर मिलिन्दपाद आदि) बनाये जिनमें ४ के स्थान पर ६ चरण होते थे।[1]

कवि प्रसाद ने भी मिश्र छन्द के कई प्रयोग किये—

तुम्हारी करुणा ने प्राणेश।	(१६)
बना करके मनमोहन वेश।	(१६)
दीनता को अपनाया······	(१३)
उसी से स्नेह बढ़ाया······	(१३)

अंतिम दो पंक्तियों में 'देव' शब्द जोड़कर संपूर्ण छन्द को रूप दिया जा सकता है। यह 'श्रृङ्गार' छन्द होगा।[2] इसी प्रकार के मिश्र प्रयोग हैं झरना, उपेक्षा करना, वेदने ठहरो आदि 'झरना' की कवितायें। मिश्र छन्दों के प्रयोग यद्यपि इस काल के कई कवियों ने किये किन्तु विरल।

इस काल की संध्या-बेला में पुनः इसी प्रकार के प्रयोग कवि सुमित्रानन्दन पंत ने किये। इन्हें कवि ने 'स्वच्छन्द छन्द' कहा है। परंतु वास्तव में इन्हें असम (मात्रिक) छन्द कहना चाहिए। इनमें अन्त्यानुप्रास होने से इन्हें मुक्त कहना उचित नहीं। कहीं कहीं मात्रायें भी सम आ जाती हैं। प्रायः लय-साम्य भी होता है। जहाँ भिन्न-भिन्न छन्दों की योजना हो वहाँ इन्हें मिश्र-छन्द कह सकते हैं।

एक उदाहरण लीजिए—

वियोगी होगा पहला कवि	(१५ मात्राएँ)
आह से उपजा होगा गान	(१६ मात्राएँ)
उमड़कर आँखों से चुपचाप	(,, ,,)
बही होगी कविता अनजान	(,, ,,)

लय के आग्रह से प्रथम चरण की मात्रा-न्यूनता का ध्यान नहीं जाता।

पंत जी ने इस प्रकार के छन्द भी लिखे—

---

१. पुस्तक का पृष्ठ ६१–६२

२. 'श्रृंगार' : १६ 'सजो सोलह श्रृंगार जतानत' ['छान्दसी']

१. जलद-यान में फिर लघुभार	(१५ मात्राएँ)
जब तू जग को मुक्ता-हार	(१५ ,,)
देती है उपहार-रूप मा !	(१६ ,,)
सुन चातक की आर्त पुकार	(१५ ,,)
जगती का करने उपकार;	(१५ ,,)

यह एक छन्द-बन्ध है; इसमें पाँच पंक्तियों का समावेश किस कुशलता से किया गया है ! इसका एक कारण यह भी है कि चौपाई (१५ मात्रा) की पंक्तियों के साथ 'वीर छन्द' (१६+१५) की ही लय समन्वय पा सकती है।

२. हाय, किसके उर में !	(११ मात्राएँ)
उतारूँ अपने उर का भार।	(१६ ,,)
किसे अब दूँ उपहार—	(१२ ,,)
गूँथ यह अश्रु कणों का हार	(१६ ,,)

यहाँ यदि प्रथम पंक्ति में १२ मात्राएँ (१ लघु जोड़कर) हो सकतीं तो यह कोई (अर्द्ध-सम) छन्द बन सकता था। और निम्नलिखित छन्द में भी पूर्ण स्वच्छन्दता (निर्बन्धता) ही है—

देखता हूँ जब उपवन,	(१३ मात्राएँ)
पियालों में फूलों के।	(,, ,,)
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन,	(१५ ,,)
पिलाता है मधुकर को।	(१३ ,,)

यदि प्रथम चरण में उपवन के पूर्व 'मैं' (२ मात्राएँ) जोड़ दिया जाता और दूसरे तथा चौथे चरणों में 'प्राण' या अन्य कोई (त्रिमात्रिक शब्द) बढ़ा दिया जाता तो इसमें किसी छन्द की कल्पना की जा सकती थी। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि कवि ने अन्त्यानुप्रास का बन्धन भी व्यतिक्रान्त कर दिया है। पर कहीं-कहीं पर कवि ने अन्त्यानुप्रास का क्रम बदल दिया है—

देखता हूँ जब पतला,
इन्द्रधनुषी हलका ;
रेशमी घूँघट बादल का।
खोलती है कुमुद कला ॥

इस प्रकार के छन्द भी मिश्र छन्दों में ही गिने जायेंगे।

संस्कृत का 'संस्कार'

हिन्दी में संस्कृत के छन्दों की विरलता थी—मध्य युग में। जो कवि संस्कृत के साहित्य-संस्कार से अभिभूत थे वे ही उनका प्रयोग करते थे। चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो में कतिपय संस्कृत छन्दों का प्रयोग है। चरणों के इसी प्रकार के और प्रयासों को हम नगण्य कह सकते हैं।

रीतियुग में संस्कृत के पंडित आचार्य केशवदास तो, जिनका यह मत था कि संस्कृत से इतर भाषा में कविता लिखना जड़ता है, अपने काव्य 'रामचन्द्रिका' को संस्कृत के छन्दों की मञ्जूषा बना गये। उनके छन्द में इतना परिवर्तन अवश्य था कि वह अन्त्यानुप्रास के बन्धन में जकड़ा हुआ था। इसके अतिरिक्त भी उस युग में कुछ विरल प्रयोग हुए परन्तु प्रचुरता 'कवित्त' और 'सवैया' की तथा 'दोहा' की रही। ये सब तुकान्त के बन्धन से संयुक्त थे।

आलोच्य-काल में, हम देख चुके हैं कि संस्कृत के वर्णिक छन्दों (गणवृत्तों) का पुनरुत्थान हुआ। आचार्य द्विवेदी से लेकर सिद्ध-प्रसिद्ध सभी कवियों ने संस्कृत के गण-वृत्तों का पुनरुद्धार और प्रचार किया। परन्तु केशवदास की भाँति उन्होंने भी उसमें अन्त्यानुप्रास का बन्धन जोड़ा। यह हिन्दी का अपनापन था।

संस्कृत की प्रास-मुक्ति का स्वस्थ प्रभाव लिया श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने। उन्होंने संस्कृत छन्द को उसी शैली में ग्रहण किया जो संस्कृत के महाकाव्यों में प्रतिष्ठित थी। हिन्दी में आकर ये वर्णिक वृत्त अंत्यानुप्रास का अलंकार पहिन चुके थे और तपोवनवासी गृहस्थ बन गये थे; द्विवेदी जी आदि साहित्यिक नेताओं ने इनसे वह अंत्यानुप्रास का अलंकार छीनना उचित न समझा था। मैथिलीशरण गुप्त, कामताप्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गिरिधर शर्मा आदि-आदि उनके अनुयायी-अनुसारी ही थे।

इस प्रकार की थी गणात्मक छन्दों की यह निधि। यह वह समय और वातावरण था जब मात्रिक छन्द नामशेष से हो गये थे। तब श्री हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' में इसका पूर्ण उत्कर्ष दिखाया। परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि कवियों का यह प्रयोग अधिक नहीं चला और 'गण' का कठोर बन्धन (तुकान्त की मुक्ति के होते हुए भी) कवि-प्रतिभा को सह्य नहीं हुआ। इसका प्रयोग कुछ दिनों बाद समाप्त हो गया।

उर्दू का प्रभाव

उर्दू छन्द-विधान में मात्रिक-वर्णिक छन्दों का नियम न होकर बहरें (लय) हैं; गुरु को लघु बनाने की उनमें स्वच्छन्दता है। इसके अतिरिक्त, ग़ज़ल, कसीदा, रुबाई, मरसिया, मुसल्लस, मुखम्मस, मुसद्दस आदि काव्य-रूप हैं।

उर्दू की बह्रों का प्रभाव हिन्दी के तत्कालीन कई कवियों ने लिया। श्री भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र ने इसका श्रीगणेश किया था। इस काल में श्री हरिऔध, श्री 'दीन', श्री सनेही, श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने विशेषरूप से इधर ही अभिरुचि दिखाई। यों इस कला में हाथ सभी ने दिखाये हैं।

उर्दू प्रचलित लयें (या बह्रें) इस प्रकार की हैं—

(१) मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन फ़ऊलुन
(२) फ़ऊलुन फ़ऊलुन, फ़ऊलुन फ़ऊलुन
(३) फ़ायलातुन फ़ायलातुन, फ़ायलुन
(४) मफ़ऊल, मफ़ाईल, मफ़ाईल, मफ़ाईल

भारतेन्दु ने 'मफ़ाईलुन मफ़ाइलुन फ़ऊलुन' बहर में (जिसे हिन्दी में 'सुमेरु' छन्द कहेंगे) लिखा था—

कहाँ हो ऐ! हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़कर मुझको सिधारे?

तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'फ़ऊलुन, फ़ऊलुन, फ़ऊलुन फ़ऊलुन' बहर में (जिसे हिन्दी में 'भुजंगप्रयात' कहेंगे) लिखा था—

बसो मूरते देवि आर्यों के जी में।
तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे?

इस शैली में सबसे अधिक और अजस्र रूप से हरिऔध ने ही लिखा। उनका 'फायलातुन फायलातुन फ़ायलुन' बहर में (जिसे हिन्दी में 'पीयूषवर्षी' या 'आनन्दवर्द्धक' छन्द कहेंगे) लिखा छन्द देखिए—

प्यार डूबे लोग कहते हैं उमंग,
जो कहो अपना कलेजा काढ़ दूँ।
पर अगर वे निज कलेजा काढ़ दें,
तो कहेगा वह कढ़ा मतलब से हूँ।

(मतलब की दुनिया)

'चौखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' में उनके ऐसे ही असंख्य पद हैं जिनमें उर्दू की बहरें हिन्दी के छन्द बनकर ढली हैं। यह हरिऔध जी की विशेषता है।

रामचन्द्र शुक्ल बी. ए. ने भी इसी छन्द का प्रयोग 'अछूत की आह' में किया :

हाय ! हमने भी कुलीनों की तरह,
जन्म पाया प्यार से पाले गये।
जो बचे फूले फले तब क्या हुआ,
कीट से भी नीचतर माने गये।

लाला भगवानदीन तो खड़ी बोली कविता के लिए उर्दू छन्द को ही उपयुक्त मानते थे। उन्होंने अपना 'वीर पञ्चरत्न' इसी प्रकार के छन्दों में लिखा।

(उदाहरण : मफ़ऊल मफ़ाईल मफ़ाईल मफ़ाईल)

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
दुनिया में सुकवि नाम सदा उसका रहेगा।
जो काव्य में वीरों की सुभग कीर्ति कहेगा॥

(वीर माता : 'वीर पञ्चरत्न')

हिन्दी में यह 'बिहारी-छन्द'[1] होगा और षट्पदी होने के कारण यह होगा 'मुसद्दस'।

'दीन' जी ने ग़ज़लों में भी सिद्धहस्तता प्राप्त की थी। उनकी 'चाँदनी', 'मेहँदी' और 'आँख' शीर्षक कविताएँ ग़ज़लें ही हैं—

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चाँदनी,
खोजती फिरती है किसको आज घर घर चाँदनी ?
घन घटा घूँघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद,
मारी मारी फिरती है इस हेतु दर दर चाँदनी।

---

१. बिहारी : हैं १८ : चार छहौं, आठ रचौ रास बिहारी—'छन्द प्रभाकर'

यह 'फ़ायलातुन, फ़ायलातुन, फ़ायलातुन फ़ायलुन' (गीतिका) लय में है। हिन्दी शब्दों और उर्दू शैली का सुन्दर संगम इसमें हुआ है।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने ग़ज़लों में इनका प्रयोग किया जिनका उल्लेख लोक-गीति प्रकरण में है।

रुबाई

'रुबाई'—चार मिसरों ('चरणों') का छन्द—फ़ारसी-अरबी में अति प्रचलित है। इसमें नीति-उपदेश की कविता अधिक होती है। ईरानी कवि अमर खैयाम की रुबाइयाँ संसार में प्रसिद्ध हैं।

रुबाई में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों में अन्त्यानुप्रास का नियम है। इस काल में कुछ कवियों द्वारा रुबाइयाँ लिखी गईं। उनमें अंत्यानुप्रास 'क-क-ख-क है।

निराला जी की कविता 'नयन' उद्धरणीय है :

> मद भरे वे नलिन-नयन मलीन हैं।
> अल्प जल में या विकल लघुमीन हैं।
> या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी—
> बीत जाने पर हुए ये दीन हैं!

मैथिलीशरण जी की रुबाई देखिए :

> नष्ट हों त्रय-ताप लोचन वृष्टि में,
> दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि में,
> माँगते हैं ईश भी याचक बने,
> उस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि में!

(सरस्वती; मई १९१९)

आगे अमर खैयाम की रुबाइयाँ अनुवाद में भी कवि ने रुबाई का शैली ही अपनाई।

अंग्रेज़ी का प्रभाव

अंग्रेज़ी का छन्द उच्चारण के घात (Accent) पर अवलम्बित है; वह मात्रिक नहीं है। उसमें अतुकान्त (Blank verse) अति प्रचलित है। इसका प्रभाव हिन्दी में बंगला के मार्ग से आया।

अंग्रेज़ी का 'सॉनेट' (Sonnet) वस्तुतः वैयक्तिक (lyric) का एक गीति रूप है। बहिरंग में छन्द-विन्यास की दृष्टि से यह एक ऐसी चतुर्दश-पदी है जिसमें क-ख-ख-क, क-ख-ख-क ग-घ-ग-घ, ग-घ, या क-ख-क-ख, ग-घ-ग-घ, च-छ-च-छ, ज-ज के क्रम से अंत्यानुप्रास योजना होती है।

सम्पूर्ण कविता में एक ही छन्द होना अनिवार्य है—और भाव-सूत्र के अनुसार अष्टपदी और षट्पदी के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध भागों में भी विभाजित करने का आग्रह कई प्रसिद्ध कवियों ने किया है। हिन्दी के कुछ कवियों ने इस रूप को अपनाया है परन्तु छन्द-प्रयोग में पूर्ण स्वतन्त्रता ली है। जुलाई-अगस्त, १९१५ के 'इन्दु' में सॉनेट के सम्बन्ध में श्री लोचनप्रसाद पांडेय ने समसामयिक प्रसिद्ध कवियों और विद्वानों से प्रश्न पूछा था—

"हिन्दी में Sonnets (चतुर्दशपदी कविता) लिखे जायँ या नहीं। Sonnets के लिए मात्रा-वृत्तों में से कौन-सा छन्द चुना जाय ? क्या यही "वीर" छन्द ? इसमें 'तुक' का क्या नियम हो ? क्या अंग्रेजी और बंगाली Sonnets की शैली पर हिंदी में भी 'तुक' रहे ?" (हिन्दी में तुकान्तहीन पद्य-रचना : 'इंदु')

स्पष्ट है कि इस काल में इस विषय पर कविगण विशेष जागरूक थे। इसके उत्तर में उत्तरदाताओं ने छन्द का कोई बन्धन न होने की ही बात ही प्रायः कही थी। रूपनारायण पांडेय ने इसके लिए 'रोला' छन्द विशेष उपयुक्त बताया था।

हरिऔध जी ने लिखा था—"मैं हिन्दी भाषा को नित-नूतन अलंकारों से सज्जित करने का पक्षपाती हूँ। फिर 'चतुर्दशपदी' कविता लिखकर उसके भंडार को शोभा क्यों न वर्द्धित की जावे। चाहे कुछ भिन्नता हो, परंतु हिंदी में सैकड़ों क्या सहस्रों भजन और विष्णु-पद ऐसे हैं, जिनको हम चतुर्दश-पदी कह सकते हैं। सिक्खों के आदि-ग्रन्थ में अष्टपदी, षोडशपदी, चतुर्दश-पदी नाम की बहुत सी कवितायें है।"

हरिऔध जी ने एक दो चतुर्दशपदियाँ लिखीं परंतु अंतिम दो चरणों में पूर्व बारह चरणों से छन्द-भेद किया।

'प्रसाद' जी ने 'बसंतराका', 'स्वभाव', 'दर्शन' आदि 'चतुर्दशपदी' में लिखीं। एक उदाहरण है—

(१) सिंधु कभी क्या बाड़वाग्नि को यों सह लेता
(२) कभी शीत लहरों में शीतल ही कर देता
(३) रमणी हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता
(४) तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता
(५) कौन जानता है नीचे में क्या बहता है
(६) बालू में भी स्नेह कहो कैसे रहता है
(७) फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे
(८) सूखा ऊपर, भीतर स्नेह सरोवर जैसे
(९) ढकी बर्फ की शीतल ऊँची चोटी जिनकी
(१०) भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी
(११) ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं
(१२) भस्म किया उनको जिनको वे पा जाते हैं।
(१३) स्वच्छ स्नेह अंतर्हित फल्गू सदृश किसी समय
(१४) कभी सिन्धु ज्वालामुखी धन्य धन्य रमणी हृदय।

इसमें रोला और सोरठाछंद प्रयुक्त हैं। भाव-धारा में अवगाहन करने से यह स्पष्ट होगा कि इसमें 'अष्टपदी' (octave) और 'षट्पदी' (sestet) का विभाजन नहीं है। हाँ, अंतिम दो पंक्तियों का हार्द समग्र कविता का निष्कर्ष अवश्य है—और वह भिन्न (सोरठा) छन्द में भी है। यह परिपाटी अंग्रेजी के कवि शेक्सपियर की है। चतुष्पदी के घटकों के रूप में सबसे बड़ी बात जो प्रास-पद्धति की है वह हिन्दी कवियों ने उपेक्षित की। फिर भी एक नई वस्तु होने के कारण कवियों का सहज आकर्षण इस ओर हो गया। यह उल्लेखनीय है कि श्री लोचन प्रसाद पांडेय तथा मैथिलीशरण गुप्त ने भी चतुर्दशपदियाँ लिखीं। छन्द-विन्यास की दृष्टि से इस रूप में विशेष आकर्षण न होने के कारण इसका प्रचार न हो सका—यद्यपि भावी काल में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने इसका पुनरुत्थान किया और आगे चलकर 'आचार्य द्विवेदी के प्रति' आदि कवितायें 'चतुर्दशपदी' रूप में लिखीं।

बँगला का प्रभाव

बंगला में 'त्रिपदी' छन्द है, जो कुछ कुछ हमारे त्रिभंगी, चौबोला आदि की भाँति खण्डों में चलता है। 'प्रसाद' ने उसका हिन्दी में प्रयोग किया, परंतु हिन्दी के उच्चारण के वह अनुकूल नहीं पड़ता :

सघन सुन्दर मेघ मनोहर
गगन सोहत हेर
धरा पुलकित अति अनंदित
रूप धर्यो चहुँ फेर

परन्तु इसी के आगे ये पंक्तियाँ भी हैं—

विज्जुलि मानिनि नव कादम्बिनि
सुन्दर रूप सुधारि
अमल अपारा नव जल धारा
सुधा दत मनु ढारि

('वर्षा में नदीकूल' : पराग)

पाठक देखेंगे कि दोनों छन्दों में लय-भिन्नता है।

बगला में 'पयार' छन्द तो अत्यन्त प्रचलित है। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने इसका प्रयोग ब्रजभाषा में किया था। उसी के आकर्षण से 'प्रसाद' जी ने भी, जब वे ब्रजभाषा में लिखते थे, 'पयार' छन्द में 'सन्ध्यातारा' आदि कवितायें लिखी थीं। यह केवल अभिरुचि के रूप में उन्होंने किया था, प्रचार या प्रवर्तन के उद्देश्य से नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त 'पयार' छन्द का उदाहरण देखिए :

कामिनी चिकुर भार अति घन नील
तामें मणिसम तारा सोहत सलील
अनन्त तरंग तुङ्ग माला विराजत
फेनल गम्भीर सिन्धु निनाद बाहित

(संध्यातारा : चित्राधार)

स्पष्ट है कि यह छन्द वर्ण-प्रधान है, मात्रा-प्रधान नहीं; इसे कवित्त छन्द का सजातीय कहा जायगा; इसकी पाठ-विधि भी कवित्त के निकट पहुँचती है।

प्रत्येक पद के अंत में एक 'गुरु' (है) अक्षर जोड़कर इसे 'घनाक्षरी' के उत्तरार्द्ध की भाँति पाठ्य किया जा सकता है।

हिन्दी में इसका अवतरण कवित्त के अर्द्धांश के रूप में हो सकता है। एक मात्रा की न्यूनता हिन्दी में करनी पड़ेगी। १४ वर्णों के इस छंद में अन्त्य-वर्ण 'गुरु' है, हिन्दी में कदाचित् 'लघु' होना अधिक सुपाठ्य होगा। 'प्रसाद' ने इसीलिए इसे लघ्वन्त किया है।

महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने इसी चिरप्रयुक्त छन्द को अतुकान्त-किया था। उनके 'मेघनादवध' से एक अवतरण लें—

> "शुनेछि कैलाशपुर कैलास निवासी
> व्योमकेश स्वर्णासने बसि गौरी सने;
> आगम पुराण बेद पञ्चतत्त्व कथा
> पञ्चमुखे पञ्चमुख कहेन उमारे।"

१४ वर्णों का यह अतुकान्त (या अमित्राक्षर) छन्द बंगला में बहुत प्रचलित है। वहाँ इसे अमित्राक्षर या 'अमित्र' कहा गया।

हिन्दी में 'वीरांगना' और 'मेघनाद वध' अनुवादों में मैथिलीशरण गुप्त ने नया प्रयोग किया। इसमें उन्होंने एक वर्ण अधिक अर्थात् १५ वर्णों के छन्द का प्रयोग किया जो कवित्त का ही उत्तरार्द्ध चरण है। वे कदाचित १४ वर्णों का छन्द आविष्कृत कर लेते, परंतु बंगला में विभक्ति संज्ञादि के साथ संयुक्त रहती है (जैसे समरे=समर में) अतः हिन्दी की कठिनाई को दृष्टिगत रखते हुए ही यह स्वतन्त्रता अनुवादक ने ली है। यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्र रूप में गुजराती के श्री केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने भी इसी से अमित्राक्षर छन्द बनाया है। आलोच्य काल में 'पयार' छन्द के अवतरण के दो प्रयत्न हुए—'प्रसाद' का और गुप्त का। पहला प्रयत्न तुकांत है, दूसरा अतुकान्त।

मैथिलीशरण गुप्त ने जो यह छन्द अमित्राक्षर 'पयार' के अनुवाद में प्रयुक्त किया है; वह इस काल की दृष्टि से अवश्य ही नूतन है किन्तु मध्य-युग में गोस्वामी तुलसीदास इस वृत्त का प्रयोग कर चुके थे—

> देखि ! द्वै पथिक गोरे साँवरे सुभग हैं।
> सुतिय सलोनी संग सोहत सुभग हैं।

सोभा सिन्धु सम्भव से नीके-नीके मग हैं।
मात पिता भागि बस गये परि फग हैं।

इसमें अंत्यानुप्रास का प्रयोग द्रष्टव्य है।

मात्रा-वृत्त

बंगला में इस प्रकार के अमित्राक्षर का प्रयोग वर्णिक था किन्तु मात्रिक में नहीं। बंगला का छन्द वर्ण-प्रधान ही होता है। द्विवेदी जी ने अंत्यानुप्रासहीन छंद लिखने की प्रेरणा दी थी।[1] 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक में वीर छन्द का मात्रावृत्त है और अंबिकादत्त व्यास ने कंस-वध काव्य लिखा है। कुछ उत्साही और स्वच्छन्दवादी कवियों ने भी प्रयास किये। छन्द से तुकान्त को सफलता पूर्वक हटाया श्री गिरिधर शर्मा और श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने।

श्री गिरिधर शर्मा ने १९१० में 'सती सावित्री'[2] नामक एक लघु-काव्य लिखा जिसमें चार सर्ग थे। इसके सभी सर्ग अतुकान्त छन्द में हैं। दूसरा सर्ग द्रुतविलम्बित में, तीसरा चौथा इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा उपजाति में है, परन्तु पहला सर्ग पूरा मात्रावृत्त में है। यह मात्रावृत्त १६ मात्राओं के छन्द (उपचित्रा) से बनाया गया है—

इसकी सुनें सुरीली वाणी
मानी वृथा मंजुघोषा को
वह गाती जब कभी प्रवीणा
निज वीणा रख देती वाणी।[2]

यह स्फुट प्रयत्न होते हुए भी श्री 'प्रसाद' का उत्तर--आयोजित प्रयत्न अधिक प्रकाश में आ गया। उन्होंने मात्रा-वृत्त के प्रयोग की दिशा में कई प्रयत्न किये। उन्होंने गम्भीर विचार किया था कि कौन सा छन्द इसके लिए समीचीन हो सकता है। क्योंकि उनके मत में 'इसके लिए कोई खास छन्द

---

१ दे. पीछे कविता का सर्वोदय : पृष्ठ ७०, २ 'सती सावित्री' : विक्रम १९६७ ई० : प्रकाशक : वाडीलाल मोतीलाल शाह, अहमदाबाद

होना आवश्यक है क्योंकि तुकान्तविहीन कविता में वर्ण-विन्यास का प्रवाह और श्रुति के अनुकूल गति का होना आवश्यक है।' उन्होंने कई छन्दों को मात्रा-वृत्त में ढाला; पहला छन्द प्लवंगम २१ (अरिल्ल) मात्रा का है। ('अरिल्ल'-नामक छन्द १६ मात्रा का भी होता है। इसमें उन्होंने 'भरत', शिल्प सौंदर्य, हमारा हृदय, वीर बालक, भाव-सागर, श्रीकृष्ण-जयन्ती आदि स्फुट कवितायें, और 'करुणालय' (गीतिरूपक) और 'महाराणा का महत्त्व' (लघुकाव्य) लिखे।

> चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
> खड़े रहो मत, कर्म्म मार्ग विस्तीर्ण है।

इस छन्द में प्रवाह अत्यन्त द्रुत है। दूसरे छन्द को लावनी या ताटंक (३१ मात्रा) कहेंगे—जो उनके 'प्रेम पथिक' (खड़ी बोली १९१३) काव्य में प्रयुक्त हुआ है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस प्रकार 'वीर' छन्द (आल्ह-खण्ड में) अन्त्यानुप्रास का अभाव नहीं खटकता, उसी प्रकार इस लम्बे छन्द में भी वह नहीं खटकता। इसमें हिन्दी की सुषमा है—

> खेल रही थी सुख-सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये
> सम्मोहन-वंशी बजती थी नव तमाल के कुञ्जों में।
> हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिलकर बजते थे-
> ज्यों उँगली के छू जाने से सस्वर तार विपंची के।

राय कृष्णदास आदि ने भी स्फुट प्रयत्न किये।

सुमित्रानन्दन पन्त ने उन्नीस मात्राओं के 'पीयूषवर्ष' छन्द से मात्रावृत्त बनाया और उसमें एक सुन्दर विरह-काव्य—'ग्रन्थि' (१९१९) की रचना की। उसका भी अवतरण लीजिए—

> शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से
> अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
> चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
> उडुगणों ! गाओ पवन-वीणा बजा !

के समय में, जिस सुधार की आवश्यकता जान पड़ती है वह सुधार हमारे पूर्वजों में ऐतिहासिक काल के समय विद्यमान था, और हम सबको अपनी परम्परा का गर्व करना चाहिए।"

श्री रामचरित उपाध्याय ने अतुकान्त कविता और सतुकान्त कविता को निर्जीव-सजीव मानते हुए 'सरस्वती' (जनवरी १९१७) के अंक में एक ही प्रसंग को दोनों शैलियों में अंकित किया। तात्पर्य यह है कि प्राचीन परिपाटी के पोषकों को यह प्रवृत्ति प्रायः अस्वीकार्य थी।

गीत-विन्यास

आत्मगत भावोच्छ्वास पर केन्द्रित कविता गायन का विन्यास लेकर गीत बन जाती है।

— गीत में भ्रान्ति —

समालोचना के क्षेत्र में 'गीत' काव्य के विषय में एक बड़ी भ्रान्ति है; पहले उसका निराकरण आवश्यक है। केवल गेय होना ही गीतत्व नहीं है। मानस की चौपाई और रहीम के दोहे, मतिराम के सवैये और भारतेन्दु के कवित्त तक रेडियो पर गाये गये हैं। अमित्राक्षर छन्द भी गाये जा सकते हैं। वस्तुतः 'लय' ही छन्द को गेय बनाती है। फिर गीतत्व किसमें है? आत्मगतता (subjectivity) एक मुख्य लक्षण है परन्तु यह धर्म गीत के आत्म-विन्यास का है, शरीर-विन्यास का नहीं। वस्तुतः गीत की आत्मा आत्मानुभूति है और गीत का शरीर है गेयता। गेयता का अर्थ है, 'गीतात्मक एकसूत्रता'। गीत में सारा सौन्दर्य स्थायी के आवर्त्तन पर निर्भर है, इसलिए 'अन्तरा' का विधान आवश्यक है। गीत के स्फुट बन्ध (stanzas) मुक्तक मुक्ता होकर भी भाव-सूत्र में ग्रथित रहते हैं, यही गीतात्मक एकसूत्रता है। [स्थूल परिभाषा में 'स्थायी' (जो तत्त्वतः भाव-बीज होता है), का आवर्त्तन (repitition) और गीत के स्फुट बन्धों में सामंजस्य होना आवश्यक है। यह उसके छन्द-विन्यास के साथ साथ भाव-विन्यास को भी प्रभावित करता है।

इस दृष्टिकोण से देखने पर बहुत सी ऐसी आत्मगत (Subjective) कविताएँ जिनमें गीत-विधान नहीं होता, गीत की कोटि से गिर जाती हैं। 'जुही की कली' को, या 'झरना' की कई मुक्तक कविताओं को या पन्त की

'स्वप्न', 'छाया' आदि कविताओं को भी गीत-विन्यास के अभाव में 'गीत' की श्रेणी में किसी भी प्रकार नहीं बिठाया जा सकता। ये कविताएँ 'गीतात्मक' मात्र हैं क्योंकि उनमें गीत की आत्मा—आत्मानुभूति, आत्माभिव्यंजन या आत्मगतता—ही है, शरीर उनका 'गीत' का नहीं होता। मेरा यह मत है कि हिन्दी-समीक्षा में 'गीत' की परिभाषा को यह निश्चित रूपरेखा मिलनी चाहिए।

गीत-परम्परा

हिन्दी कविता में गीत काव्य का सूत्रपात मध्ययुग से होता है। कबीर, सूर तथा उस काल के कवि मीरा, नानक, दादू, रज्जब आदि ने गीतकाव्य की अमूल्य निधि दी है। गीतकाव्य का जन्म प्रारम्भ में वीणा (या किसी दूसरे वाद्य-यंत्र) पर हुआ था—ठीक उसी अर्थ में जिस अर्थ में (lyre) पर गाये गये काव्य को लिरिक (lyric) की संज्ञा अंग्रेज़ी में मिली थी।

इस गीतकाव्य में तत्त्वत: एक आत्मानुभूति होती है। वह स्व-गत, आत्मगत काव्य होता है परन्तु इस विशेषता को गीतकारों ने नहीं माना। सूर जैसे कवियों ने जब विनय और भक्ति में आत्मनिवेदन किया तब तो उन्होंने गीत-काव्य की आत्मा को अक्षुण्ण रक्खा परन्तु ज्योंही उन्होंने उसमें लीला-वर्णन करना आरम्भ किया उन्होंने गीतकाव्य की आत्मा के साथ अनाचार किया। अस्तु, वे भक्त थे, यदि भगवान की लीला का वर्णन उन्होंने किया भी तो हृदय की श्रद्धा की ही अभिव्यक्ति की।

कालान्तर में यह मूल भावना या स्फूर्ति विलुप्त होती गई और गीत-काव्य केवल गेय छन्द में ही सीमित हो गया। भिन्न-भिन्न शैली के गीत आलोच्य-काल में प्रस्तुत हुए हैं। वे त्रिविध हैं:

(१) पद-गीत
(२) गजल-गीत
(३) प्र-गीत

इनका हम क्रमश: अनुशीलन करना चाहते हैं।

(१) पद-गीत : भजन-गीत

भक्ति युग के गीत-काव्य की प्रचलित परिपाटी पद-शैली की थी। इस

परिपाटी में सूर और तुलसी ने शत-सहस्र गीत गाये। भक्तों ने ईश्वर-भजन के लिए इन पदों को माध्यम चुना इसलिए उन्हें 'भजन' भी कहा जाता है: जैसे 'सूरदास के भजन', मीरा के भजन। कबीर ने और पश्चात् नानक, दादू और रज्जब आदि राशि-राशि सन्तों ने गीतों में ही अपना तत्त्व-चिन्तन और दर्शन उड़ेल दिया। ये 'सबद' कहलाये।

भारतेन्दु काल में ये पद-शैली के गीत पर्याप्त परिमाण में प्रचलित थे। स्वयं भारतेन्दु ने 'कृष्णचरित्र', 'प्रेमफुलवारी', 'प्रेममालिका', कार्तिकस्नान 'प्रेमाश्रुवर्षण', 'प्रेमसरोवर', 'प्रेममाधुरी', 'प्रेमतरंग', 'प्रेमप्रलाप' आदि में शत-शत पद-रचना की।

यह परम्परा 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, हरिऔध, पूर्ण आदि ने अविच्छिन्न रक्खी और आलोच्यकाल में इसके अतिरिक्त जयशङ्कर प्रसाद, रत्नाकर, सत्यनारायण इस परम्परा के प्रतिनिधि थे। संस्कृत-वर्णवृत्तों तथा अन्य विविध हिन्दी छन्दों की आँधी में उनका स्वर सुनाई नहीं दिया। भारतेन्दु कालीन परम्परा के विस्तार के रूप में मिश्रबन्धु, राधाकृष्णदास आदि ने भी इसमें सहयोग दिया।

इनके विन्यास (technique) का मुख्य लक्षण यह है कि इनमें प्रथम चरण 'स्थायी' होता है। इसके पश्चात् आनेवाले चरण उसी के अन्त्यानुप्रास पर आते हैं। वे चरण बड़े भी हो सकते हैं और 'स्थायी' के बराबर भी। प्रत्येक दो चरण मिलाकर 'अन्तरा' का विधान करते हैं। ये अन्तरे अन्त्यानुप्रास में स्थायी के अनुरूप न हों तो परस्पर सतुक होने चाहिएँ। इस प्रकार स्वभावतः इनके दो प्रकार हो जाते हैं।

खड़ी बोली में

जयशंकर 'प्रसाद' का एक पद-गीत उद्धरणीय है :

अमा को करिये सुन्दर राका।
फैले नव प्रकाश जीवनधन! तव मुख-चन्द्र विभा का।
मेरे अन्तर में छिपकर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय मरुत हो फहरे प्रेम-पताका।

इस प्रकार के पद 'झरना' के बिन्दु में संकलित हैं।

दूसरे प्रकार के पद भी जिनमें अन्तरा का अन्त्यानुप्रास भिन्न है, 'प्रसाद' ने लिखे। जैसे—

हृदय में छिपे रहे इस डर से,
उसको भी तो छिपा लिया था, नहीं प्रेम रस बरसे।
लगे न स्नेह कभी इसको भी विह्वल पड़े न सुपथ से।
मुक्त आवरण हो देखे न मनोहर कोई रथ से।
पर कभी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे।
हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे तुम जीते हम हारे।

इस प्रकार के गीतों का पुनरुत्थान किया श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री बदरीनाथ भट्ट ने। इसमें भक्तों और संतों की संस्कृति अनुराग रहा है। ये शुद्ध भावात्मक और आत्माभिव्यञ्जक, आत्मगत (subjective) होने पर ही तन्मयकारी होते हैं और वीणा (या अन्य तन्त्र-वाद्य) पर गाये जा सकते हैं। इनके छन्द भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

पद-शैली में मैथिलीशरण गुप्त ने भक्ति-रहस्य परक गीत लिखे—

राम तुम्हें यह देश न भूले
धाम-धरा-धन जाय भले ही यह अपना उद्देश्य न भूले
निज भाषा निज भाव न भूले, निज भूषा निज बेष न भूले

इस प्रकार के गीत 'स्वदेश-संगीत' और 'झंकार' में संग्रहीत हैं :

दूती बैठी हूँ सजकर मैं।
लेचल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम-धरा-धन सब तजकर मैं।
धन्य हुई हूं इस धरती पर निज जीवन धन को भज कर मैं।
बस अब उनके अंक लगूँगी उनकी वीणा सी बजकर मैं।

बदरीनाथ भट्ट ने समाज-चिन्तन और दर्शन-चिन्तन को इसी प्रकार के पद-गीतों में भरा—

सागर में तिनका है बहता।
उछल रहा है लहरों के बल मैं हूँ मैं हूँ कहता।
अपने को है बड़ा समझता यह उसकी नादानी।
धीरे धीरे गला रहा है इसको खारा पानी।

धक्के खाकर भी इतराता ऐसा मद से फूला!
मैं हूँ कौन, कौन है सागर, इसको बिल्कुल भूला।

('मनुष्य और संसार')

उनके संगीत-ज्ञान ने हिन्दी के गीत-कोष में भैरवी, आसावरी, विहाग कालिंगड़ा आदि रागों के गीत दिये। श्री बदरीनाथ भट्ट ने अपने सभी गीत पद-शैली में ही प्रायः लिखे और उनके रागों का भी निर्देश किया। उनकी गीत-माला के पुष्प हैं—अनुरोध (कालिंगड़ा-अगस्त १९१४) आत्म-त्याग (जोगिया आसावरी-नवम्बर १९१४) 'प्रार्थना', (देश-अप्रैल १९१५), वृद्धावस्था, (कालिंगड़ा-अगस्त १९१५) सूरदास, (भैरवी-फ़रवरी १९१६) जीव और माया (विहाग : मार्च १९१६)। इसी प्रकार के पद हैं—'मनुष्य और संसार (अक्टूबर १९१६), काला रंग (मई १९१७), 'जीवन्मुक्त पञ्चक (मार्च १९१८) इत्यादि।

श्रीधर पाठक के 'भारत-गीत' में 'अमर पदारथ', 'प्रेम की बान', 'प्रेममय संसार', 'सोच का मुकाम', 'मनूजी', 'अपनी ओर निहार', 'बड़ी तुम्हारी भूल', 'प्रेम-कोर', 'ऐसा अब न करूंगा', 'दीन-दया', 'दुख अन्त', 'पुण्य भारत मही', 'आप सहाई' इसी शैली के गीत हैं। 'भारत-आरती' (२) 'भारत-मंगल' आदि गीत भी इसी प्रकार के हैं।

श्री सनेही ने भी 'काँटा और फूल' (दिसम्बर १९१९), 'प्रतीक्षा' (मई २०), 'विस्मृति' (अगस्त १९१७) आदि पद-गीत लिखे।

रामचरित उपाध्याय (उपालभ), पांडेय लोचनप्रसाद (हमारा प्यारा भारतवर्ष) आदि कवियों ने भी यही शैली अपनाई। हरिवंश मिश्र ('उत्तेजना'), 'नवीन' ('तारा'), देवीप्रसाद गुप्त (केसरिया रंग और मालिन) मुकुटधर पांडेय ('प्रार्थना'), रामदहिन मिश्र (प्रार्थना), और बख्शीजी ('अज्ञात' और 'सूखे फूल', 'बुद्धदेव' के प्रति) ने भी पद गीत लिखे।

(२) गज़ल-गीत

मुसलमान-काल से उर्दू का यह बिरवा हिन्दी में लगा है। दो संस्कृतियों के सम्मिलन का यह मधुर परिणाम है। हिन्दी के पद की भाँति

गजल में भी गीत-तत्त्व है। प्रथम दो पद युग्मरूप में स्थायी हो जाते हैं, फिर क्रम से भिन्न-तुकान्त और तुकान्त चरणों की योजना होती जाती है। इस प्रकार का विन्यास इस गीत का है। इसकी एक विशेषता नहीं भुलाई जा सकती कि इसकी कड़ियाँ सर्वत्र सम रहती हैं। छोटी-बड़ी नहीं होतीं।

'प्रसाद' जी ने भी गजल-शैली में लिखा, जिसमें हिन्दी की शब्द-सुषमा है—

विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही है।
प्रसार तेरी दया का कितना यह देखना हो तो देखे सागर।
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे तरंग-मालायें गा रही हैं।

('चित्राधार')

गजल-शैली का प्रभाव हमें 'प्रसाद' के पद-गीत पर भी लक्षित होता है—

आज इस घन की अँधियारी में,
कौन तमाल भूलता है इस सजी सुमन क्यारी में?
हँसकर बिजली सी चमकाकर हमको कौन रुलाता?
बरस रहे थे दोनों दृग ये कैसे हरियारी में?

(बिन्दु : 'झरना')

'भारत भारती' के अन्त में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने सोहनी लय का गीत इसी गजल शैली में रखा है—

इस देश को हे दीनबन्धो आप फिर अपनाइये।
भगवान् भारतवर्ष को फिर पुण्यभूमि बनाइये।
जड़तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा पूर्ण है!
हे रम्ब! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइये।

भिन्न-भिन्न छन्दों में ये गजलें लिखी गईं। इसमें दो प्रकार के प्रयोग होते थे। कुछ तो कवि थे जो उर्दू की ही लय को अपनाते थे और यथा-संभव उसमें हिन्दी का छन्द-विन्यास देते थे। दूसरे कवि ऐसे थे जो लय तो लेते ही थे, छन्द-विन्यास भी उर्दू का ही रखते थे। 'एक भारतीय आत्मा'

'सनेही' और माधव शुक्ल, बदरीनाथ भट्ट, सत्यनारायण आदि ने राष्ट्रीय लोक-गीत लिखे (लोक गीत से यहाँ आशय उन गीतों से है जो सभा-सम्मेलनों में, प्रयाण में या ऐसे ही अवसरों पर व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से गाये जाते हैं)। ऐसे गीत राष्ट्रीय वीणा, भारत-गीताञ्जलि, राष्ट्रभारती आदि में संग्रहीत हैं और ऐसे गीत बड़े लोकप्रिय भी हुए।

ऐसे गीतों का एक उदाहरण लीजिए—

देवी मनुष्यते! अब वीणा मधुर बजादे!
सुन्दर सुरीला गाना चित शांति का सुनादे।
अज्ञान की अँधेरी पथ भूल मारा मारा—
ये जग भटक रहा है इसको प्रभा दिखादे!

(सत्यनारायण कविरत्न, राष्ट्रीय-वीणा)

बदरीनाथ भट्ट जैसे पद-लेखक ने भी उर्दू गजल में ही मौत का डंका सुना—

मैं आगई महाशय खोलो किवाड़ खोलो।
होकर नितान्त निर्भय खोलो किवाड़ खोलो।
जीवन के दीप का अब सब तेल चुक गया है।
हो भी चला सवेरा खोलो किवाड़ खोलो।

इसी प्रकार के गजल गीत श्री केशवप्रसाद मिश्र, भगवन्नारायण भार्गव, राष्ट्रीय पथिक आदि ने भी लिखे। श्री मन्ननद्विवेदी की एक कविता इसी गजल शैली में होकर भी तुक-योजना में हिन्दी की अपनी ही है—

गिरीश भारत का द्वार-पट है, सदा से है यह हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा, बगल में बहती हमारी गंगी।
बतादे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा।
कहाँ युधिष्ठिर, कहाँ हैं अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा।

श्रीधर पाठक की 'सुसन्देश' कविता भी इसी लय में है—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगत की सी कैसी सुरीली गुञ्जार आरही है
हरेक स्वर में नवीनता है हरेक पद में प्रवीनता है
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्भुत मिला रही है।

इसमें कवि ने तीसरे चरण में मध्य में तुक देकर सौन्दर्य-सृष्टि की है। गजल की लय इतनी मन भाई है कि अच्छे-अच्छे कवियों को गाना पड़ा—

गोकुल में फिर से आकर बन्सी बजादे कान्हा
कुन्जों में बाल-लीला फिर से मचादे कान्हा
मधुबन में जा सुना था तेरा मधुर तराना
जी में खटक रहा है फिरसे सुनादे कान्हा।

(श्रीधर पाठक)

गजल-शैली से प्रभावित होकर कई लोक गीत भी लिखे गये हैं। श्रीधर पाठक ने ऐसे कई गीत लिखे हैं मजदूरनियों के लिए। एक 'भारत-गीत' लीजिए—

भारत पियरवा पै बलि बलि जाऊँ
बलि बलि जाऊँ गरवा लगाऊँ
फुलवा मंगाऊँ गजरा गुँथाऊँ
नीकी नजरिया पै, जा पै जिगरवा पै
सिजिया बिछाऊँ सजाऊँ सिंगरवा
मैं बलि-बलि जाऊँ !

('भारत-गीत')

श्री 'दीन' जी ने गजल-गीत की ही शैली में अपना 'वीर-पंचरत्न' लिखा। उन्होंने इसमें गजल की लय का छन्द लेकर उसमें लावनी जैसे लोक गीत का संयोग किया और एक नयी वस्तु प्रस्तुत हुई।

लोकगीतों में प्रयुक्त इन लयों का पर्याप्त समावेश इस काल के कवियों ने किया है। लावनी में स्थायी के अनन्तर अन्तरा की ४ पंक्तियाँ भिन्न-तुकान्त होने के पश्चात् ५ वीं पंक्ति स्थायी की सम-तुकान्त होती है और स्थायी का या उसके अंश का आवर्तन होता है। यही पद्धति कजली आदि गीतों की भी है।

यह प्रभाव ग्रहण किया देवीप्रसाद पूर्ण ने और उनसे भी बढ़कर श्री शंकर कवि ने। वे समाजी थे। इसलिए इस प्रकार के गीतों की विशेष उपयोगिता मानते थे। उनके 'पंचपुकार' आदि प्रबन्ध इसी गीत-पद्धति

पर लिखे गये हैं। एक उदाहरण लीजिए—जिसमें चार चरणों के अन्तर के स्थान पर दो ही चरणों का अन्तरा है।

ठेके पर लेकर वैतरणी, लेकर दाढ़ी-मूँछ।
वाटर वाइसिकल पर धर कर बिना गाय की पूँछ।
मरों को पार उतारूँगा।
किसी से कभी न हारूँगा

लोक गीतों के क्रोड़ में वीर गीतों का भी विकास हुआ। वीर-गीतों में भी लावनी की भाँति चार चरण तक अन्तरा के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम चरण का युग स्थायी के एक चरण से होकर आवृत्ति होती है।

बिन स्वाभिमान जहान में किसका हुआ कब मान है?
गुर है समुन्नति का यही, यह जातियों की जान है।
इसके सहारे से हुआ जिसका हुआ उत्थान है,
इंग्लैंड है या जर्मनी है फ्रांस या जापान है।
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है।
—'सनेही'

इसी प्रकार के गीत बदरीनाथ भट्ट, तथा एक भारतीय आत्मा ने लिखे। आगे जाकर 'झाँसी की रानी' इसी शैली में लिखा गया।

(४) प्रगीत

प्रगीत-शैली आज की अन्तिम उपलब्धि है और हिन्दी में अब प्रगीत मुक्तक ही सबसे अधिक प्रचलित है। उसका विन्यास हमें वस्तुतः पद-गीत और गजल-गीत के गंगा-यमुनी संगम से ही मिला है।

पूर्ण जी का एक पद-गीत है :

(स्थायी)

तिहारे को बरनै गुनजाल ;
जासु अकथ महिमा वर दीसत
दस दिसि तीनहुँ काल !

(अन्तरा)

अगनित रचे चन्द्र ग्रह तारे,
नराधार जे नभ बिच मारे।
है विधि अद्भुत सक्ति सहारे,
करत प्रमानी चाल।
तिहारे को बरनै गुनजाल।

'अन्तरा' में हम देखते हैं कि पूरी दो चरण-पंक्तियों को तुक के द्वारा तोड़ा गया है। यदि यह न टूटा होता, तो निश्चय ही यह गजल-शैली का पद-गीत हो जाता। 'पूर्ण' जी ने यहाँ तीन अन्तर्वर्ती चरणार्द्ध बनाये हैं। यही आधुनिक प्रगीत-शैली का विन्यास है। एक गीत और लीजिए—

जिस अविनाशी से डरते हैं,
भूत देव जड़ चेतन सारे! (टेक)
जिसके डरसे अम्बर बोले : उग्र मंद मति मारुत डोले।
पावक जले प्रवाहित पानी, युगल वेग वसुधा ने धारे॥ (शंकर)

प्रगीत-विन्यास में एक स्थायी या उसका प्रवर्द्धन और तदनन्तर २, ३ या ४ अन्त्यानुप्रासमय चरणों का अन्तरा आता है और फिर स्थायी का आवर्तन होता है। इसी शैली को आगे श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, मुकुटधर आदि ने अपनाया। द्विवेदी जी ने 'वन्देमातरम्' में स्थायी-हीन प्रगीत की सृष्टि की थी।

लोक-गीत शैली का भी प्रभाव इस प्रगीत के विन्यास में आया है। उसमें स्थायी दो समान्त्यानुप्रास चरणों का होता है और अन्तरा में असमान्त्यानुप्रास चरण होते हैं, फिर एक चरण के साथ स्थायी के चरण का युग्म बनाया जाता है।

इस शैली का प्रगीत 'प्रसाद' जी के 'झरना' में है—

(स्थायी)

डाल पर बोलता है पपीहा,
हो भला प्राणधन, तुम कहाँ ? हा !

(अन्तरा)

आ मलो हो जहाँ
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

(दूसरा अन्तरा)

प्यास से मर रहे दीन चातक
क्यों बना चाहते प्राण-घातक
श्याम - घन हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

(पी ! कहाँ ?)

अथवा यह :

किसी पर मरना यही तो दुख है।
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है।
यही प्रार्थना हमारी !
हमारे उर में न सुख पाओगे,
मिला है किसको कहाँ जाओगे ?
चपला यह चाल तुम्हारी !

(उपेक्षा करना)

'प्रसाद' जी ने सवैया के पूर्ण चरण को स्थायी और अर्द्धचरण को अन्तरा बनाकर गीत में ढाला है—

(स्थायी)

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्या फिर बात बनाने लगे।
सब रीति घटी हाँ प्रतीति उठी
फिर भी हँसने मुसकाने लगे !

(अन्तरा)

(१) मुख देख सभी सुख को लिया था,
(२ दुख मोल इसी सुख को लिया था,
(३) सर्वस्व ही तो हमने दिया था,
तुम देखने को तरसाने लगे।

(राज्यश्री : २ : जनवरी १९१५)

कभी कभी कविगण अन्तरा में छन्दान्तर कर देते हैं, परन्तु लयान्तर नहीं। मैथिलीशरण गुप्त का ऐसा गीत है—

(स्थायी)

मेरे आँगन का एक फूल

(अन्तरा)

सौभाग्यभाव से मिला हुआ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ,
संसार-विश्व में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक भूल भूल।

(२)

बोला तब मैं हे राजराज!
क्या है इसके अतिरिक्त आज,
जिसकी अञ्जलि दूँ तुम्हें साज?
लो इसको भी अब दोष भूल।

(पुष्पांजलि : सरस्वती, जून १६१७)

श्रीधर पाठक का 'जय जय प्यारा भारत देश' इसी शैली का है। उनके 'भारत देश' नामक गीत में तीन चरणों के अन्तरा का ही प्रयोग है। कभी-कभी दो चरणों से स्थायी और चार चरणों से अन्तरा बनाया जाता है :

मेरे भारत, मेरे देश!
बलिहारी तेरा वर वेश!

(अन्तरा)

बाहर मकुट विभूषित भाल,
भीतर जटाजूट का जाल
ऊपर नभ, नीचे पाताल
और बीच में तू प्रणपाल
बन्धन में भी मुक्ति-निवेश।

(मेरा भारत : मै० श० गुप्त)

इस प्रकार की शैली भी कई कवियों ने अपनाई। १७-१८ की 'मर्यादा' पत्रिका में प्रकाशित 'बिछुड़नेवाले यों बिछुड़े, पिछड़नेवाले यों पिछड़े' गीत इसी प्रकार के हैं।

गजल की लय में लिखा 'सुन्दर भारत' प्रगीत पाठकजी का प्रसिद्ध है—'भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है।' इसकी लय केवल गज़ल की है, विन्यास प्रगीत का है। इसी प्रकार के उनके अन्य गीत हैं—'भारत गीत' संग्रह के 'शिक्षक भारत,' 'प्यारा हिन्दुस्तान,' 'स्वराज स्वागत' (२) 'जय-जय भारत', 'भारत जय-जय', और 'जय भारत जय' (१)। पाठक जी ने सरल भाषा में इसलिए रोग तेरा क्या रे, ऐसा नहीं भला रे, सावधानी इत्यादि लिखे कि वे लोक-प्रिय हो सके। इसी प्रकार संस्कृत-प्रेमियों के मनो-रंजन के लिए उन्होंने स्वदेश-पंचक, भारत-स्तव आदि की रचना की।

गजल की लय ही में बना हुआ प्रगीत है—

हे मातृभूमि तेरी जय हो सदा विजय हो।
प्रत्येक भक्त तेरा सुख-शांति-क्रांति मय हो।
अज्ञान की निशा में, दुख से भरी दिशा में,
संसार के हृदय में तेरी प्रभा उदय हो।

(रामनरेश त्रिपाठी)

शुद्ध प्रगीत-शैली में लिखे हुए हैं—श्री मैथिलीशरण के विविध गीत : 'मेरा भारत' अक्टूबर (१९१४), 'झंकार' के गीत, 'प्रतिज्ञा' (अक्टूबर १९१९) तथा बदरीनाथ भट्ट के 'सद्गुरु प्रार्थना' अप्रैल (१९२०) आदि गीत।

इसी शैली में मुरली-मुकुटधर ने 'हिन्दी गुणगान', देवीप्रसाद ने 'प्रार्थना' गिरिधर शर्मा ने 'राष्ट्रीय गान' लिखे। यह गीत-शैली ही धीरे-धीरे हिन्दी कविता में प्रतिष्ठित हुई है।

अंग्रेजी गीति-रूप

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से 'लिरिक'-काव्य के अनेक प्रकारों का प्रचार हुआ। यह भेद वस्तुतः छन्द-विन्यास का न होकर भाव-विन्यास का है। सॉनेट (Sonnet) या चतुर्दशपदी का उल्लेख पहले किया जा

चुका है; अन्य प्रकार हैं—'सम्बोध' (Ode), लोकगीत-वीर-गीत (Ballad) जिसका उल्लेख भी पीछे हो चुका है और शोक-गीत (elegy) जिसको 'रस' में लेंगे।

डा०श्रीकृष्णलाल पत्र-गीति (Epistles) को भी इसका एक भेद मानते हैं जो हड्सन नामक विद्वान समीक्षक का मत है। परन्तु हिन्दी में इसमें गीति-तत्त्व नहीं आ सका। अब तक हिन्दी में किसी ने 'गीत' में पत्र नहीं लिखा। 'संबोध'-गीत वस्तुतः आत्मगीत का ही एक दूसरा पार्श्व है। कवि जब स्वयं अपने ही से कहता है तो आत्मगीत है, दूसरे का आश्रय लेकर आत्माभिव्यंजन करनेवाला गीत इस कोटि में आता है। प्रसाद के 'झरना' के खोलो-द्वार, दो बूँदें, बसन्त, किरण, अर्चना, निवेदन वेदने, ठहरो आदि, पन्त के 'पल्लव' के छाया, 'बालापन', 'विश्वछवि, 'विश्वव्याप्ति', राय कृष्णदास के 'खुला द्वार' शुद्ध रूप में संबोध हैं। मैथिलीशरण द्वारा अनुवादित (ब्रजांगना विरहिणी ब्रजांगना) की कविताएं गेय न होते हुए संबोध-गीत में परिगणित होंगी।

आत्मगीतों और संबोध-गीत का संगम है 'पुष्प की अभिलाषा' ('एक भारतीय आत्मा') कविता में।

मुक्त छन्द

अंग्रेजी से बंगला-काव्य में होते हुए आया हुआ 'मुक्तछन्द' हिन्दी भारती को इसी काल की भेंट है। इसके साथ हिन्दी की कविता संसार की दूसरी ऊँची कविताओं के साथ आ जाती है। मुक्तछन्द के विषय में 'अभिनव-छन्द विधान' के प्रकरण में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

मुक्तछन्द दो प्रकार का हो सकता है—(१) मात्रिकलय-प्रधान और वार्णिकलय-प्रधान। इनमें से दोनों का प्रयोग 'निराला' ने ही किया। मात्रिक-लय-प्रधान मुक्तछन्द में उनकी रचना 'अधिवास' है।

कहाँ ?
तेरा अधिवास कहाँ ?
नहीं रुकती है गति जहाँ ?

अभी परन्तु शैली परिस्फुट नहीं हो पाई है क्योंकि यह विषम छन्द के अन्तर्गत अभी आ सकती है। पंत जी इसे 'मुक्तछन्द' कहते हैं, परन्तु यह भ्रान्ति है। मुक्तछन्द तो वही है जो छन्द होते हुए भी मुक्त हो!

माइकेल मधुसूदन की लेखनी का अमित्राक्षर 'पयार' निराला ने पूर्णतया मुक्त कर दिया। हिन्दी में वही मुक्तछन्द बना। निराला के इस (वर्णिकलय प्रधान) मुक्तछन्द का उदाहरण 'जुही का कली' है। वह गेय से अधिक पाठ्य है। इसमें 'कवित्त' की लय है, जो उनके मत से हिन्दी में मुक्तछन्द की एक मात्र सफल लय हो सकती है। इसमें भ्रान्ति है। आगे जाकर उन्हीं की 'सन्ध्या सुन्दरी' कविता मात्रिकलय-प्रधान मुक्तछन्द में होकर भी सफल हो सकी।

रसानुकूल छन्द-प्रयोग

कवियों को आरम्भ में तो नहीं परन्तु आलोच्य काल की सन्ध्या तक यह अनुभूति हो गई है कि भाव-विशेष के लिए छन्द-विशेष की योजना होनी चाहिए।

कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने छन्दों के संगीत को हृदयंगम किया था:—

"हिन्दी में रोला-छन्द अन्त्यानुप्रास हीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं।"

(पल्लव के 'प्रवेश' में) उनके निकाले हुए अन्य निष्कर्ष हैं—

(१) रघुवंश में अज-विलाप का वैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए उपयुक्त है।

(२) मालिनी छन्द में भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

(३) पीयूषवर्ष, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छन्द करुण रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं।

(४) हरिगीतिका छन्द भी करुण रस के लिए अच्छा है।

(५) राधिका छन्द में ऐसा जान पड़ता है जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो।...

(६) अरिल्ल छन्द निर्झरिणी की तरह कलकल छल-छल करता हुआ बहता है।

(७) चौपई...बच्चों की तरह...अपने को भूल जाता है।

स्वच्छन्द छन्द तो मुक्त भावावेश के लिए उपयुक्त और अनुकूल है ही।

छन्द की शुद्धता इस काल की पहली देन है। ब्रजभाषा-काव्य की यह विशेषता ही रही है कि मात्रिक छन्दों में भी गुरु को लघु करने की स्वच्छन्दता कवियों ने ली है। रीति युग के सवैये देखिए, उनमें कैसी विश्रृंखलता है। मात्रिक छन्दों में तुलसी जैसे मर्यादा-वादी कवि ने भी स्वच्छन्दता ली है—

१. तेहि बन निकट दशानन गयऊ। २. अवधेश के द्वारे सकारे गई... । ३. बसहु सो मम उर धाम।

परन्तु इस काल में छन्द के लघु-गुरु का वर्णात्मक-मात्रात्मक नियम पूर्णतया पालन हुआ है। प्रारम्भ में अवश्य ही कुछ विश्रृंखलता-शिथिलता रही—('तनिक तब उसने ताका') परन्तु द्विवेदी जी के प्रयत्नों से ये शिथिलतायें शीघ्र ही दूर हो गई। यह विशेष उल्लेखनीय है कि संयुक्ताक्षर-पूर्व में या अन्त्य वर्ण लघु होते हुए भी गुरु के रूप में उच्चरित किया जाना भी संस्कृत के ही नियम से हुआ है; जैसे—

(१) मांगल्य मूल मय वारिद वारि वृष्टि।
(२) सन्तत सन्त तमाचर।

यहाँ अन्त्य वर्ण का गुरु की भाँति पढ़ा जाना आवश्यक है। यह अस्वाभाविकता धीरे धीरे हिन्दी के छंद-प्रयोग से ही मिटी। छन्द-लय के आग्रह से भी शब्दों की कोई शिथिलता नहीं सही गई। 'और' को 'औ', 'अरु', 'रु' लिखने की परिपाटी दोषपूर्ण मानी गई। किम्वा, यथैव तथैव, वा, यत्र, तत्र जैसे संस्कृत के प्रयोगों का स्थान या, जैसे, ज्यों, जिस भाँति, जिस प्रकार, उस प्रकार, या, जहाँ, तहाँ के रूपों ने धीरे-धीरे ले लिया।

: घ : रस और अलंकार
(शास्त्र के आलोक में)

क्षेमेन्द्र के अनुसार कवि बनने के लिए कवित्व-शक्ति, शिक्षा, चमत्कारोत्पादन, गुण-दोष-ज्ञान और परिचयचारुता ये पाँच साधन हैं। इनका विवेचन करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने एक लेख में लिखा था कि कवित्व-शक्ति को जाग्रत करने के दो उपाय 'दिव्य' और 'पौरुषेय' बतलाये गये हैं। दिव्य उपायों में कुछ मन्त्र-जप-पूजन आदि अनुष्ठानों का समावेश है। पौरुषेय उपायों में है किसी कवि का शिष्यत्व ग्रहण करके काव्य-शास्त्र का अध्ययन करना। इस प्रकार शिष्यत्व-ग्रहण भी त्रिविध है—अल्प-प्रयत्नसाध्य, कृच्छ्र (या कष्ट) साध्य और असाध्य।

'अल्पप्रयत्नसाध्य' शिष्य केवल सुकवि के श्रीमुख से सत्काव्य का श्रवण करने और काव्य-चर्चा आदि करने से कवित्व-शक्ति का अर्जन कर लेता है।

कृच्छ्रसाध्य शिष्य के लिए विधान भी कुछ विशद है—

"कृच्छ्रसाध्य जनों को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के सारे प्रबन्धों को साद्यन्त पढ़ें और खूब विचार कर पढ़ें। इतिहासों का भी अध्ययन करें, तार्किकों की उग्र गंध से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उससे नष्ट होने से बचाते रहें।

अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखें तो महाकवियों की शैली को सदा ध्यान में रखें। पुराने कवियों के श्लोकों के पाद, पद और वाक्य आदि को निकाल कर उनकी जगह पर अपने बनाये पाद, पद और वाक्य रखें।

अभ्यास बढ़ाने के लिए वाक्यार्थ-शून्य पद्य बनावें। कभी कभी अन्य कवियों की रचना में फेर-फार करके कुछ अपना, कुछ उनका रखकर नूतन अर्थ का समावेश करने की चेष्टा करें।[1]

प्रथम अवस्था अध्ययन-अनुशीलन की है; यह है उपक्रम। द्वितीय अवस्था है अनुकरण, अनुसरण की; यह है प्रयोग; और तृतीय अवस्था है मौलिक क्रिया की, यह है प्रारम्भ।

यह तो क्षेमेन्द्र कवि के अनुसार द्विवेदी जी मानते ही थे कि—

न तस्य वक्तृत्व समुद्भवः स्यात्
शिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः॥
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्
सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः। +

शिक्षा साधन में कविजनोचित जीवनानुभव और शास्त्रानुभव का समावेश है। इसके पाठ्यक्रम कोई इयत्ता नहीं हो सकती। इसमें श्मशान और अरण्य में घूमने से लगाकर थोड़ी रात रह जाकर काव्य-साधना करने तक का समावेश है। विधाता की सारी सृष्टि का ज्ञान कवि को होना चाहिए। लोक में जो कुछ है सबसे उसे अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए।

कविता का एक आवश्यक गुण 'चमत्कारोत्पादन' मानते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः
कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्।

'यदि कवि में चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है तो वह कवि नहीं है और यदि काव्य चमत्कारपूर्ण नहीं है तो काव्य में काव्यत्व नहीं है।'

दृष्टान्त से भी कवि इसे स्पष्ट करते हैं—

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण,
काव्यं चमत्कृतिपदेन बिना सुवर्णम्।
निर्दोष लेशमपि रोहति कस्य चित्ते,
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्॥[1]

१ 'कवि बनने के लिए सापेक्षसाधन' : सरस्वती, जून १९१९

'काव्य चाहे कितना ही निर्दोष क्यों न हों, उसके स्वर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हों, यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारपूर्ण पद न हुआ तो वह स्त्रियों के लावण्यहीन यौवन के समान चित्त पर नहीं चढ़ता ?

'चमत्कार-सृष्टि' के लिए प्रतिभा आदि की आवश्यकता है। कविता-गत चमत्कार का एक उदाहरण देते हुए द्विवेदीजी ने इसे भी स्पष्ट किया था—

"एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम खूब फूल रहे हो, लताएँ तुम पर छाई हुई हैं, कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं। भ्रमर के समूह जहाँ तहाँ गुंजार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इसे हटाओ। मेरे प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं। इस उक्ति में कोई विशेषता नहीं— इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती।

अब एक चमत्कारपूर्ण उक्ति सुनिए—कोई वियोगी रक्ताशोक को देखकर कहता है। नवान पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो। प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं भी रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं। मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है। उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है। अतएव हमारा तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही, कि तुम अशोक हो और मैं सशोक।

इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया। उसने अनमोल रत्न का काम किया।[1]

ये चमत्कार भी क्षेमेन्द्र के अनुसार दस प्रकार के हैं।

'गुण-दोष ज्ञान' शास्त्रीय ज्ञान की परिधि में आ जाता है। कविता में से काव्य के दोषों का परिहार और गुणों का समावेश कवि को करना चाहिए।

१ कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन : सरस्वती, जून १९११

अतएव कविता-विषयक-गुण दोषों का ज्ञान प्राप्त करना भी कवि के लिए आवश्यक है।'

'परिचय-चारुता' का अन्तर्भाव भी वैसे तो 'शिक्षा' में ही हो जाता है। क्षेमेन्द्र की आज्ञा है कि तर्क, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति महाभारत, रामायण, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-तुरंग, पुरुष-परीक्षा, इन्द्रजाल आदि सब विषयों का ज्ञान कवि को सम्पादन करना चाहिए क्योंकि कवि को सब शास्त्रों, सब विद्याओं और सब कलाओं आदि से परिचित होना चाहिए।

आचार्य द्विवेदी ने लेख के उपसंहार में अपनी 'आंकाक्षा' प्रकट की— "भगवान् करे क्षेमेन्द्र की शुभ कामना+हमारे वर्तमान कवियों के विषय में भी फलवती हो। उन से हमारी एक विनीत प्रार्थना है। वह यह है कि यदि वे इस महाकवि के दिये हुए कण्ठाभरण को कण्ठ में न धारण करें तो उसे फ़ेंक भी न दें।"

विश्लेषण करते हुए मैंने संकेत किया है कि पाँच साधनों में से गुणदोष-ज्ञान तथा परिचय-चारुता का अन्तर्भाव शिक्षा में ही हो जाता है। शिक्षा में विद्याओं का ज्ञान और शिक्षण (training) दोनों का समावेश है ही। अतः क्षेमेन्द्र के साधनों को तीन शब्दों में सीमित किया जा सकता है। वे होंगे—

(१) कवित्व-शक्ति (२) शिक्षा (३) चमत्कारोत्पादन।

पहले का सम्बन्ध कविता-सृष्टि की प्रतिभा से है। दूसरे का उसके आधार अथवा निधि से है और तीसरे का उसके स्थूल लक्षणों से।

कविता का धर्म

द्विवेदी काल के प्रतिनिधि कवियों की कविता के धर्म के विषय में निश्चित धारणायें और मान्यतायें थीं और उसको अपनी कविता द्वारा वे चरितार्थ करते थे। इसके लिए हम 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो' शीर्षक मंतव्य का अनुशीलन करें जो आलोच्य-काल के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का है।

+ क्षेमेन्द्रेण यदर्जित शुभफलं तेनास्तु काव्यार्थिनाम्। —कविकण्ठाभरण

उन्होंने कविता के तीन उद्देश्य दिखाये हैं। वे हैं—

(१) सहानुभूति (२) 'सन्देश' (सदुपदेश) (३) आदर्श-दर्शन।

सहानुभूति में उसका जन्म है, सदुपदेश (सन्देश) में उसका जीवन है और आदर्श-दर्शन उसका गन्तव्य है।

(१) 'सहानुभूति' से कवि का तात्पर्य सहृदयता-जन्य मृदुलता से है। उन्हीं के शब्दों में 'हमारी कविता इसी ढंग की होनी चाहिए कि उसके विषयों के साथ पाठकों की सहानुभूति हो और वे विषय सामयिक हों।' हमें अपने समाज से सहानुभूति होनी चाहिए और हमारी कविता में उसके अनुकूल सामयिक भावों का विकास रहना चाहिए। तभी समाज का कल्याण-साधन हो सकता है।'

उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कवि ने कहा—

"मान लीजिए कि एक समाज विलासी और आलसी हो गया है। लोगों में बुरी बातें फैल गई हैं और ऊँचे भाव दूर हो गये हैं। ऐसी दशा में कवि का यह कर्तव्य है कि वह अपनी कविता में ऐसे भावों पर घृणा प्रकट करके लोगों के चित्त में भी उनके प्रति घृणा उत्पन्न करने की चेष्टा करे।"

(२) 'सन्देश' (या सदुपदेश) से कवि का आशय उसके शब्दों में है—'बुरे कामों का विरोध और अच्छे कामों का अनुरोध। 'हमारे कवियों को सर्वदा इसका ध्यान रखना चाहिए और अपनी कविता में यह विरोध और अनुरोध बराबर दिखलाना चाहिए।' वस्तुत: कवि के यथार्थवाद की एक कल्पना भी इसमें आ जाती है—'हमारे समाज में इस समय जो सर्वसम्मत बुराइयाँ फैल रही है उनके दुष्परिणाम हमारे सामने प्रकट करने दिखाना उनका कर्तव्य है।'

आदर्शवाद का इंगित भी है—"साथ ही अच्छी बातों के सुफल भी दिखलाना उचित है। तभी कविता से लाभ हो सकता है।"

'सदुपदेश' शब्द की आज जो रूढ़ व्याख्या की जाती है उससे भिन्न इनका अभिप्रेत था। केवल नीरस उपदेश कविता का उपजीव्य नहीं है—"कविता उपदेश को नीरस नहीं रहने-देती वह उसे मधुर बनाती है। इसी से हृदय उसे सानन्द ग्रहण कर लेता है। कवि का यही सबसे बड़ा महत्त्व है कि वह शिक्षा को सरस बनाता है।"

यह सदुपदेश प्रत्यक्ष (सीधी) शिक्षा नहीं है वरन् अप्रत्यक्ष, व्यंजित शिक्षा है। लेखक-कवि ने स्वयं ही कहा है—'वह उपदेश देता है पर परोक्ष भाव से और इससे बढ़कर उपदेश देने की कोई दूसरी रीति नहीं।'

कविता का उपदेश धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र का उपदेश नहीं है। उसका उपदेश तो कान्तासम्मित है।

"झूठ न बोलो, यह धर्मशास्त्र का उपदेश है। पर कवि इस बात को दूसरी तरह से बतलाता है। × × × 'कवि के वाक्य कांता-सम्मत वाक्य कहलाते हैं। अर्थात् जैसे कान्ता अपने हाव-भाव, सौन्दर्य आदि से मन को अपने अधीन करके इच्छानुसार कार्य करा लेती है और मन स्वयं ही आग्रह आनन्द और उत्साह पूर्वक उसकी इच्छा के अनुकूल कार्य करने को उद्यत हो जाता है वैसे ही कविता भी मन को आकर्षित करके सार-गर्भित उपदेश देती है।"

कवि ने अन्यत्र भी कहा है कि—

'उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

(३) आदर्श-दर्शन का अर्थ 'आदर्श का अंकन या व्यंजना' है। आदर्श कवि के शब्दों में इसलिए अपेक्षित है—

"आदर्श चरित पढ़ने की ओर पाठक की विशेष रुचि रहती है। उसमें एक कौतूहलपूर्ण आग्रह सा रहता है।······ऐसे काव्य चरित-गठन में सहायक ही नहीं होते बल्कि उसके कारण होते हैं।"

यह निरूपण इस उद्देश्य से किया गया कि द्विवेदी-कालीन काव्य की शास्त्रीय मान्यता की भूमिका प्रस्तुत हो सके।

उपर्युक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि आलोच्य-काल के कवियों के लिए कविता एक पवित्र क्रिया थी और कला होते हुए भी उसका मंगल उद्देश्य था। आलोच्य काल में कविता के विषय में क्षेमेन्द्र की सब अपेक्षाएँ चरितार्थ होती हैं। अब यह देखना उचित है कि कहाँ तक इस कविता में काव्य की मान्यतायें सिद्ध हुई हैं?

रस

काव्य में रस आत्मा रूप से प्रतिष्ठित है ।

श्री आचार्य द्विवेदी जी से लेकर प्राचीनतम शास्त्र-पंडित तक 'रस' की महत्ता स्वीकार करते आये थे। 'रस' एक ऐसा तत्त्व है कि जिसकी काव्य में उपेक्षा नही की जा सकती। यह प्रश्न जटिल है कि रस कहाँ होता है? छन्द की लय में? शब्द-विन्यास में? भाषा-विन्यास में? अलंकरण में? रमणीय अर्थ में? या व्यंजित अर्थ या ध्वनि में? कदाचित 'रस' केवल एक में नहीं है, वह इन सब में है! परन्तु 'रमणीय अर्थ' का क्षेत्र इतना विशाल है कि वह सबको समाविष्ट कर लेता है।

रस का बीज 'भाव' है। बीज के बिना वृक्ष पल्लवित नहीं होता। बिंदु में भी रस हो सकता है और एक धारा में भी नहीं हो सकता। रस की महिमा ही कुछ ऐसी है। वस्तुत: रस के जो विभिन्न अवयव या अंग-प्रत्यंग खड़े किये गये हैं, वे कवियों की सहायता के लिए। बिना उन अंगों को प्रस्तुत किये भी केवल संकेत मात्र से 'रस' की वृष्टि की जा सकती है क्योंकि 'रस' अन्तत: मानस की एक स्थिति है और वह स्पष्ट वर्णन से अधिक व्यंजना और संकेत से भी लाई जा सकती है। रस-स्रष्टा कवि छोटी-छोटी रेखाओं में ही सुन्दर भाव-चित्र बना देते हैं और नवशिक्षित कवि रंग उँडेलकर भी फीके ही रह जाते हैं।

नव-रसों में हम पहले शृंगार या प्रेम-भाव को लेंगे फिर क्रमशः करुणा, वीर, रौद्र, हास्य आदि को। यह देखना है कि क्या आलोच्यकाल की कविता इस शास्त्रीय कसौटी पर भी खरी ठहरती है?

(क) रूप-चित्रण

रूप-चित्रण के प्रसंग कवियों को पर्याप्त मिले हैं। हम नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' की 'तारा' चित्र पर लिखी 'केरल की तारा' कविता लेते हैं। इस कविता में कवि ने अपनी नई अभिव्यंजना-शैली में रमणी-रूप का वर्णन किया है।

कविता के दो बन्ध देखिए, जिसमें माँग, भाल, भ्रू, दृग, कान, कपोल, नाक, दंतपंक्ति आदि अंगों का वर्णन है। कवि की नवीनता यही है कि उसने कई नये-नये उपमान खोजे हैं और अपह्नुति तथा सन्देह की भंगिमा का प्रयोग किया है :

१. फूल अम्बर के न कानों को बताकर चुप रहा।
रूप-सागर के सजीले सीप हैं यों भी कहा।
गोल गदकारे कपोलों को कड़ी उपमा न दी।
पुलपुली मौमन पड़ी फूली कचौड़ी चूम ली।

२. नाक थी किवा कुटी छवि की छपाकर पै नई।
लौर लटकन की कि बिजली लौ दिया की बन गई।
खिल-खिलाकर मुख बतीसा को कहा बेलाग यों,
कुंद की कलियाँ कमल के कोश में लुकती हैं क्यों ?

श्रृंगार-वर्णन की शैली का सरलतम रूप द्विवेदी जी की कविता में था। उनकी लेखनी का रूप-वर्णन लीजिए—

सुन्दरता भी शरमा जावे।
यदि वह उसके सम्मुख आवे॥

छन्द की दृष्टि से भी और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सरलता का आदर्श द्विवेदी जी लाना चाहते थे।

परन्तु कुछ रसिक कवि भी थे। उर्दू कवियों की सी रंगीनदिली जो हिन्दी में केवल बिहारी में थी, फिर से कुछ-कुछ दीनजी और शंकर जी के ही श्रृंगार-वर्णन में दिखाई दी :—

तुमने पैरों में लगाई मेंहदी।
मेरी आँखों में समाई मेंहदी।
खूनी होते हैं जगत के सब्ज रंग
दे रही है यह दुहाई मेंहदी।

हरिऔध जी ने कहीं कहीं बारीक बानी दिखा दी है—

देहे सुकुमारपन बखाने पर
और सुकुमार पन बतोले हैं

छू गये नेक फूल के गजरे
पड़ गये हाथ में फफोले हैं।

बिहारी ने जिस प्रकार कहा था :

भूषन भार सँभारि हैं क्यों इहि तन सुकुमार
सूधे पाँय न धर परत सोभा ही के भार

उसी प्रकार 'हरि औध' भी कहते हैं—

है लुनाई फिसल रही जिस पर
है उसे काम क्या कि कुछ पहने।
गोल सुथरे सुडौल गालों के
बनाये रूप रंग ही गहने।

अब देखिए मैथिलीशरण गुप्त की तूलिका का एक शालीन चित्र—

कनक-लतिका सी कमल-सी कोमला
धन्य हैं उस कल्प शिल्पी की कला
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े
पद्मरागों से अधर मानों बने
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने

कितनी सौम्य शालीनता है इसमें! अन्त में गुप्तजी की सहृदयता देखिए—

और इसका हृदय किससे है बना?
वह हृदय ही है कि जिससे है बना!

गुप्त जी के शृंगार-वर्णन मर्यादा से मण्डित रहते हैं। शंकर जी के शृङ्गार वर्णन वासना से रञ्जित :

आँख से न आँख लड़ जाय इस कारण से
भिन्नता की भींत करतार ने बनाई है।

उर्दू-शैली का ही यह वाग्वैचित्र्य है।

प्रसाद का रूप-वर्णन भी कम नहीं। नायिका समस्त विश्व-सुन्दरी है फिर भी—

ये वंकिम भ्रू युगल कुटिल कुन्तल घने
नील नलिन से नेत्र, चपल मद से भरे

अरुणराग रंजित कोमल हिमखण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल सुढर नासा बनी।[1]

रूप वर्णन में जिस प्रकार महात्मा तुलसी दास ने मर्यादापूर्ण परिपाटी की दिशा दिखाई थी वैसे प्रयोग भी कई कवियों ने किये—

१. चन्द्रकला के सदृश वहाँ पर किये उजाला,[2]
२. छवि को भी कर रही विलज्जित थी वह बाला।[2] (सि०श०गुप्त)

अब 'साकेत' का वह प्रसंग अवतरित करना चाहता हूँ जो रूप-वर्णन का एक कलात्मक उदाहरण है—

उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ।
रह गया वह देखता सा स्थित हुआ।

'ग्रन्थि' (पन्त) में भी रूप-वर्णन चमत्कारपूर्ण है :

बाल-रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में
अचल रेखांकित कभी थी कर रही।
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में !

(ख) भाव-चित्रण

शृंगार के भाव-चित्रण का कार्य बड़ा कठिन है। यह वस्तुतः कवि की जीवन-वृत्ति के अनुरूप होता है। मर्यादावाद के उन दिनों में वासना-वलित शृंगार के भाव का चित्रण नहीं हुआ। 'साकेत' से एक चित्र द्रष्टव्य है—

चंचला सी छिटक छूटी ऊर्मिला।

प्रसादजी के प्रेम-वर्णन में एक विदग्धता मिलती है। उनकी अनुभूतियाँ निरी कल्पना-सृष्टि नहीं हैं। उनमें एक शाब्दिक (आलंकारिक) गोपन है परन्तु संकेत बड़े स्पष्ट हैं—

---

१. 'रूप' (प्रसाद) २. मौर्य विजय [सि० श० गुप्त]

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझे !

में जैसे अनुभूति साकार हो गई है। अन्य उदाहरण हैं—

(१) "शिथिल शयन सम्भोग दलित
कवरी के कुसुम सदृश कैसे"

(२) "केवल एक तुम्हारा चुम्बन
इस मुख को चुप कर देगा।"

ऐसे प्रणय-विलास के कई चित्र उन्होंने किये और मिलनानन्द की माधुरी भी लुटाई—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा।

× × × ×

हृदय-वीणा कर रही प्रस्तार अब,
तीव्र पंचम तान की उल्लास से।

छायावादी कवियों का प्रेम-वर्णन प्रायः प्रकृति और पृथ्वी के प्रतीकों द्वारा व्यंजित होता है। निराला की 'जुही की कली' दार्शनिक 'सत्य' की व्यंजना करनेवाली कही जाती है परन्तु उसका यह चित्रण:—

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की कि
झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली ;
मसल दिये गोरे कपोल गोल,

तो कुछ और कहानी भी कहता है।

कवि पन्त की 'ग्रन्थि' में भी सुन्दर भाव-चित्र हैं—

लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।

: वियोग पक्ष :

प्रेम का वियोग-चित्रण कई आख्यानक-काव्यों में हुआ है। 'जयद्रथवध' में उत्तरा का विलाप 'करुण' हो गया है। 'प्रियप्रवास' की विरहिणी राधा की विरह-दशा का मार्मिक चित्रण हरिऔधजी ने किया है। षष्ठ और पञ्चदश सर्ग में राधा की जो हार्दिक व्यथा उन्होंने प्रवाहित की है उसमें सहृदय मग्न हो सकते हैं! राधा का विरह यहाँ आत्मगत होकर भी विश्वोन्मुख हो गया है। पवन-दूती द्वारा पीड़ा का संदेश भेजती हुई राधा अपनी विरह-दशा की मार्मिक व्यंजना करती है। श्याम के सामने कमल दल को ले जाकर जल में डुबाने के संकेत द्वारा अश्रुमोचन की, नीप-पुष्प को ले जा कर दिखा देने के द्वारा रोमांच की, पत्ते के कम्पन-आन्दोलन द्वारा चित्त की क्लांति की, मलिन लतिका के द्वारा शीर्णता की और पीत पुष्प के द्वारा शरीरपांडुता की व्यंजना की जो योजना कवि ने कराई है, वस्तुतः वह कला-सृष्टि है। प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होते हुए, भी वह वही प्रभाव उत्पन्न करती है जो रस-दशा की कोटि में आता है—

> सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
> तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिरना।
> यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
> मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना।

जब वियोगिनी राधा प्रियतम के रंग में रँगे पाटल फूल को चूमती, जुही से व्यथा-निवेदन करती, चमेली से अनेक प्रश्न करती, बेला की निठुरता को कोसती, चम्पा को उपालम्भ देती, कुन्द को मनाती, केतकी की निन्दा करती, बन्धूक की वन्दना करती, अन्त में एक भ्रमर से अनुनय-अनुरोध करने लगती है, मुरली से कातर प्रार्थना करने लगती है, कोकिला से याचना करती है और कालिन्दी से कामना करने लगती है, तो मानों इन सब संचारी भावों की कवि योजना करता है।

गुप्तजी द्वारा अनुवादित 'विरहिणी ब्रजांगना' काव्य में राधा के विरह की करुण कोमल मार्मिक व्यंजना हुई है।

> हा गत सुख की स्मृति से अब क्या, वे क्या फिर मिल सकते हैं।
> सुरभि कहीं बासी फूलों में वे क्या फिर खिल सकते हैं?

उसका स्मरण भला है अथवा है उसका विस्मरण भला?
मधु कहता है, मधु के पीछे तप में कहाँ न कौन जला?[1]

तब तक उन्होंने उर्मिला का विरह-वर्णन नहीं किया था।

शोक-भाव : करुण-रस

करुण को 'एको रसः करुणमेव' कहकर भवभूति ने प्रशस्ति दी है। वस्तुतः मानव की आत्मा के साथ ही करुणा का आविर्भाव है इसलिए वह हृदय को अधिक स्पर्श करती है; 'प्रेम' (शृंगार ?) के पश्चात् इसी का स्थान मानव-मनोविज्ञान में है।

'जयद्रथवध' में वीर अभिमन्यु के शव पर उसकी प्रिया उत्तरा के विलाप में करुण-रस का परिपाक है। उसके कुछ शोकोद्गार हैं—

तव मूर्ति क्षतविक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी।
बैठी तथा मैं देखती हूँ हाय री छाती कड़ी।

× ×

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि-बन्धन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में

× ×

हे जीवितेश, उठो उठो यह नीद कैसी घोर है?
है क्या तुम्हारे योग्य यह तो भूमि सेज कठोर है।

करुण-रस का एक नया आलम्बन इन कवियों को मिला वर्तमान समाज। कवि का समाज कवि के शोक का आलम्बन है। उसकी अधोगति, उसकी अवनति, दीनता-दयनीयता किसे नहीं रुलाती? समाज का पीड़ित-शोषित वर्ग तो मूर्तिमान करुणालम्बन है। गुप्तजी की लेखनी से अंकित एक आर्द्र चित्र देखिए—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।

× ×

अविराम आँखों से बरसता आँसुओं का मेह है
है लटपटाती चाल उनकी, छटपटाती देह है।

---

१ 'विरहिणी-ब्रजांगना' (वंशी-ध्वनि)

गिर कर कभी उठते यहाँ, उठकर कभी गिरते वहाँ,
घायल हुए से घूमते हैं वे अनाथ जहाँ-तहाँ।
हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार-द्वार पुकारते
कहते हुए कातर वचन सब ओर हाथ पसारते
"दाता! तुम्हारी जय रहे, हमको दया कर दीजियो
माता मरे हा! हा! हमारी शीघ्र ही सुध लीजियो।"

(भारत-भारती : वर्तमान : १४-१६)

इसी प्रकार के करुण चित्र 'सनेही' जी ने अपने कृषक-समर्पित काव्यों में दिये। मैथिलीशरणजी के 'किसान' में और सियारामशरण गुप्त के 'अनाथ' में काल्पनिक आख्यान के माध्यम से करुणा की सफल व्यंजना है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' में समाज को शोक का आलंबन बनाया। द्विवेदी जी ने 'कान्य-कुब्ज-अबला-विलाप' में करुणा प्रवाहित की थी। श्री केशवप्रसाद मिश्र, सनेही आदि ने समाज के विभिन्न अंगों को लेकर करुणा की सृष्टि की।

मानव-हृदय किसी भी शोक-प्रसंग पर विगलित हो जाता है, किसी अकाल-काल-कवलित बालक की मृत्यु पर कवि की अन्योक्तिपूर्ण करुणोक्ति है—

तड़प-तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनियाँ का दुःख देखा न जाता।
निठुर सुख मिला क्या हाय पीड़ा दिये से
इस नवलतिका की गोद सूनी किये से?

(रूपनारायण पाण्डेय)

शोकगीत (Elegy)

हिन्दी में इस काव्य-रूप का कोई स्वतन्त्र विधान नहीं है। शोक-गीत (elegy) अंग्रेजी गीतकाव्य का एक मुख्य-भेद है। उर्दू में भी 'मरसिया' लिखा जाता है। भारतेन्दु-लिखित 'कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे!' एक शोक-गीत ही था। राष्ट्र-नेता की मृत्यु एक राष्ट्रीय शोक है। 'एक भारतीय आत्मा' ने तिलक के देहावसान पर जो शोक-गीत गाया वह

मानों कोटि-कोटि के कण्ठों से उद्‌गत करुण उच्छ्‌वास है। भारत-जननी उसमें सिसक-सिसक कर और बिलख-बिलख कर रोती हुई सुनाई देती है :

मैं ही हूँ मुझ इकलौती ने अपना जीवन-धन खोया,
रोने दो, मुझ हतभागिन ने अपना मन-मोहन खोया!
आधी रात, करोड़ों बन्धन अन्यायों से झुकी हुई,
पराधीनता के चरणों पर आँसू ढाले रुकी हुई।

कवि के मुख से तीस कोटि भारत-पुत्रों की पुकार तो हृदय को रुलाने वाली है—

क्यों चल बसना स्वीकार हुआ? बोलो, बोलो किस ओर चले?
ये तीस करोड़ किसे पावें, क्यों इन सबके शिरमौर चले?
क्यों आर्य-देश के तिलक चले, क्यों कमजोरों के ज़ोर चले?
तुम तो सहसा उस ओर चले, यह भारत माँ किस ओर चले?

और फिर राष्ट्रीय प्रतीकवाद की छाया में—

तुम पर सब बलि बलि जावेंगे, हे दानव-घालक लौट पड़ो,
भावों के फूल चढ़ावेंगे, हे भारत-पालक लौट पड़ो!
दुखियों के जीवन लौट पड़ो, मेरे घन-गर्जन लौट पड़ो।
जसुदा के मोहन लौट पड़ो, सित काली-मर्दन लौट पड़ो!

इस प्रकार के शोक-गीत अन्य कवियों ने भी लिखे जैसे—कभी गोखले की मृत्यु पर, कभी 'पूर्ण'जी की मृत्यु पर।

उत्साह भाव : वीर रस

वीर रस अपने प्राचीन स्वरूप में युद्ध की भूमिका में ही मिल सकता है। व्यक्ति की वीरता का आलम्बन वहाँ शत्रु मिल जाता है। उत्साह इसका स्थायी भाव है, इसलिए उसकी तो अनेक दिशायें और क्षेत्र हो सकते हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने केवल युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर की कोटियाँ स्थापित कीं। अन्य कई प्रकार के वीरों को वे भूल गये।

प्राचीन धारा के उदाहरण हमें उन आख्यानक-काव्यों से मिलते हैं जो प्राचीन ऐतिहासिक या पौराणिक भूमिका में हैं : जैसे जयद्रथ वध, मौर्यविजय, विकटभट, महाराणा का महत्त्व, वीर-पञ्चरत्न आदि। इनमें जहाँ रक्त-पात,

शस्त्र-संचालन का प्रसंग आया है कवियों ने ओजस्वी 'वीर' की निष्पत्ति की है। परंतु इस प्रकार के उदाहरण तो गतानुगतिक ही होंगे। आलोच्यकाल में उत्साह की व्यंजना समाज और राष्ट्र की भावभूमि पर भी हुई। समाज की सेवा करने की, उसको ऊँचा उठाने की और देश के लिए प्राण तक दे देने का उत्साह 'अहिंसा' ने दिया था। इसे कर्मवीरता कहना होगा।

'प्रियप्रवास' में कृष्ण जाति-सेवा का उत्साह व्यंजित करते हैं—

> अतः करूँगा यह कार्य मैं स्वयं,
> स्व-हस्त में दुर्लभ प्राण को लिये।
> स्व जाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं—
> न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

इस उत्साह की व्यंजना से 'मौर्य-विजय' के चन्द्रगुप्त और 'जयद्रथवध के अभिमन्यु', 'प्रणवीर प्रताप' के प्रताप के उत्साह में मूलतः कोई अन्तर नहीं, केवल रूप का अन्तर है।

गांधीजी ने जब प्राण को हथेली पर रखकर मस्तक से बलिवेदी को सजा देने का आदर्श स्थापित किया तो वीरता रक्तपान में नहीं, रक्त-दान में होगई, प्राण-हरण में नहीं, प्राणोत्सर्ग में हो गई। इस नवीन धारा की प्रतीक हैं वे मुक्तक कविताएँ जो राष्ट्रीय भूमिका में लिखी गई हैं। 'एक भारतीय आत्मा', 'सनेही' और मैथिलीशरण तथा भगवन्नारायण भार्गव, माधव शुक्ल आदि राष्ट्रीय कवियों की ऐसी अनेक ओजस्विनी कवितायें राष्ट्रीय कविता-धारा के प्रकरण में दी गई हैं।

'मौर्यविजय' की एक वीरोक्ति है—

> वीरो! सच्चा युद्ध वैरियों को सिखला दो;
> आर्यों का बल-वीर्य आज जग को दिखलादो।
> अपनी कीर्तिध्वजा आज सब ओर उड़ादो,
> मातृभूमि को विपज्जाल से जल्द छुड़ादो।
> खाली करदो रणभूमि यह शत्रुजनों को मारकर;
> जो बचे भगें वे ग्रीस को लज्जित होकर हारकर।

इसे हम राष्ट्रीय भूमिका में भी देख सकते हैं। ऐसी ही प्रतिध्वनि 'एक भारतीय आत्मा' की राष्ट्रीय कविता में श्रुत होती है—

बिगुल बज गया, चली सब सैन्य धरा भी होने लगी अधीर
खाइयाँ खोदीं रिपु ने हाय ! पार हों कैसे सैनिक वीर !
पूर दें इनको मेरे शूर शरीरों से" दे दिये शरीर,
इधर यों सेनापति ने कहा—उधर दब गये सहस्रों वीर

क्रोध-भाव : रौद्र-रस

रौद्र की व्यंजना उन प्रसंगों में होती है जब कवि को क्रोध और रोष का आलम्बन मिलता है। यहाँ भी कवियों को समाज मिल गया और उनकी वृत्ति को तृप्ति मिल गई। 'शंकर' जी की सामाजिक कविता का रोष-आक्रोश हम देख चुके हैं।

मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध', सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य विजय आख्यानक काव्यों में इसके उदाहरण पर्याप्त रूप से हैं। 'वीर-पंचरत्न' में रौद्र वीर का सहचारी होकर आया है। प्रसाद ने 'महाराणा का महत्त्व' दिखाते हुए नायक से कहलाया—

क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है !
हम अबला के बल से होंगे सबल क्या ?
रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने लिए के शत्रु के सामने
पीठ करोगे ?...........

वात्सल्यभाव

वात्सल्य का आलम्बन अबोध शिशु या सन्तति है। आख्यानक-काव्यों में ऐसे उदाहरण सुलभ होते हैं। इस काल में जो काव्य लिखे गये उनमें आनन्द-उल्लास-व्यंजित वात्सल्य तो कम मिलता है, हाँ करुणा-रंजित वियोग-वात्सल्य का रस प्रवाहित हुआ है 'प्रियप्रवास' की यशोदा के विलाप में। यशोदा अपने लाल कृष्ण के वियोग में सारी रात बिसूरती और विलाप करती है। 'सनेही' जी ने कौशल्या का राम के वन जाने समय का क्रन्दन आलेखित किया। 'प्रिय प्रवास' की यशोदा की उक्ति का उद्धरण है—

खर पवन सताये लाड़िलों को न मेरे,
दिनकर किरणों की ताप से भी बचाना।
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना,
मुख सरसिज ऐसा म्लान होने न पाये।

वात्सल्य की वियोग-व्यथा की व्यंजना है इस अवतरण में—

मुझ विजित जरा का एक आधार जो है,
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला,
सजल जलद की सी कांतिवाला कहाँ है ?
प्रतिदिन जिसको मैं अङ्क में नाथ लेके,
नित सकल कुअङ्कों की क्रिया कीलती थी।
अति प्रिय जिसका है वस्त्र पीला निराला,
वह किशलय के से अंग वाला कहाँ है ?

भयभाव

भय की भावना दो प्रकार से कविता में व्यक्त की गई। एक प्रकार में समाज की दुर्दशा का भयावह चित्र अंकित किया गया :

अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है !
पापी पामर प्लेग पसारे पाँव पड़ा है।
दिन दिन नई विपत्ति मर्म सब काट रही है,
उदरानल की लपट कलेजा चाट रही है।

दूसरा प्रकार आख्यानक काव्य की भूमिका का था—

जरा देर में हुई शत्रु-सेना शिथिलित सी,
पीछे वह हट चली युद्ध से हो विचलित सी।
घबराहट सब ओर पड़ गई उसमें भारी,
तितर-बितर तत्काल वह वहाँ गई निहारी।
आर्यों को काल समान ही देखा उसने भीति से।
आतङ्कपूर्ण वह हो गई भारतीय रण-रीति से॥

हास्य-व्यंग्य-विद्रूप

कवियों को समाज के अनेक दुर्बलताओं के रूप में हास्य-व्यंग्य का आलम्बन मिला। शुद्ध हास्य तो इस काल की कविता में विरल है, परन्तु व्यंग्य मिश्रित हास्य 'भारतभारती' में, शंकर की सामाजिक कटूक्तियों में, रामचरित उपाध्याय की व्यंग्योक्तियों में और केशवप्रसाद मिश्र की विद्रूपोक्तियाँ में प्रचुर परिमाण में है।

शंकर भगवान पर लिखी पंक्तियाँ अन्यत्र दी जा चुकी हैं। अब कृष्ण पर उक्ति सुनिए—

> भड़क भुलादो भूतकाल की सजिए वर्तमान के साज,
> फैशन फेर इंडिया भर के गोरे गॉड बनो ब्रजराज !
> गौर वर्ण वृषभान सुता का काढ़ो काले तन पर टोप,
> नाथ उतारो मोर मुकट को सिर पै सजो साहिबी टोप।

शुद्ध हास्य की सृष्टि के लिए ज़िन्दादिली चाहिए। इस पराधीन परवश समाज में यह दुर्लभ थी; फिर भी द्विवेदी जी की ये पंक्तियाँ हास्य रस की अमर सृष्टि रहेंगी—

> धनी पुरुष गद्दी के ऊपर धोती भर कटि से लिपटाय,
> तुंदिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमंड में आय !
> वृषभराज ! तुम भी निज थलपर झूल पीठपर से लटकाय,
> पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे हो बैठे सुख पाय।

विद्रूप हास्य का ही उदाहरण 'ग्रंथकार-लक्षण' में है।

'वीभत्स' और 'शान्ति'

सामाजिक भूमिका में शास्त्रीय वीभत्स रस की व्यंजना नहीं मिलती क्योंकि वह रस ही वीभत्स है। कदाचित् ऐसा प्रसंग चित्रित करना मानव को रुचिकर नहीं होता। इस रस के सम्बन्ध में मेरा मत यह है कि इसका भी आलम्बन बदलना चाहिए। अब तो जो वस्तु हमें घृणा उत्पन्न करे वही बीभत्स का आलम्बन होनी चाहिए: जैसे, वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था वाले समाज में यह घृणा शोषक-पीड़क, अन्यायी-अनाचारी के प्रति हो सकती है।

इस कोटि में इन पंक्तियों का समावेश होगा—

अगर सभ्यता आज भले को ही है भरना।
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना।
तो सौ सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीवमात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी ?
(वर्षा और निर्धन : केशवप्रसाद मिश्र)

शांतभाव की व्यंजना भक्ति-भावना की कविताओं में क्वचित ही मिलती है। इस काल के कवि समाजजीवी हैं—वे समाजपराङ्मुख नहीं। समाजोन्मुख मानव निर्वेद (शम्) भाव की व्यंजना नहीं कर सकता।

अलंकार

'अलंकार' भाषा में अलंकरण का साधक है, अतः वह वेदकाल से कवियों का प्रेय रहता आया है। अलंकार का प्रयोजन भाव (अर्थ)-व्यंजना में शोभा की सिद्धि करना है, अतः उसकी अनिवार्यता भी है, परन्तु वह तब अकमनीय हो उठता है, जब वह सौन्दर्य-सृष्टि करने के स्थान पर भार हो जाए। ऐसा अतिप्रयोग अथवा अस्वाभाविक मोह के कारण होता है।

आलोच्यकाल में दो कोटि के कवि हैं—

एक वे जो अलंकार का यह सहज धर्म समझते हैं। वे केवल भाव-सौंदर्य के लिए उसका नियोजन करते हैं। ऐसे कवि हैं श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, 'एक भारतीय आत्मा', सियारामशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह।

दूसरी कोटि के वे कवि हैं जो अलंकार के मोह से जकड़े हैं। उनमें प्रेमघन, हरिऔध, नाथूराम शंकर शर्मा, सनेही, रामचरित उपाध्याय आदि हैं। ये दूसरे वर्ग के कवि अलंकारवादी हैं जिनका मंत्र-वाक्य है—

स्तुति से, गुण से, रस से अलंकृता भी तथा अलंकृति से,
कविता हो या वनिता दोनों सब को लुभाती हैं।

अलंकारों के अनुशीलन में हम पहले मुख्य शब्दालंकारों को लेंगे और फिर प्रधान अर्थालंकारों को।[१]

१, कवि और कविता : रामचरित उपाध्याय

शब्दालंकार

अनुप्रास

अनुप्रास शब्दालंकारों में आधारभूत है। कविता मे यह प्रायः मिलता है। इसके कुछ उदाहरण आलोच्यकाल के कवियों की कविता से चुने जाते हैं:

शिल्प कमल कलिका कलाप को बिना विलम्ब खिलाता (प्रेमघन)।

१. मनोहरा थी मृदु गात माधुरी (प्रियप्रवास : हरिऔध)
२. नयन रंजन अंजन मंजु सी (प्रियप्रवास : ,,)
३. कलामयी केलिवती कलिन्दजा (,, ,,)
४. नितान्त केला कल केलिमग्न था (,, ,,)
५. प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी (,, ,,)

१. फूल फूल कर फाग फला महिला-मण्डल में (शंकर)
२. ऐसी ठकुराई ठेलि टोठुआ ठकुरिया में (शंकर)
३. शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की (,,)
४. चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग (,,)
५. फारसी की छार-सी उड़ाय अंग्रेजी पढ़ (,,)

उक्त उदाहरणों में अनुप्रास का प्रयास स्पष्ट लक्षित होता है। इसके विपरीत पाठक जी की सहज स्वाभाविक भाषा-सुषमा देखिए।

१. पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।
बिमल अम्बुसर मुकुरन महं मुखबिम्ब निहारति।

२. अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती, तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है।

इसी प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त की कला भी कमनीय है—

१. मिल गई चंदन चिता के ज्वाल-जालामोद में। (रंग में भंग)
२. अलि कुल कल कल कलित कमल फूला हो जैसे (कुंती और कर्ण)
३. स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्म भूमि कही गई
४. धाम धरा धन सब तज कर मैं (झंकार)

पद-लालित्य की छटा गोकुलचन्द्र शर्मा के खण्ड-काव्यों में भी है—

मन मोहती थी मदन का वह मदन मोहन की कला।

परन्तु शंकर जी ने कर्कशता का भी विचार न किया—

(१) विजन-वन-वल्लरी	('व' की आवृत्ति)
(२) सोती थी सुहागभरी स्नेह-स्वप्न-मग्न	('स' की आवृत्ति)
(३) अमल-कोमल	('मल' की आवृत्ति)
(४) तनु-तरुणी	('त' की आवृत्ति)
(५) विरह-विधुर	('व' की आवृत्ति)
(६) आई याद...आई याद...आई याद	(आद्यानुप्रास)
(७) बात...रात...गात	(अंत्यानुप्रास)
(८) पवन उपवन	('वन' की आवृत्ति)
(९) सर-सरित	('स' की आवृत्ति)
(१०) गहन-गिरि	('ग' की आवृत्ति)
(११) कुञ्ज-लता-पुञ्जों	('ञ्ज' की आवृत्ति)
(१२) की केलि कली-खिली साथ	('क' और 'ली' की आवृत्ति)
(१३) डोल उठी...हिंडोल	('डोल' की पदावृत्ति)
(१४) जागी नहीं...माँगी नहीं	(अंत्यानुप्रास)
(१५) निर्दय उस नायक ने	('न' की आवृत्ति)
(१६) निपट निठुराई	('न' की आवृत्ति)
(१७) झोंकों की झड़ियों से	('झ' की आवृत्ति)
(१८) सुन्दर सुकुमार	('सु' की आवृत्ति)
(१९) कपोल गोल	('ओल' की आवृत्ति)
(२०) चकित चितवन	('च' की आवृत्ति)
(२१) चारों ओर फेर	('र' की आवृत्ति)
(२२) हेर प्यारे	(र की आवृत्ति)
(२३) खिली खेल	('ख' 'ल' की आवृत्ति)
(२४) रंग प्यारे संग	('अंग' की आवृत्ति)
(२५) वल्लरी सुहागभरी	('री' की आवृत्ति)

पन्त की कविताओं में भी सानुप्रासिकता मिलती है। उनके द्वारा प्रयुक्त सानुप्रास शब्दों—हृदय-हार, भ्रू-भंग, स्वप्न-सदन, स्वर्ण-स्वप्न, मौन-मुकुल, नयन-नलिन, कलित-कल्पना, मृदु-मुसकान, तरल-तरंग, क्रीड़ा-कौतूहलता, मर्म-मधुर, पदप्रिय चञ्चलता, सहज-सरलता, सुधा-स्मिति, विरह-वेदना के अतिरिक्त मुकुलित पलक, फेनिल लहर, तारक-लोक, अलस-पलक, बाल-

जाल, बाल-चपलता, कोमल-बोल भी कम अनुरणनकारी नहीं है। इनमें कवि को कोई प्रयास-आयास नहीं करना पड़ा। परन्तु—

१ 'पुलकित पलक पसार अपार'।
२ 'झूलते हों झोंकों की झूल'।
३ 'क्रीड़ा-कौतूहल कोमलता,
मोद मधुरिमा हास विलास',।

४ रूप, रंग, रज, सुरभि मधुर मधु भर भर मुकुलित अंगों में में वर्ण निर्वाचन प्रयत्नसाध्य है। 'प्रसाद' के शब्दों में भी अनुरणन है—

१. चन्द्र किरण हिम बिन्दु मधुर मकरन्द से,
२. स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ती हो परमाणु - पराग,
३. नवतमाल श्यामल नीरद माला भली।
४. तभी कामना के नूपुर की हो जाती झंकार।

यमक और श्लेष

'यमक' और 'श्लेष' अलंकारों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। इसमें विशेष कौशल की अपेक्षा रहती है। परन्तु प्रतिभाशाली कवियों ने ऐसे प्रयोग किये। यमक के कुछ उदाहरण हैं—

१. 'ईश गिरिजा को छोड़ ईश गिरजा में जाय। (शंकर)
२. अंगराग पुरांगनाओं के धुले। (गुप्त)
३. सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है? (हरिऔध)
४. प्रमुखता मुख की सुकवि के काव्य में। (पन्त)
५ फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में। (पन्त)

हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' के नवें सर्ग में द्रुतविलम्बित के अंतिम चरण में ऐसे कई प्रयोग किये—

१. विशालता शाल विशालकाय की (प्रिय प्रवास)
२. सशोक का शोक अशोक मोचता (,,)

रामचरित उपाध्याय सानुप्रासिक यमक के शब्द-शिल्प द्वारा सूक्ति-काव्य प्रस्तुत करने में बड़े कुशल रहे। 'विधि-विडंबना' के छन्दों में से दो कवितायें हैं।

१. सुविध से विध से यदि है मिली,
रसवती सरसीव सरस्वती।
मन ! तदा तुझको अमरत्वदा,
नव-सुधा वसुधा पर ही मिली।
२. चतुर है चतुरानन सा वही,
सुभग भाग्य विभूषित भाल है।
मन ! जिसे मन में पर काव्य की।
रुचिरता चिरतापकरी न हो।

'राम-चरित-चिन्तामणि' के अंगद-रावण-संवाद में भी यही कौशल प्रदर्शित है।

'भाषा-समक' भी, जो किन्हीं किन्हीं प्राचीन कवियों (जैसे खुसरो और रहीम) का प्रिय वाग्विलास रहा था, इन्होंने दिखाया—

हर्म्ये सा स्वकरेण शुभ्रवसना बेनी रही बाँधती।
औत्सुक्यातिशयेन हा मम सखे जो भी वहीं जा बँधी।
दृष्टोऽहं च यदा तया दयितया मेरी दशा जो हुई।
ज्ञास्यत्येव हि तां स यस्य हृदये, होगी कटारी लगी।
(पूर्वस्मृति)

इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

१. 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं' है स्वतन्त्र मेरा भगवान्। (गुप्त)
२. 'बलहीनेन लभ्य' मंत्र विख्यात है। (गुप्त)
३. 'संन्यास कर्मयोगस्तु कर्मयोगो विशिष्यते।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्म योगो विशिष्यते।'
—यह गीता का गूढ़ ज्ञान।
(गिरिधर शर्मा)

प्रोक्ति-प्रयोग

यह चमत्कार हरिऔध, सनेही और गुप्त जी ने दिखाया। हरिऔध जी ने अतिवाद कर दिया और अर्थ पर आघात हुआ। 'सनेही' जी ने उर्दू शैली की 'प्रोक्तियाँ' लीं। मैथिलीबाबू ने प्रायः हिन्दी में अनूदित करके प्रोक्तियों को दिया। उदाहरण के लिए 'कण्टकेनैव कण्टकम्' का अनुवाद—

"कण्टक निकालने को कण्टक ही चाहिये ।"

प्रोक्ति-प्रयोग को छायावादी कवि ने भी बहिष्कृत नहीं किया है—

१ बिका हुआ है जीवन धन यह कब का तेरे हाथों में (प्रसाद)
२ कृपा कटाक्ष अलम है केवल कोरदार या कोमल हो („)
३ उड़ा दो मत गुलाल सी हाय अरे अभिलाषाओं की धूल ।(„)
४ आँख बचाकर न किरकिरा करदो इस जीवन का मेला („)
५ नम्रमुखी हँसी खिली खेल रंग प्यारे संग । (निराला)
६ फूली नहीं समाऊँगी मैं उस सुख से हे जीवन-धन ! (पंत)
७ तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती चौदह दुखद वर्ष दिन रात(पन्त)
८ हम भी हरी भरी थीं पहिले, पर अब स्वप्न हुए वे दिन (पन्त)

अन्तर इतना है कि प्रोक्ति भाव और भाषा पर भार-रूप नहीं है ।

अर्थालंकार

उपमा

अनुप्रास की भाँति, उपमा अर्थालंकार में मूलभूत है । उपमा में प्राचीन परिपाटी का पूर्ण निर्वाह है । नख-शिख-वर्णन में प्रायः रूढ़ उपमान ही लाये गये हैं । उपमा के श्रेष्ठ प्रयोग श्री मैथिलीशरण गुप्त सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गिरिधरशर्मा आदि ने किये । उदाहरण—

१ पद्मयुत प्रकटित हुई हो पद्मिनी ज्यों अधखिली ! ('रंग में भंग')
२ बस अब उनके अंग लगूँगी उनकी वीणा-सी बजकर मैं ।('झंकार')
३ इन्द्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से । ('कानन कुसुम')
४ दर्शन पाकर तल्लीन हो गये ऐसे;
श्रुति अर्थ मनन से हो विदेह जन जैसे । ('वसंत-वियोग' : पूर्ण)

प्रतिभाशाली कवियों की उपमा में केवल शाब्दिक साम्य दिखाकर ही नहीं रह जातीं ; वे वस्तुतः चित्रांकन करती हैं । गुप्तजी की सुन्दर चित्रोपमायें देखिए—

१ निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन में ज्यों डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों,
भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी।
२ पतली पड़ी थी उपवीत तुल्य कंधे में
उसमें कटार खोंसी जिसकी समानता
करने को भौहें भव्य भाल पर थी तनी। (विकट भट)

इस अलंकार को नयी भंगिमा भी दी गई। यों तो वस्तुत: उपमा की ही विविध भंगिमायें—रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, भ्रांति, सन्देह, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार हैं।

श्री रूपनारायण पाण्डेय की 'हृदयेश्वरी' कविता में उपमा की भंगिमा वाले कुछ बन्ध लीजिए—

हाँ, जो कहीं अब हो स-जीव, कलंक-हीन अमन्द,
तो ठीक वैसा हो सके सुन्दर शरद का चन्द।
आकाश में सुस्थिर रहे बिजली अगर हर आन,
तो प्राप्त हो उसको रसीली उस हँसी की शान।
फूले फले चिर दिन रहे रस-राग-रंग अनन्त,
तो उस प्रफुल्लित अंग की पावे बहार बसन्त। +

छायावादी कवि भी उपमा और रूपक की नई भंगिमा लेकर प्रस्तुत हुए हैं। निराला जी की कविता 'जुही की कली' में

'अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कलो दृग बन्द किये'

में अमल-कोमलतनु तरुणी' उपमान है 'जुही की कली' का; परन्तु साथ ही यह न रूपक है, न उपमा; यदि इसे रूपक मानें तो विशेषण अनावश्यक है, यदि उपमा मानें (लुप्तोपमा), पर 'वाचक' अनावश्यक हो गया है क्योंकि यहाँ तरुणी ('युवती' का अर्थवाची होकर) विशेषण भी है और संज्ञा भी। और दृग बन्द किये कली सो रही थी कि तरुणी? कली। 'दृग बंद किये' में दृग का उपमेय अनुक्त है अत: रूपकातिशयोक्ति होगा। यदि सम्पूर्ण कविता में से जुही की कली और मलयानिल शब्दों को ग्रहण करदें तो यह एक 'रूपकातिशयोक्ति' हो जायगी।

+'सरस्वती' : भाग १४; खण्ड १ : फरवरी १९१३

'स्वर्ण किरणों में कर मुस्कान'

में स्वर्ण का केवल रंग ग्रहीत है जो धर्म-मात्र हुआ परन्तु साथ ही यह वैभव का भी सूचक बन गया है !

छायावादी कवियों की उपमायें स्थूल उपमानों में ही नहीं रहतीं। ये कवि सूक्ष्म संघटना को भी विशेष भाव की मूर्ति मानते हैं ! इसलिए मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त्त से उपमित कर देते हैं।

पहले प्रकार की कुछ भावप्रधान उपमाएँ 'छाया' में देखिए—

(१) पीले पत्तों की शैया पर तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी
(२) गूढ़ कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
(३) चूर्ण शिथिलता-सी अँगड़ाकर
(४) तरुवर की छायानुवाद सी, उपमा सी, भावुकता सी,
अविदित भावाकुल भाषा सी, कटी छँटी नव कविता-सी।

इस प्रकार की उपमायें 'छाया' में प्रचुर मात्रा में हैं। दूसरे प्रकार के उदाहरण में कई उपमायें पौराणिक आख्यानों पर आधारित होने के कारण अर्थ-गर्भित हो गई हैं—

(१) तुम पथश्रान्ता द्रुपद सुता-सी (छाया : पंत)
(२) कहो कौन हो दमयंती-सी तुम तरु के नीचे सोई (,,)
(३) रतिश्रांता ब्रज-वनिता-सी (,,)

कुछ उपमायें नवीन आभा से आलोकित हैं :—

१ सरिता के चिकने उपलों-सी मेरी इच्छाएँ रङ्गीन (पंत)
२ इन्दु विचुम्बित बाल-जलद सा मेरी आशा का अभिनय (पंत)

छायावादी कवियों ने उपमा में एक विशेषता और उत्पन्न की है; वह है अर्थ-विस्तार का समावेश। पंत की एक लुप्तपमा है—

'मेरे अधरों पर वह मां के दूध सी धुली मृदु मुसकान'

मृदु मुसकान को दूध सी धुली बनाने में न केवल धवलता की व्यंजना है यह किसी और उपमान से भी व्यंजित हो जाता वरन् पवित्रता की भी है। एक और उक्ति है—

'तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन !'

यहाँ मृग केवल चंचलता का धर्म ही लेकर नहीं आया; यह तो लहर या अन्य वस्तु भी कर देती वह यहाँ बाँधी जाने वाली वस्तु का भी व्यंजक है!

'मधुकर की वीणा अनमोल' में 'गुञ्जन' उपमेय लुप्त होकर भी अर्थ की प्रतीति कर रहा है।'मुकुलित पलकों के प्यालों में' प्याले की वारुणी की मादकता ध्वनित हो रही है। इसी प्रकार की अन्य उपमाएँ हैं—

१ योग का सा यह नीरव तार ब्रह्म-माया का सा संसार,
२ जो अकर्ण अहि को भी सहसा कर दे मंत्र मुग्ध नत-फन
३ वंशी से ही करदे मेरे सरल प्राण औ सरस वचन।

\+ + +

रोम रोम के छिद्रों से मा! फूटे तेरा राग गहन। (पन्त)

रूपक

रूपक का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है परंतु निरंग और परंपरित का अधिक, सांग का कम। सांग रूपक के उदाहरण 'जयद्रथ वध' में आये हैं। रूपक का उदाहरण 'झंकार' से है—

तुम्हारी वीणा है अनमोल
हैं विराट जिसके दो तूँबे—
ये भूगोल खगोल।

गुप्तजी की 'मातृभूमि' कविता में सांग रूपक की आभा है। निरंग-परंपरित रूपक का उदाहरण 'मातृमूर्ति' में है—

वरद हस्त हरता है तेरे शक्ति-शूल की सब शंका।
रत्नाकर-रसने, चरणों में अब भी पड़ी कनक-लंका।
सत्य-सिंह-वाहिनी बनी तू विश्व-पालिनी रानी।

परम्परित का एक उदाहरण 'सनेही' जी का है—

जीवन-सर में सरस मित्रवर यही कमल है
मोद-मधुर-मकरन्द-सुयश-सौरभ निर्मल है।

रूपक में भी मौलिकता की भंगिमा नये कवियों द्वारा दी गई है। इनके रूपक चित्रित से ध्वनित अधिक होते गये।

जब छाया से कवि कहता है—'ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि', तो वह मान. छाया को प्रेयसी का रूप देता है, और जब वह छाया से कहता है—'मुरझे पत्रों की साड़ा से ढक कर अपने कोमल अंग' तो वह पत्रावली की साड़ी का रूपक देता है, परंतु किस भंगिमा से ! निराला जी ने 'जुही की कली' में—'शिथिल पत्रांक' में पर्यंक न कहकर भी ध्वनि-द्वारा ही रूपक प्रस्तुत कर दिया है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा का प्रयोग बिना चित्र-कल्पना के नहीं होता; यह चित्र-कल्पना केवल उपमा से नहीं होती, न केवल रूपक से; इसलिए यह कवियों में या तो दुर्लभ होती है या स्वाभाविक और सटीक नहीं होती। गुप्त-बंधुओं ने इसके सुंदर प्रयोग किये :

१. दुर्भिक्ष मानो देह धरकर घूमता सब ओर है। (मै.श. गुप्त)
२. थे मानों प्रत्यक्ष इन्दु वे अवनीतल के। (सि.श.गुप्त)

सन्देह

'सन्देह' के प्रचुर प्रयोग इस काल में किये गये हैं। कुछ उदाहरण हैं—

(१) चन्द नहीं यह प्याला है पीयूष का,
या बोया है बीज विमल प्रत्यूष का
अथवा है 'आदर्श' प्रकृति के रूप का
या चन्द्रातप तना मनोभव भूप का।
('राका'[१] : रूपनारायण पांडेय)

(२) कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि
श्यामघन मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।

१ जुलाई: १९१२ 'सरस्वती'

काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है।
(शंकर)

अपन्हुति

नयनों को 'अमी हलाहल मद भरे' तो रसलीन कह गये पर इससे अधिक नाना प्रकार की कल्पनायें करते हुए अपन्हुति का एक नये ढंग का प्रयोग 'दीन' जी का है—

कहो तो आज कह दें आपकी आँखों को क्या समझें।
सिता सिन्दूर मृगमद युक्त अद्‌भुत कुछ दवा समझे।
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुंदर सुधा समझे।

एक प्रयोग नये कवि 'निराला' जी का भी है—

मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्पजल में या विकल लघु मीन हैं!
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी—
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं।

कविता में अपन्हुति-अलङ्कार का एक प्रयोग 'कहमुकरनी' पहेली बन गया है। इस कौशल में अमीर खुसरो के पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही आगे बढ़े थे, खड़ी बोली में रामचरित उपाध्याय ने ही इस अलंकार में कौशल दिखाया—

ठठरी उसकी बच जाती है।
जिसको हा वह धर पाती है।
छुड़ा न सकते उसे हकीम।
क्यों लखि 'डाइन,' नहीं 'अफ़ीम'।

उल्लेख

इस अलंकार का उपयोग कुछ कवियों ने ही किया है—

फूल से कोमल, छबीला रत्न से,
वज्र से दृढ़, शुचि सुगंधित यज्ञ से,
अग्नि से जाज्वल्य, हिम से शीत भी,
सूर्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से।
वायु से पतला, पहाड़ों से बड़ा,
भूमि से बढ़कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म्म का अवतार रूप शरीर जो
श्वास क्या, संसार की वह स्फूर्ति है।

('हृदय' : एक भारतीय आत्मा)

अब कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकारों का प्रयोग द्रष्टव्य है। गुप्त-बन्धु, भट्ट, त्रिपाठी आदि की कविता में अलंकार अच्छे मिलते हैं। मैथिलीशरण की भांति राष्ट्रीय कवि 'त्रिशूल' ने भी 'परिसंख्या' का श्रेष्ठ प्रयोग किया :

लज्जा रही लाजवन्ती में, रही सूरता अन्धों में,
लोगों को लड़वाना बाकी सिर्फ रहा है धन्धों में।
पानी है सर कूप सरित में, नमक रहा दूकानों में,
नाक चनों में, ज्ञान एक है बाकी बेईमानों में।
ऊँचे रहे ताल तरु केवल, भाव रहा बाजारों में,
गुण रह गया नाव ही में बस बल भू में या बालों में।

(प्रार्थना : 'सनेही')

'असंगति' का एक सुन्दर प्रयोग देखिए—

मा शङ्करी ! तू अन्नपूर्णा और हम भूखों मरें !

'अन्योक्ति' अलङ्कार भी अर्थालंकारों में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका श्रेष्ठ प्रयोग इस काल में हुआ है। चमत्कारात्मक पद्धति के प्रकरण में इसका विशेष विवेचन किया जा चुका है। मैथिलीशरण 'बादल' की आत्मोक्ति अन्योक्ति के रूप में देते हैं—

क्या कहा ? काले ? हाँ हम श्वेत नहीं,
किंतु क्या निर्मल नीर-निकेत नहीं ?
बरसते हैं क्या साम्य समेत नहीं ?
हरे रखते हैं क्या सब खेत नहीं ?

और

सरस हैं पर हम शक्ति-विहीन नहीं,
आर्द्र हो कर भी क्या धन हीन नहीं !
देख लो दाता हैं, हम दीन नहीं;
समय के हम हैं किंतु अधीन नहीं;

श्री बदरीनाथ भट्ट 'अनुरोध (एक बन्द कमल के प्रति)' करते हुए 'अन्योक्ति' से देश के नवजागरण और नवजीवन की भी व्यंजना करते हैं :

अब तो आँखें खोलो प्यारे
पूर्व दिशा अब अरुण हुई है,
प्रकृति देवि पट बदल रही है
यम ने तम की बाँह गही है,
छिपकर भागे तारे।
नव-जीवन संचार हुआ है,
ऐक्य--भाव विस्तार हुआ है,
सुखमय सब संसार हुआ है,
जागे साथी सारे !

(सरस्वती: अगस्त १६१४)

स्पष्ट है कि यह बन्द कमल भारत का ही समाज या राष्ट्र है। इसी प्रकार उनकी गीत-कविताएँ 'वृद्धावस्था', 'गंगा में दीपक' इत्यादि भी सामाजिक-राष्ट्रीय-दार्शनिक तथ्यों की ओर इंगित करती है। मुकुटधर पांडेय ने भी लिखा—

सुमन ने फाड़कर अपना हृदय दिखला दिया नभ को;
छिपाता पाप को प्रभु से वृथा रे जीव अज्ञानी।[1]

सियारामशरण गुप्त की अन्योक्ति शैली में संकेतात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं—

माली देखो तो तुमने यह कैसा वृक्ष लगाया है।
कितना समय होगया इसमें नहीं फूल भी आया है।[2]

उनकी 'अभागा फूल' और 'गूढ़ाशय' इसी प्रकार की कविताएँ हैं।

---

१ क्षमा-प्राथना : सरस्वती जून १८   २. माली : सरस्वती : मई १६२०

'अन्योक्ति' एक साधारण अलंकार नहीं है। वह मानस के किसी भी भाव को संसार के किसी भी पदार्थ को, जीवन के किसी भी क्षेत्र को अस्पर्श्य नहीं मानती। एक प्रकार की सांकेतिकता (suggestiveness) इससे कविता में आती है। 'प्रतीक' और 'संकेत' के प्रकरण में इसका प्रसार दिखाया जा चुका है।

आलोच्यकाल में कहीं-कहीं 'स्वभावोक्ति' की सुषमा भी दिखाई दी—

धूल भरे घुँघराले काले माता को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे गोरे-गोरे सस्मित गाल।[1]

और 'विरोधाभास' की विचित्रता भी—

१ इधर विविध लीला-विस्तार
उधर गुणों का भी परिहार
जिधर देखिए एकाकार
किधर कहें हम तेरा द्वार।[2]

२ अश्रुओं में रहता है हास,
हास में अश्रुकणों का भास।[3]

अलंकरण में दो अवस्थायें हमें दिखाई देती हैं। पहली अवस्था में प्राचीन पद्धति की लक्ष्मण-रेखा में रहकर सौन्दर्य-वृद्धि करना है। दूसरी अवस्था में सर्वथा नवीन अलंकरण हैं। पहली अवस्था में भाव-सौन्दर्य हमें सबसे अधिक मैथिलीशरण गुप्त की कविता में ही मिलता है।

मेरे तार-तार से तेरी तान-तान का हो विस्तार,
अपनी अँगुली के धक्के से खोल अखिल श्रुतियों के द्वार।

श्री राय कृष्णदास, श्री सियारामशरण गुप्त, श्री रामनरेश त्रिपाठी आदि गुप्तजी के ही पथ के पथिक हैं। दूसरी अवस्था में विशेष देन छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला और विशेषतः सुमित्रानन्दन पंत) की है। छायावाद के अन्तर्गत जिन नूतन अलंकरण का समावेश हुआ है, उसका विशद निर्देशन 'प्रतीक और संकेत' में 'छायावाद' के साथ किया जा चुका है।

---

१. बालापन [१६१६] : पन्त २. मेरा देश [गुप्त] ३. 'पल्लव' [पंत]

२ : कवि और काव्य

द्विवेदी-कालीन कविता के इस यत्किंचित् अध्ययन-अनुशीलन के उपरांत यदि हम इन बीस वर्षों के कवियों और उनकी कविताओं का काल-क्रमानुसार मूल्याङ्कन करें तो अप्रासंगिक न होगा।

जिस समय द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सूत्रधार होकर हिन्दी-सरस्वती के सेवक बने, हिन्दी-जगत् में उल्लेखनीय कवि थे—श्रीधर पाठक, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'। 'प्रेमघन' जी भारतेन्दु के सहयोगी थे और कविरूप में उस काल में भारतेन्दु के पश्चात उन्हीं का स्थान था। उन्होंने अपनी जीवन-संध्या में खड़ी बोली में कविता का प्रारम्भ किया था। 'रत्नाकर' जी जीवन भर ब्रजवाणी के कवि ही रहे। वे 'सरस्वती' के आदि संपादकों में थे। ब्रज-वाणी के वे अन्तिम प्रतिभावान् कवि हुए। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' पर भी ब्रजवाणी का मोह था, परन्तु वे खड़ी बोली के भी कवि हो सके। श्रीधर पाठक भी ऐसे ही कवि थे।

ब्रजभाषा में कविता करने वाले दो प्रकार के कवि थे—एक वे जो एकान्त रूप से ब्रज-सेवी थे जैसे 'भूप' और श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

एक दूसरी कोटि उन कवियों की थी जो ब्रज और खड़ी बोली कविता में तुल्य रुचि के साथ कविता करते थे। ऐसे ही कवि थे श्री श्रीधर पाठक और श्रीपूर्ण। तीसरी कोटि के वे कवि जो ब्रज के थे परंतु खड़ी बोली में भी रस ले लेते थे जैसे रामचन्द्र शुक्ल और श्री सत्यनारायणकविरत्न।

खड़ी बोली में कविता करने वाले दो कोटि के कवि थे। पहली कोटि के कवि वे हैं—जो संक्रान्ति काल के थे। उनका काव्य जीवन ब्रज में आरम्भ हुआ पर वे अन्त में खड़ी बोली के ही कवि बन गये। श्रीमहावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री हरिऔध, श्री 'दीन' और श्री जयशंकर 'प्रसाद' ऐसे थे! जिन्होंने ब्रज को जब नमस्कार किया तो फिर वे खड़ी बोली के ही होगये। इसी में उन कवियों की गणना की जानी चाहिए, जो खड़ी बोली के होगये परन्तु ब्रजवाणी का पुट उनमें कुछ रहा करता था, जैसे कवि श्री शंकर।

द्विवेदी जी का स्थान कवि से अधिक कवि-निर्माता और काव्य-मर्मज्ञ का है, यद्यपि उस काल में कवि रूप में भी उनका कर्त्तृत्व रहा। इन कवियों की कविता का मूल्यांकन अब हम करेंगे।

क : प्राचीन परम्परा

यद्यपि आलोच्यकाल प्रधानतया भारती की कविता का ही है और उसी का एकच्छत्र राज्य है परन्तु कुछ निकुंजों में अब भी ब्रजवाणी की बाँसुरी बजती हुई सुनाई देती है। ब्रजभाषा जो परम्परागत काव्यभाषा थी कई श्रेष्ठ कवियों (श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण, जयशंकर 'प्रसाद' आदि) की प्रिय वस्तु रही। इधर राजस्थान में डिंगल की परम्परा भी चल रही थी। उनमें भी कुछ अच्छी प्रतिभायें कर्मण्य थी।

श्रीधर पाठक

भारतेन्दु के पश्चात् युग की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा कवि श्रीधर पाठक में दिखाई दी। यद्यपि खड़ी बोली में उन्होंने १८८६ ई० में ही 'हरमिट' का अनुवाद ('एकान्तवासी योगी') कर दिया था; परन्तु उनकी वृत्ति ब्रजवाणी में ही रमती थी। श्रीधर पाठक प्राचीन परम्परा में पले हुए थे, परन्तु दृष्टि उनकी सर्वथा नवीन थी। यही नवीन दृष्टि जन-मन को सम्मोहित करती थी। १८८२ में भारतेन्दु के जीवन-काल में ही वे 'मनोविनोद' लेकर प्रकट हुए थे। 'घनविनय' कविता में छप्पन (वि-सं०) के अकाल का हृदय-द्रावक वर्णन तो है ही, कवि की प्रेम भरी पुकार भी है:

पोखर नदी, तडागन, बागन बगियन बीच
गैल, गली, घर, आँगन, भरहु मचावहु कीच
कजरी मधुर मलारन की धुनि पुनि सुनवाउ।
मंगल मोद मनावन की चरचा चलवाउ।
झूलन फूल हिंडोलन काम किलोल कराउ।
पुनि-पुनि पिय-पिय बोलन पपियन प्यास बुझाउ।

कृषि-किसान और तृण-धान के प्रति कवि की यह दृष्टि :

करि कृतकृत्य किसानन सम्बत्सर सरसाउ
सींच सस्य तृन धानन तब निज धाम सिधाउ।

कविता में नई थी। हिन्दी कविता में पहिली बार खलिहान, रब्बी के लहलहे अंकुर, खरीफ़ के खेत, रहँट, परोहे, ऊख के बरहे, जौ, गेहूँ, ज्वार-बाजरा, सरसों-सौंफ और सोआ-पालक को भी स्थान मिला:

सुघर सौंफ सुन्दर कसूम की क्यारियाँ
सोआ पालक आदि बिबिध तरकारियाँ

भारतेन्दु-मण्डल के कवियों की भाँति कवि का हृदय गीत-स्वरों में भी प्रस्फुट होता था—

सरस बसन्त नवल पुनि आयौ।
पुलक प्रफुल्ल भई तरु वल्ली नव अबला मनमोद बढ़ायौ।
सरसों पीत पीत केसर सोइ संध्या सीस पीत ससि छायो
पीतम पीत वसन भूसन सज निज प्यारिन संग जमायो
प्रकृति रीति अपनी निबाहि जग सबकौ प्रीति उछाह सिखायो
हम हतभाग्य बाल बिधवा तिव लखि बसन्त हिय ज्वाल तपायो।

यहाँ प्रकृति की भूमिका में शृंगारिक विलास के स्थान पर प्रणय के संयोग-वियोग पक्षों की व्यंजना भी नई है और सामाजिक मानववादी स्पर्श भी। कवि ने बालाओं के पिया-मिलन की चाह और सुखी-सुहागिन की काम-केलियों को ही नहीं दुखी बाल-विधवाओं की अकथ कथा को भी देखा—

सुखी सुहागिन करें कंत सँग केलियाँ
जीवन की सुख सुधा पियें अलबेलियाँ
दुखी बाल-बिधवाओं की है जो गती,
कौन सके बतला किसकी इतनी मती ?

बाल-विधवाओं के प्रति उनके अन्तस् की करुण पयस्विनी सदैव प्रवाहित रही।

भू-स्वर्ग काश्मीर के सौन्दर्य-वर्णन में लिखी गई पाठकजी की ये पंक्तियाँ:

यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर।

"अगर फिरदौस बरूए ज़मीनस्त-हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त" (फिरदौस) की पंक्तियों की छाया है। कवि पाठक प्रकृति के सुन्दर चित्रकार हैं और उन्होंने प्रकृति को चिन्मयता प्रदान की है। उनकी स्वच्छन्द वृत्ति और नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना ने प्रकृति को रीति की दासता से मुक्त जीवन्त रूप में देखा-दिखाया। उसकी चेतन-प्राणमयी सत्ता में कवि ने अपने हृदयानुराग की प्रतिष्ठा की। उसके क्रिया-कलाप में उसके अन्तःकरण की भावना को ग्रहण करते हुए उन्होंने उसे नाटकीय गति दी। उनके 'काश्मीर सुखमा' और 'देहरादून दोनों काव्य प्रकृति-वर्णन के काव्य हैं। 'काश्मीर सुखमा' प्रकृति का ऐसा चित्र-कक्ष है जिसमें प्रकृति-सुन्दरी के अनेक चित्र विभिन्न रूपों-व्यापारों, स्थिति-परिस्थितियों में चित्रित हुए हैं। ये लता-द्रुम, पल्लव-प्रसून, मलयानिल, पराग और मकरन्द तो उस प्रकृतिरूपिणी चिन्मय सत्ता के श्रृंगार-प्रसाधन के उपकरण हैं। उस प्रसाधन-मंजूषा के खुल पड़ने से धरती पर फुलवारी खिल पड़ती है:

खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी।

यहाँ प्रकृति चित्रवत् जड़ नहीं, चित् सत्ता है। काश्मीर के किसी निभृत कोण में बैठकर वह अपने रूप को सँवारती है, पल पल अपना परिधान बदलती है, अपनी छवि को क्षण-क्षण में निर्मल जलाशयों के दर्पण में झुक झुक कर निहारा करती है और स्वयं ही तन-मन से अपने रूप पर संमोहित हो उठती है :

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।
विमल अम्बुसर मुकुरन महँ मुख बिम्ब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आपु ही तन-मन वारति।

और कवि ने चिरयौवना प्रकृति में यौवन का विलास भी देखा है—

बिहरति विविध विलास भरी जोबन के मद सनि,
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि-ठनि,
मधुर मंजु छबि पुंज छटा छिरकति वन-कुञ्जन,
चितवति, रिझवति, हँसति हसति मुसिक्याति, हरति मन।

प्रकृति के इस चिन्मय रूप और चिन्मय प्राण को पाठकजी ने इसी लिए

ब्रजवाणी में अंकित किया कि प्रकृति के कोमल-कान्त कलेवर के लिए ब्रज की कोमल कान्त पदावली ही उपयुक्त थी। परन्तु कवि प्रकृति के कोमल फूल और कली के साथ साथ घोर-घने बन-प्रान्तर को भी उतनी ही ममता से चित्रित करता है:

अगम घोर घन बनवा जंगल झार
गह्वर गर्त कठिनवा कुघट कुढार।
भिरत जहाँ तरुबरवा बिरव बाँस।
भरत बतास आंधकवा दीरघ साँस।
तिम दुर्गम दल दलवा नरवा नार।
सुठि जलपात सुथलवा बिसम कगार।

प्रकृति के सुरूप और विरूप कोमल और कर्कश रूपों को चित्रकार की तूली ने चित्रित किया था।

देश के चरणों में भी उनकी गीतिधारा प्रवाहित होती थी। भारत के तो वे प्रथम स्तोता थे। कांग्रेस के जन्म (१८८४) से भी पूर्व हिन्दी का यह कवि 'हिन्दवंदना' में हिन्द की भावी कीर्ति गाने लगा था!

जय देश हिन्द, देशेश हिन्द।
जय सुखमा सुख निःशेष हिन्द।
जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द!
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द!

तेईस छन्द-बन्धों की इस कविता में कवि ने देश की भूमि और संस्कृति को प्रशस्ति दी है—धर्म, संस्कृति, काव्य, दर्शन, शास्त्र, धर्म-पंथ, तीर्थ आदि के महिमा-गान द्वारा यह गीत एक स्तोत्र-पाठ हो गया है।

उनकी वीणा पर भारत-प्रशंसा, भारत-श्री, भारतोत्थान, आदि ब्रजवाणी में ही छिड़ी रागिनियाँ थीं। इनकी रचना विगत शताब्दी में हो चुकी थी—

जय जय भारत भुवि नव वसन्त।
जय नन्दन रुचि दीपित दिगन्त।
कल रव नव शिक्षित मधुप माल।
मञ्जरित मृदुल नवदल रसाल।

पिक शुक निनाद नन्दित निकुंज।
द्विगुणित वियोगिजन दहन पुंज।
कृश सशर शरासन पंचबाण।
किसलय दल परिकल्पित कृपाण।

(नव वसंत)

कवि ने पहिली बार हिन्दी कविता में भारत को दैवत का रूप दिया था। आलोच्यकाल में भी पाठक जी ने 'भारत-वंदना', 'भारत-हितकारी', भारत-भूमि', भारत धरनि', 'भारत-धाम', 'भारत-मंगल' आदि आदि कविताएँ प्राचीन स्वर में ही लिखीं। पाठक जी पर ब्रजभाषा का सम्मोहन बड़ा गहरा था। वे इस भावना से पीड़ित भी न थे कि ब्रज का युग व्यतीत हो गया है। वे तो स्वान्त: सुखाय ब्रज में लिखते थे।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

खड़ी बोली की काव्य-समृद्धि में भी राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे मूलत: ब्रजभाषा के ही कवि थे और श्रीधर पाठक को भाँति वे भी खड़ी बोली में 'स्वदेशी-कुण्डल', 'वसन्त वियोग' जैसी उत्तम कृतियाँ दे सके। उनका ब्रजभाषा काव्य प्रकृति, ईश्वर और धर्म दर्शन पर आधारित है। 'सरस्वती' के जन्म के समय सिद्ध कवियों में उनका स्थान था। उनका आकर्षण वेदांत के प्रति था। 'तत्त्व-बोध' और 'मृत्युञ्जय' का उन्होंने 'तत्त्व-तरंगिणी' तथा 'मृत्युञ्जय' नाम से रूपांतर किया। 'रम्भाशुक संवाद' में भी यही वृत्ति है।

प्राचीन परिपाटी पूर्णतया पूर्ण जी में प्रतिबिम्बित हुई थी—

भूमि भूमि लोनी-लोनी लतिका लवंगन की
भेंटती तरुन सों पवन मिस पाय पाय
कामिनी सी दामिनी लगाये निज अंक तैसे
साँवरे बलाहक रहे हैं नभ छाय छाय;
घनस्याम प्यारी वृथा कीन्हों मान पावस में
सुनु तो पपीहा की रटनि उर लाय लाय
पीतम मिलन अभिलासी बनिता सी लखौ
सरिता सिधारी ओर सागर के धाय धाय

पूर्णजी का प्रकृति-वर्णन एक विशेष महत्त्व की वस्तु है। उनके हाथों में प्रकृति-वर्णन खिल उठा था, जिसमें प्रकृति का अनुरंजकत्व और भावकत्व

स्फुट हो उठा है। 'वर्षा का आगमन, 'वसंत विटप' उनकी प्रसिद्ध रचना है। भक्ति और वेदान्त की रचनाओं से वे 'देव' जैसे कवि की स्मृति सजग कर देते हैं परंतु स्वदेशी की आंधी में अपनी बाँसुरी में नूतन सुर भी भरते हैं। उनकी अन्योक्तियों की तो कोई गणना ही नहीं। वे इस दिशा में अद्वितीय थे।

सत्यनारायण 'कविरत्न'

प्राचीन भी नवीन के क्रोड़ में कभी कभी अवतरित होता है। आलोच्य-काल में ब्रज में एक ऐसे कवि का आविर्भाव हुआ जो आधुनिक होकर भी जैसे 'अष्टछाप' का कवि प्रतीत होता था। श्री सत्यनारायण का सरल हृदय 'ब्रज' 'ब्रजराज' और 'ब्रजवाणी' का भक्त था।

सत्यनारायण में ब्रज-संस्कृति मानो मूर्त्तिमती थी। इसका प्रमाण सूर की गीति-शैली के पद हैं, जिनकी परम्परा भारतेन्दु में भी चली आरही थी। अन्तर यह है कि उनकी कृष्ण-भक्ति व्यक्तिगति नहीं वह जाति (देश) भक्ति पर अवलम्बित है। कवि जाति-समाज का प्रतिनिधि होकर अनुनय करता है—

माधव अब न अधिक तरसैये।
जैसी करत सदा सों आये, वुही दया दरसैये।
मानि लेउ, हम क्रूर कुढंगी, कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन सरन कहा तुम, जन के तारन हार।
तुम्हरे अछत तीन तेरह यह, देस दसा दरसावै।
पै तुमको यहि जनम धरे की, तनकहु लाज न आवै।
आरत तुमहिं पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन राई।
अँगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई॥
अजहुँ प्रार्थना यही आपसों, अपनो विरुद सँवारौ।
सत्य दीन दुखियन की विपता, आतुर आइ निवारौ।

इसी स्वर में उन्होंने 'अब न सतावौ' गीत में गाया—

होरी सी जातीय प्रेम की, फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत, बिलम न आर लगावौ।

देश और समाज का चिंतन सत्यनारायण के कृष्णार्चन में एकाकार सा हो गया है।

सूर से सत्यनारायण ने सख्य भाव की भक्ति ली और भारतेन्दु से प्रेम की उत्कटता और तीव्रता। सूर और भारतेन्दु की भाँति कृष्ण इनके सखा हैं, जिन्हें ये मधुर उपालम्भ दे सकते हैं—'माधव आप सदा के कोरे'! और 'बस अब नहिं जात सही'।

नन्ददास के 'भँवर गीत' की शैली पर इनका 'भ्रमर-दूत' ब्रजभाषा काव्य का एक आभामय रत्न है। श्याम-विरह में आकुल-व्याकुल यशोदा माता ब्रज की नैसर्गिक सुषमा में कृष्ण का विरह देखकर फूट पड़ी हैं और भ्रमर दूत से 'देश भेजने लगी हैं—

जननी जन्मभूमि सुनियत सुर्गहु सों प्यारी।
सो तजि सबरो मोह, साँवरो तुमनि बिसारी।
का तुम्हरी मति गति भई, जो ऐसो बरताव,
किधौं नीति बदली नई, ताको परयो प्रभाव।
कुटिल विष को भर्यो।

यशोदा भ्रमर को समाज की दुर्दशा का सन्देश देकर कृष्ण के पास भेजती है : और अपने समय की स्त्री जाति की अशिक्षा की ओर ध्यान दिलाती है—

१ पढ़ी न आखर एक ज्ञान सपने ना पायो।
दूध दही चाटत में सबरौ जनम गमायो।
मात पिता बैरी भये सिच्छा दई न मोहिं,
सबरे दिन यों ही गये कहा कहे तें होहिं।
मनहिं मन में रही।

२ नारी सिच्छा निरादत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस अवनति प्रचंड पातक अधिकारी।
निरखि हाल मेरो प्रथम लड़े समुझि सब कोय।
विद्याबल लहि मति परम अबला सबला होय।
लखौ अजमाइ कै!

माता देश में पड़ रहे अकाल को भी नहीं भूलती।

नव नव परत अकाल काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात यहाँ कहुँ।

और प्रवासी भारतीयों की यातना का भी स्मरण दिलाती है—

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें विदेसी तंग करत हैं विपदा खासी।

इस प्रकार एक भ्रमर को वे अपनी जाति और देश का दुःसम्वाद देती हैं। कृष्ण की माता यशोदा के मुँह में उन्होंने आज की जागरूक नारी के शब्द दे दिये हैं। इस काल-विपर्यय (Anachronism) के आभास में भी सत्यनारायण की जाति-भक्ति, समाज-प्रेम का भावना का ही प्रभास है। अपनी मधुमयी वाणी में काकली सुनाते-सुनाते यह 'ब्रज-कोकिल' अचानक ही अज्ञातलोक की ओर उड़ गया!

रामचन्द्र शुक्ल

आलोच्य-काल में जब खड़ी बोली में पद्य-प्रबन्ध और पद्याख्यान लिखे जा रहे थे, तब रामचंद्र शुक्ल की लेखनी ब्रजवाणी में पद्यकथा और पद्य-प्रबन्ध लिख रही थी। शुक्ल जी का 'शिशिर पथिक' (एक प्रेमाख्यान) श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' और प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' की परम्परा में है। यह अफ़गान युद्ध से लौटे हुए पथिक रूपी पति की प्रियतमा से पुनर्मिलन की रोमांचक कहानी है।

प्रकृति के रम्य रूप में कवि का मन विशेष रूप से रमता था। प्रकृति-प्रेम उनकी जन्मजात वृत्ति है। कविता की परिभाषा भी उन्होंने प्रकृति-प्रेम के रंग में रँग दी है—उनके प्रकृति के यथातथ्यवादी चित्रों में अभिव्यंजना का रंग है।

शुक्ल जी की अद्भुत काव्य-प्रतिभा का प्रकाश दिखाई दिया उनके 'बुद्ध-चरित' काव्य में। एड्विन आर्नल्ड का 'लाइट ऑव एशिया' (एशिया का आलोक) शुक्लजी ने ब्रजवाणी में प्रतिच्छायित किया। यह गौतम बुद्ध की विदेशी कलाकार द्वारा चित्रित जीवन-गाथा है। परन्तु स्वदेशी कवि ने इसे भारतीयकृत रूप में ही प्रस्तुत किया। इसको पढ़कर अनुवाद का भ्रम नहीं होता।

(१) बुद्ध का हृदय-मंथन देखिए—

बोल उठ्यो सिद्धार्थ 'अहो! वन-कुसुम मनोहर,
जोहत कोमल खिले मुखन जो उदित प्रभाकर।

ज्योति पाय हरषाय श्वास-सौरभ संचारत,
रजत, स्वर्ण, अरुणाय नवल परिधान सँवारत।
तुम में ते कोउ जीवन नहिं माटी करि डारत,
नहिं अपनो हठि रूप मनोहर कोउ बिगारत।

(२) राजसी रंगभवन में शयन का दृश्य देखिए--जिसके वर्णन देव और पद्माकर के काव्य-सौंदर्य की स्मृति सजग कर देते हैं :

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे।
जगमग होत भौन भीतरि हुलास करि।
आभा रंग-रंग की दिखाय रहीं तासों मिलि,
किरन मयंक की झरोखन सो ढरि ढरि।
जामें हैं नवेलिन की निखरी निकाई अंक,
अंगन की, बसन गये हैं कहूँ नेकु टरि।
उठत उमंग हैं उसासन सों बार बार,
सरकि परे हैं हाथ नीचे कहुँ ढीले परि।

शुक्लजी ने कथा का आधार मात्र 'बुद्ध-चरित' से लिया है, परन्तु काव्य का कलाभवन स्वतंत्र रूप से खड़ा किया है।

जयशंकर 'प्रसाद'

श्री जयशंकर प्रसाद प्रारम्भ में ब्रजभाषा के ही श्रेष्ठ कवि थे। वे द्विवेदी जी के सीधे प्रभाव में न थे, स्वतन्त्र रूप से ब्रजवाणी में चंपू, लघुकाव्य आदि के माध्यम से अपनी नवनवोन्मेषमयी प्रतिभा का प्रस्फुटन करते थे।

प्रकृति के प्रति उनका रागात्मक दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही झलकता था—

तारागण सह चन्द्र लसै उज्ज्वल अम्बर में,
हीरन के ज्यों हार, निशारानी के गर में।
नवल चन्द्रिका की लहरें तरलित हिय करतीं।
विधु मण्डल ते विमल, सुधा बूँदें ज्यों परती।[१]

---

१ 'प्रेम राज्य'

वे सृष्टि को शिवमूर्ति मानते थे :

अहो लखो यह विश्वेश्वर की सष्टि अनूपम
शिव-स्वरूप तिन माहिं विराजत लखि सब ही सम
यह विराट संसार तासु अव्यक्त रूप है।
या में अंगन की| आभा राजत अनूप है।
शान्तिमयी दिग्वस्त्र सहित वह मनहर मूरति।
चिताभस्म तममय, पै शुचि हिमगिरि सो पूरति।
चन्द्र सूर्य्य युग नैन जबहिं वह अपने देखत
तब हीं तममय जगत माहिं नर आंखिन देखत।
लटवहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिन महँ नागमणिन सम तारे लखत समुज्वल।[1]

प्रसाद के ब्रजभाषा पद्य के पुट से ही उर्वशी और बभ्रुवाहन चम्पू लिखे। 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन' कविताओं की। पृष्ठभूमि पौराणिक आख्यान हैं; प्रेमराज्य की ऐतिहासिक।

इसी प्रकार अपने प्रकृति-प्रेम की, भक्ति और प्रणय की संकेतात्मक अभिव्यक्तियां प्रसाद जी सन् ११-१२ तक ब्रजभाषा के माध्यम से ही करते रहे। कभी भक्ति भाव से अष्टमूर्ति स्तवन करते हैं, कभी 'कल्पना सुख' में विहार करते हैं, कभी 'मानस' में निमग्न होते हैं, परन्तु उनका मन प्रकृति- में अधिक रमता है। 'शारदीय शोभा, 'रजनी', 'रसालमंजरी', रसाल','वर्षा में नदी-कूल', उद्यान-लता' 'प्रभात कुसुम' 'नीरद', 'शरद पूर्णिमा' जैसी कविताएँ वाह्यतः ब्रजभाषा की (प्राचीन) होकर भी प्राण-स्पन्दन में नूतन हैं। उनमें प्रकृति का भावकत्व-मानवत्व प्रतिष्ठित हुआ है। 'प्रभात-कुसुम' में कवि कहता है—

मनो रमनी निज पीय प्रवास फिरो लखि के निज बैठि निवास
निरेखत अश्रु भरे निज नैन अहो इमि राजत फूल सचैन

भक्ति के भावन में कवि ईश्वर के विराट् रूप को, उसकी सर्वशक्तिमत्ता को नहीं भूलता। वह निर्गुण का उपासक नहीं है (ऐसो ब्रह्म लेहि का करि

१. 'प्रेम-राज्य'

हैं ?) उसकी निराकारता को धार्मिक द्वन्द्वों का कारण मानता है—'छिपि के क्यों झगड़ा फैलायो ?'

प्रेम की वेदनामयता, सौन्दर्यमयता, मधुमयता, रहस्यमयता कवि-हृदय की प्रारंभिक अनुभूति ही है और वही परिपुष्ट होती हुई 'झरना', 'लहर' और 'आँसू' में फूट पड़ी है। उनके 'मकरन्द-विन्दु' और 'पराग' का आनन्द उनके ब्रजवाणी के कल्पना-कुंज में हमें मिलता है। 'प्रेम' का 'प्रसाद' का अपना दर्शन है। प्रेम-पथिक (ब्रज)में प्रेम की विदग्ध अनुभूति तो उसमें है ही, प्रेम का मूर्त विधान भी है—मानवीभाव भी है। 'नीरव प्रेम' में नई भंगिमा देखिए—

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में। रहत है तउ गूंजन प्रान में।
तिमि कहौ तुमहूं चुप धीर सों। विमल नेह कथान गंभीर सों।
सुमन देखि खिले खिल जात हौ। अलिन में तुरतै मिलि जात हौ।
कलिन खोलत हौ। रसरीति सौं। पर न गूंजत हौ नवनीति सौं।

यही 'गम्भीर नेह कथा' उन्होंने अपनी नई कविता में भी कही।

प्रेम की रहस्यानुभूतियाँ उन्होंने 'नीरव प्रेम' 'विस्तृत प्रेम' आदि में की। यह है प्रसाद का ब्रजवाणी का कमनीय कुञ्ज। यहाँ कवि उस सीमान्त पर आ जाता है जिसके आगे कवि भारती की काव्य-धारा में उतर पड़ता है।

ब्रज भाषा के कवियों में श्री हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगीहरि' का नाम उल्लेखनीय है परन्तु इनका वास्तविक कर्तृत्व-काल कुछ पीछे प्रारम्भ हुआ। इनका प्रारंभिक काव्य 'प्रेम पथिक' एक रूपक-कथा है और प्रेम-प्रवण भक्ति से ओत-प्रोत है।

श्री 'हरिऔध' और 'भानु' ने 'रस' तथा 'छन्द' पर शास्त्र लिखे।

राजस्थान के अंचल में श्री केसरीसिंह बारहट शाहपुरा (मेवाड़) में चारण-परम्परा के कवि थे, जिनके तेरह सोरठों ने महाराणा फतहसिंह में स्वाभिमान जाग्रत कर दिया जैसे पृथ्वीराज के पत्र ने राणा प्रताप में। 'चेतावणी का चूँगट्या' का एक सोरठा है—

गरज गजाँ घमसाण नहचै घर माई नहीं।
किम मावै कुलराण गज दो सैरा गिरद में।

सन्ध्या तारा, चन्द्रोदय, 'इन्द्र धनुष' कवितायें तो 'पराग' में संचित हैं।

ख : 'भारती' की धारा

श्रीधर पाठक

हिन्दी भारती (खड़ी बोली) के आदि-कवि श्रीधर पाठक, भारतेन्दु के पश्चात् उदय होनेवाले प्रकाशमान नक्षत्र थे। ब्रजभाषा में उन्होंने अत्यन्त मधुर काव्य-सृष्टि की थी, परन्तु नवयुग की दिशा को भी पहचानाथा। और खड़ी बोली में भी काव्य का सफल श्रीगणेश किया था। जिस खड़ी बोली में भारतेन्दु जी सफल कविता न कर सके, उसमें पाठक जी ने अच्छी कविता प्रस्तुत की थी। वे ब्रजभाषा में जितने श्रेष्ठ कवि थे, खड़ी बोली में भी उतने ही सफल हुए। इस प्रकार कवि पाठक एक ओर ब्रजवाणी के कवि थे, तो दूसरी ओर राष्ट्रवाणी के भी।

आदिकवि वाल्मीकि के आदि-काव्य की प्रेरणा थी क्रौंच पक्षी की करुण वाणी, पं० श्रीधर पाठक के हिन्दी-भारती (खड़ी बोली) के आदि-काव्य की प्रेरणा थी 'एकांतवासी योगी' की प्रेमवाणी—

> 'मेरी जीवन मूर प्राणधन ! अहो अलबेली प्यारी,
> बोला उत्कण्ठित होकर वह, अहो प्रीति जग से न्यारी !

'एकांतवासी योगी' ही श्रीधर पाठक के मस्तक पर खड़ी बोली के प्रथम काव्य-निर्माता का तिलक लगाता है। पाठक जी ने एक प्रेम-कहानी को दूसरी भाषा से निज भाषा में लाकर कथा-काव्य के रस-तीर्थ की ओर इंगित किया। और जीवन के एक मधुपक्ष की ओर दृष्टि डालने के लिए प्रेरित किया था। 'एकांतवासी योगी' में कवि को किसी भारतीय ऋषि-मुनि का ही दर्शन हुआ।

खड़ी बोली की इस गगरी में कविता के वन में भटकते हुए प्यासे पथिकों को मधुर रस मिला और पूर्व और पश्चिम दोनों ने उसका अभिनन्दन किया। ग्राउस, ग्रिफिथ्स, पिनकॉट आदि पश्चिमी विद्वानों ने भी इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

इस काव्य का कई रूपों में हिन्दी पर प्रभाव पड़ा, जिससे कई श्रेष्ठ प्रेम-काव्य प्रस्तुत हुए। प्रसादजी के 'प्रेम-पथिक' में एक प्रेम-कथा ही है जिसकी प्रेरणा उन्हें पाठक जी के इस अनूदित प्रेम-काव्य से ही मिली थी। हिन्दी की जो कविता केवल शृंगार के जगत में विचरण करती थी, वह प्रेम के इस शाश्वत संचरण-क्षेत्र को पाकर कृतार्थ हुई। मानवीय हृदय की कोमल अनुभूतियों का चित्रण हिन्दी कविता में नई दिशा थी। आगे जाकर गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवलर' (Traveller) का अनुवाद 'श्रान्त पथिक' भी उन्होंने खड़ी बोली में ही किया। इस में अंग्रेजी चरण का अनुवाद हिन्दी के ठीक-ठीक एक ही चरण में कवि सफलता और सरसता के साथ अवतीर्ण कर सका है। 'श्रांत पथिक' को भी 'हिन्दी भाषा की सर्वोच्च निधि' के रूप में अभिनन्दित किया गया था। कवि गोल्डस्मिथ भावना में भारतीय है। 'एकांतवासी योगी' और 'ऊजड़ गाम' में हिन्दी-कविता ने भारतीय वातावरण की झाँकी देखी। 'श्रान्त पथिक' में स्वदेश-प्रेम और आध्यात्मिक आनन्द की भावना कवि के आकर्षण का कारण है—

> है स्वदेश-प्रेमी का ऐसा ही सर्वत्र देश अभिमान।
> उसके मन में सर्वोत्तम है उसका ही प्रिय जन्मस्थान॥

'श्रांत-पथिक' का स्वर उदात्त है। नैतिक, सांस्कृतिक, आत्मिक उच्च स्तर पर वह पाठक के मन को ले जाता है।

प्रकृति-प्रेम भी गोल्डस्मिथ के सभी काव्यों में छलकता है। 'श्रांत पथिक' में प्रकृति का जननी-रूप है, तो 'ऊजड़ गाम' में रमणी रूप। मानवी प्रेम ('एकान्तवासी योगी'), प्रकृति-प्रेम, ('ऊजड़ गाम') और स्वदेश-प्रेम ('श्रांत पथिक') की त्रिवेणी गोल्डस्मिथ के काव्यों में प्रवाहित है। पाठक जी की कविता में भी यही त्रिधारा बहती है। वे हिन्दी के गोल्डस्मिथ थे।

जो प्रेम राधा-कृष्ण की लीला, नायक-नायिका की आँखमिचौनी और अभिसार में पड़ कर विलास की निम्न कोटि तक गिर गया था, उसे अब हृदय

के अधिक कल्याणमय, व्यापक और सार्वजनीन तत्व के रूप में पहली बार देखा गया। केवल ऐन्द्रिय विलास के रूप में गृहीत प्रेम को पहली बार एक सार्वभौम शाश्वत भाव के रूप में श्रीधर पाठक ने ही प्रतिष्ठित किया। प्रेम की पाठक जी एक नई दिशा के उद्भावक सिद्ध होते हैं।

पाठक जी का एक और रूप है गीतकार का। उस कवि-गायक की तन्त्री पर देश-स्तुति के राशि-राशि गीत झंकृत हो उठे। हिन्दी का कवि भारत का सर्व प्रथम गायक बन गया और जीवन-भर वह भारत का गायक रहा। "भारत-गीत" उसकी देश-स्तुति की कविताओं का नैवेद्य है, जो भारत-देवता के प्रति समर्पित है। पाठक जी की सबसे पहली 'हिन्द-वन्दना' कांग्रेस के जन्म के भी पहले (अगस्त १८८४) की लिखी हुई है—जिसमें 'जयहिन्द-देश, देशेश हिन्द !' का स्थायी गूंजता है। हिन्दी कविता में सर्व-प्रथम देश को देवता का रूप मिला जिसके भाल पर किरीट है, कंठ में गंगा का हार है।

जय जय शुभ्र हिमाचल शृंगा,
कलरव निरत कलोलिनि गंगा,
भानुप्रताप चमत्कृत अंगा,
तेज पुञ्ज तपवेश
जय जय प्यारा भारत देश !

'भारत गीत' में कवि राष्ट्रदेवत का पूजक है। भारत के गायकों में पाठक जी का नाम शिरस्थानीय रहेगा।

'हरिऔध'

भारतेन्दु-काल से काव्य-जीवन का आरम्भ करनेवाले हिन्दी के इस महाकवि ने तीन युग देखे : वे एक काल में प्रस्फुट हुए और दूसरे में पुष्पित हुए। प्रारंभ में कवि ने ब्रज में अपनी कल्पना का प्रसार करने का उपक्रम किया। रीतिवादी परम्परा के अवशेष में शत-शत कवित-सवैयों से काव्यनिधि समृद्ध की। जब शताब्दी का प्रारंभ हुआ तो हरिऔध बांसुरी में नई भारती का श्वास भर कर आये किन्तु वह बांसुरी न थी वह था अलगोजा। चौपदों इत्यादि की सृष्टि में उन्होंने अपनी ठेठ ग्रामीण भाषा के प्रेम को प्रकट किया। फिर उन्होंने प्रोक्ति-पटुता को समाज-दर्शन का माध्यम बनाकर

'बोलचाल,' 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदों' आदि की सृष्टि की। इन चौपदों में कवि का अगाध ज्ञान भरा है।

व्यापक और उदात्त विचार कवि की दृष्टि में स्थायित्व के आधार होते हैं। अत: इन्हें मानव-हित की शुद्ध भावना का श्रेय तो देना ही होगा। समाज को देखने की दृष्टि इनमें यथातथ्यवादी है किन्तु बड़ी पैनी है। अभिव्यक्ति में वह वाक्पटु है अत: यह नीति-सूक्ति-साहित्य की निधि होगी। यह तो कहा जा सकता है कि "भेद उसने कौन से खोले नहीं ? कौन सी बातें नहीं उसने कही ? दिल नहीं उसने टटोले कौन से ? घुस गया कवि किस कलेजे में नहीं ?" समाज का चित्रण और निर्देशन करनेवाली राशि-राशि कवितायें उन्होंने लिखीं, जिनमें उनके 'जी की कचट' है, 'आठ-आठ आँसू' हैं, 'दिल के फफोले' हैं। एक ओर ये फारसी-संस्कृति के छन्द थे चौपदे, दूसरी ओर उनकी लेखनी से भारतीय संस्कृति के काव्य के राशि-राशि वर्णिक छन्द भी प्रसूत हुए। द्विवेदी जी के गुरुत्व को एकलव्य की भांति स्वीकार करके उन्होंने इन छन्दों में 'प्रियप्रवास' की सिद्धि प्राप्त की।

प्रियप्रवास : एक दृष्टि

'प्रियप्रवास' अपने समय का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। द्विवेदी काल की संस्कृत काव्य-परिपाटी की रुचि उसमें प्रतिनिधित्व पाती है। संस्कृत के राशि-राशि वर्णवृत्तों को अपने शुद्ध रूप में ग्रहण करके उनमें एक महामहिम महाकाव्य की सृष्टि युग की एक सम्पदा थी। 'प्रियप्रवास' कवि का ऐसा सिंहासन हुआ जिससे वे कवि-सम्राट् के पद पर अभिनंदित हुए। वहिरंग में काव्य महाकाव्य है। उदात्त महामानव कृष्ण के जीवन का वह चित्र है। भागवत के नहीं, गीता के कर्मयोगी कृष्ण उसमें अवतरित हुए हैं। उनका लोक-कल्याणी रूप इसमें खिल उठा है। कृष्ण के साथ जुड़ी हुई राशि-राशि लीलाओं का इसमें बौद्धीकरण है जो युग-भावना के ही अनुरूप है।[1] वे नटवर, गोपी-रमण, माखन-चोर नहीं हैं, ब्रह्मतेजोंश-संभव विभूति हैं, किंतु महामानव के रूप में आये हैं।

कृष्ण-जीवन का वह मार्मिक प्रसंग है जब कृष्ण, ब्रजभूमि के प्रिय, मथुरा-प्रवास के लिए जाते हैं। दो दिन की वह बिदाई सदा का वियोग

१. लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे रख लिया उँगली पर श्याम नें।

बन गई। फिर तो वही राधा का विलाप, यशोदा का क्रन्दन, गोप-गोपियों की वेदना, ब्रज का वैकल्य सभी कुछ कई सर्गों में इसमें फैला है। काव्य भावप्रधान अधिक है वस्तुप्रधान कम! कृष्ण के अभाव में पीड़ित गोकुल वासियों के विविध-जीवन-व्यापारों का मार्मिक चित्रण ही इस काव्य की घटनाएँ हैं। स्वभावतः इसमें रस के प्रसंग अधिक हैं। मनोभावों का चित्रण करने में कवि की लेखनी तूलिका बन गई है। यशोदा-विलाप हृदय-विदारक है। राधा की वेदना मर्म भेदी है। 'मेघदूत' और 'पवनदूत' ने इसमें पवन-दूती की सृष्टि की प्रेरणा की है। राधा का विरही अन्तर उसमें उद्घाटित हुआ है। वियोग शृंगार अपने अंगोंपांगों के साथ यहाँ परिप्लावित होता है। राधा का चित्रण इसमें सबसे अधिक उज्ज्वल, श्रेष्ठ और सुन्दर है।

राधा का वियोगी हृदय प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ से समानुभूति-सहानुभूति की याचना करता है। फूल-फूल को उपालम्भ देती हुई आत्मवेदना में उसे रँगती हुई और उनकी वेदना में अपने मन को डुबाती हुई राधा वियोग-व्यथा की जो व्यंजना करती है वह समस्त हिन्दी-साहित्य में अनूठी है।

पवन को दूती के रूप में विश्रब्ध करती हुई वह अपना प्रेम-सन्देश देकर प्रिय कृष्ण के पास भेजना चाहती है। मेघ और पवन में एक ही तो आत्मा है, और यक्ष और राधा दोनों ही विरही आत्मायें हैं! परन्तु 'प्रियप्रवास' की राधा एकांत प्रेमिका नहीं है, उसका हृदय दुख से अधिक विगलित होकर संवेदनशील हो उठा है, इसीलिए तो उसमें पथ के श्रान्त पथिकों के, लज्जाशीला पथिक महिला के, मधुप-मधुपी के, क्लान्ता कृषक-ललना के सुख-दुख की भी अनुभूति है। 'क्लान्ता कृषक-ललना' के प्रति कवि का हृदय भी इसमें द्रवित है—कवि हरिऔध का यह मानववाद है।

> कोई क्लान्ता कृषक-ललना खेत में जो दिखावे,
> धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
> जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला,
> छाया द्वारा सुखित करना, तप्त भूतांगना को।

'प्रियप्रवास' में काव्य की दृष्टि से सरल-स्निग्ध, ललित-कलित, उदात्त और उच्च रस-धारा प्रवाहित है।

'भ्रमरगीत' प्रसंग में निर्गुण उपासना के ऊपर सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की प्रचारात्मक घोषणा नहीं की गई है। इसमें तो कृष्ण का यह संदेश है—

> जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से,
> आत्मार्थी है न कह सकते आत्मत्यागी उसे हैं।
> जी से प्यारा जगत हित औ लोक सेवा जिसे है,
> प्यारा सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।

राधा प्रेमिका है, परम प्रिय का मर्म जानती है, यत्नों से वांछाओं को संयत करती है; फिर भी स्मृतियाँ उद्दीपन बन जाती हैं। उसके मन में द्विधा-भाव है—

> प्यारे आवें मृदु वचन कहें प्यार से अंक लेवें,
> ठंडे होवें नयन-दुख हों दूर, मैं शान्ति पाऊँ।
> ए भी हैं भाव हियतल के और ए भाव भी हैं,
> प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहें न आवें।

'प्रियप्रवास' के कृष्ण इसमें स्वार्थों को परमार्थ में होम करनेवाले योगी हैं। सूर-नन्ददास के ~~कृष्ण विलासी तथा स्वार्थी~~, निर्मोही ~~और राज्यलोलुप हैं~~, हरिऔध के कृष्ण प्रेमी, लोक-धर्मी सभी कुछ हैं। कृष्ण के कर्त्तव्य का मूल्यांकन और उसकी मान-प्रतिष्ठा करते हुए गोपियों ने भी कृष्ण का मार्ग निष्कण्टक किया है—

> धीरे धीरे भ्रमित मन को योग द्वारा सम्हालो।
> स्वार्थों को भी जगत-हित के अर्थ सानन्द त्यागो।
> भूलो मोहो न तुम लख के वासना-मूर्तियों को।
> यों होवेगा शमन दुख औ शान्ति न्यारी मिलेगी॥

कृष्ण का यह रूप और त्याग-योग का यह समन्वय उज्ज्वल, उत्कृष्ट और उदात्त है। गोपियों और राधा का प्रेम भी विश्व के प्रेम में पर्यवसित हो जाता है :

> मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।
> मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में॥

'प्रियप्रवास' एक करुण रस मूलक प्रेम-प्रधान काव्य है। वात्सल्य और प्रेम वहाँ करुणा के ही रंग में ही डूब गया है। पढ़ते-पढ़ते पाठक के नयन-मन-प्राण आर्द्र हो उठते हैं—यह कवि की सफलता है।

'प्रिय-प्रवास' काव्य का अधिकांश गोकुल में कृष्ण-वियोग से पीड़ित माता-पिता, सखा, सहचर, गोप-गोपी तथा यशोदा और राधा के मनोजगत के चित्रण से परिपूर्ण है। गोकुल ग्राम की वनस्पति और प्रकृति भी, जड़ वस्तुयें भी कृष्ण-वियोग से पीड़ित विषण्ण सिसकियाँ भरती हैं। घटनाओं की विविधता नहीं है, स्थूल विस्तार अधिक न होकर इसमें सूक्ष्म गहराई अधिक है। यशोदा की व्यथा की गंगा, राधा और गोपियों की वेदना की यमुना से मिल कर संगम प्रस्तुत करती है और कृष्ण के लोक-सेवी स्वरूप की धारा सरस्वती की भाँति आकर त्रिवेणी का महात्म्य उत्पन्न कर देती है।

अन्त में घटना-क्रम उद्धव के गोकुल-आगमन और भ्रमर-गीत-प्रसंग तक पहुँच जाता है। महाकाव्य के अनुरूप विशाल-विस्तीर्ण चित्राधार, जिसमें जाति का जीवन प्रतिविम्बित हो, इसमें नहीं है। (गोपों को तो पूर्ण जाति नही कहा जायगा।) परन्तु भाव-काव्य की दृष्टि से अनुशीलन किया जाय तो यह महान् काव्यों में स्थान पायेगा।

भाषा-विन्यास की दृष्टि से वह समय की श्रेष्ठ रचना है। वर्ण वृत्तों के संगीत से जो परिचित नहीं हैं उनके लिए यह सरस नहीं है। परन्तु इसकी सरसता इसकी अन्तर्भावना के चित्रण में है। भाषा में सरलता और जटिलता दोनों हैं, कोमलता-कठोरता दोनों हैं।

भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से भी काव्य महत्त्वपूर्ण है। भाषा के सौम्य और मृदुल तथा क्लिष्ट-कठोर दोनों रूप यहाँ पाये जाते हैं,संस्कृताभास शब्दों के शिला-खण्डों से टकरा-टकरा कर बहनेवाली धारा एक प्रकार का कलकल शब्द करती है और अन्त में विविध प्रतिक्रियायें उत्पन्न करती है—इससे एकाग्रता नहीं उत्पन्न होने पाती। 'प्रियप्रवास' भारती का आदि महाकाव्य है। अत: वह हिन्दी का एक दीप-स्तम्भ है।

इन्हीं दिनों एक और व्यक्तित्व कर्मण्य था श्री जयशंकर 'प्रसाद' का। हरिऔधजी की भाँति वे भी द्विवेदीजी के दिशा-निर्देश से न चले। कदाचित् वे

इसीलिए सन् १९१२ तक ब्रजवाणी के मोह-पाश में पड़े रहे। उस समय जबकि 'सरस्वती' में नव भारती की धूम मची हुई है और प्रभात के वैतालिक विहंगों का कलरव नवभारत का गान कर रहा है 'प्रसाद' अधखुली आँखों से जैसे व्रज की मदिरा की मादकता में मग्न इस समारोह को देख रहे हैं। सोचते हैं अभी तो उपक्रम ही है जिस क्षण भगवती भारती के पूजन का समारोह होगा उस क्षण आकर समारोह में मिल जाऊँगा। खड़ी बोली का बढ़ता प्लावन अन्ततः उन्हें तटस्थ न रख सका और वे अपनी नौका लेकर बहने लगे। इस प्रकार 'प्रसाद' जी खड़ी बोली में आये।

मैथिलीशरण गुप्त

इधर क्षेत्र में सबसे अधिक गतिशील-प्रगतिशील थे श्री मैथिलीशरण गुप्त। 'भारत-भारती' के गायक के रूप में वे देश के महा चारण कहे जायँगे। उसमें तत्कालीन राष्ट्र-चेतना मूर्त हो गई है। उनका रस-सिक्त काव्य 'जयद्रथ वध' भी राष्ट्र वीर के शौर्य और पराक्रम की प्रशस्ति देने के लिए आया। इसमें राष्ट्र के वैरियों से जूझकर बलिदान होने का ऊँचा संदेश है। उन्हें भारत के रूप में एक महान विषय गीत और कविता के लिए मिल गया और वे 'स्वदेश संगीत, भी छेड़ने लगे।

गुप्त जी ने 'वैतालिक' द्वारा प्राची (भारत) के प्रकाश को उद्भासित किया है। राष्ट्र में जो जाग्रति तिलक-गाँधी जैसे महामहिम नेता के निर्देशन में हो उठी थी उसकी सच्ची अभिव्यक्ति 'वैतालिक' में है। यह राष्ट्र के जागरण का वैतालिक है। प्रेरणा, उद्बोधन, चेतना, उत्कर्ष, सुख-शांति—यह वैतालिक का संदेश है। 'भारत-भारती' को मंत्र-रूप में कवि ने इसमें प्रस्तुत कर दिया है। जागरण की प्रेरणा ही इस भाव-काव्य का मूल स्वर (Keynote) है, शेष स्वर संवादी हैं आर्य भारतीय आदर्श को उसमें प्रशस्ति है—

> बैठो वीर मनोरथ में। विचरो सदा प्रेम पथ में।
> तुम प्रकाश से खिल जाओ। अखिल विश्व से मिल जाओ

इसी समय कवि ने एक ऐसे महान अनुष्ठान का मंगलाचरण किया जिससे हिन्दी भारती धन्य हो उठी। वह थी 'साकेत'-सृष्टि।

साकेत: एक दृष्टि

'साकेत' का प्रणयन कवि ने इसलिए किया कि वाल्मीकि और भवभूति ने जो अपने काव्यों में उर्मिला के चरित को ढक दिया था वे अपने गुरु की प्रेरणा से उसे उद्घाटित करना चाहते हैं। उर्मिला के विशेष आग्रह से कवि को 'साकेत' का मञ्च साकेत (अयोध्या) को रखना पड़ा। चित्रकूट में जब कथा चलती है तो वहाँ भी 'सम्प्रति साकेत समाज वहीं है सारा'। इसी के आग्रह से कवि को वनवास की कहानी सूक्ष्म रूप में लानी पड़ी। कवि 'साकेत' में ही रहते हैं और उर्मिला के विशेष आग्रह से उर्मिला के अन्तर्दर्शन के साथ-साथ अपने राम के देवोत्तम चरित का गान भी कर लेना चाहते हैं।

'साकेत' राम-जीवन का चित्र है। इसको मैं तुलसी के 'रामचरित मानस' की मानस-छाया ही मानता हूँ। वह युग का अभिनव 'रामचरित मानस' ही है। वही आदर्शोचित उदात्त भावना, वही मर्यादावाद, वही लोकोद्धारक स्वरूप, वही विश्वजनीन व्यक्तित्व और वही देव-प्रतिम चारित्र्य।

राम कवि के लिए अवतार-पुरुष ही हैं। स्वयं राम तो आत्मपरिचय देते ही हैं, सीता भी राम-वन-गमन का उद्देश्य सुनाना जानती हैं—

> उभय विध सिद्ध होगा लोकरञ्जन,
> वहाँ जन-भय वहां मुनि-विघ्न-भंजन।

और यह बात सुमित्रा भी जानती है—

> तुमने मानव-जन्म लिया। धरणी तल को धन्य किया।

'साकेत' की सृष्टि में कवि की द्विविध दृष्टि है—उर्मिला-चित्रण और राम-गाथा-गायन। 'साकेत' को यदि मैथिलीशरण जी राम का प्रत्यक्ष चरित बनाते तो अधिक लोकोपकार होता। उसमें भी वे उर्मिला के लिए हृदय का एक कोना दे सकते थे।

चरित्रांकण—'साकेत' मानवीय उज्ज्वल चरित्रों की चित्र-माला है। कवि ने राम-लक्ष्मण-भरत ही नहीं, कौशल्या, कैकयी, सुमित्रा, उर्मिला आदि के स्वरूपों को भी गौरवोज्ज्वल किया है। माता कौशल्या राम से बोलीं—

जाओ तब बेटा, वन को, पाओ नित्य धर्म पन को।
जो गौरव लेकर जाओ—लेकर वही लौट आओ।

वे तुलसीदास की कौशल्या की भाँति विलाप करने नहीं बैठ गई।

पूज्य पिता-प्रण रक्षित हो, माँ का लक्ष्य सुलक्षित हो।

से तो वह बड़ी उदारभावना की अभिव्यक्ति करती है। राम के जाते समय की वेदना को वह आदर्शवाद में दबा लेती हैं—

भ्रातृस्नेह सुधा बरसे। भू पर स्वर्गभाव सरसे।

कैकेयी भी का उज्ज्वल रूप 'साकेत' कार ने चित्रकूट में दिखा दिया है। प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप पाप को भी धो देता है। यही मनोविज्ञान कवि ने लिया है। यहाँ कैकेयी का जो रूप मिलता है उसे देखकर पाठक गद्-गद् हो जाते हैं और राम के शब्द दुहराने लगते हैं—"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।" परन्तु इसमें भरत को प्रशस्ति है—कैकेयी को नहीं। कैकेयी की विशेषता यही है कि वह स्वयम् पाप-मोचन करती है।

सीता सती-साध्वी पतिप्राणा हैं, नारी-धर्म की जागरूक चेतना हैं, मूर्ति नहीं! 'मातृसिद्धि पितृसत्य सभी। मुझ अर्द्धांगी बिना अभी; है अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही।' इस प्रकार वह साधिकार वन में जाती है, केवल प्रेमवश नहीं। वह राम के साथ जाने को प्रस्तुत हैं, किन्तु उर्मिला के लिए सासु-ससुर की सेवा ही धर्म है। इस प्रकार आदर्श में एक असंगति आ जाती है। उनके लिए बस 'पति ही पत्नी की गति है।' उर्मिला के लिए सीता ने इतना तो कहा—"आज भाग्य जो है मेरा। वह भी हुआ न हा, तेरा!"

राम एक महामानव हैं। महामानव ही नहीं देवरूप हैं, यह साकेतकार का भी इष्ट है। सामाजिक आदर्श को इसीलिए वे प्रतिष्ठित करते हैं। बड़े से बड़ा त्याग वे इसलिए कर सकते हैं कि 'राज्य राम का भोग्य नहीं।' राम अवतारी होकर मानव-आदर्श की स्थापना करते हैं। राज्य के प्रति अनासक्त (मैंने क्या कर दिया किसे, कर न सकेंगे भरत जिसे?) है। सुमंत्र उन्हें कुछ भरत के विरुद्ध उकसाने चले थे परन्तु राम के (उनकी निन्दा मेरी है, जो प्रीति की प्रेरी है) वचन सुनकर हतबुद्धि हो गये।

मानव-चरित्रों को देवों के चरित्र से भी कवि ने उठा दिया है–'अमर वृन्द नीचे आवें, मानव चरित देख जावें'। यही 'साकेत' के चरित्रों की एक मात्र प्रशस्ति है। 'साकेत' वस्तुत: 'साकेत' (स्वर्ग) का पृथ्वी पर अवतरण है।

हाँ, लक्ष्मण हमारे चिरपरिचित रामायणी लक्षण हैं—क्रोधी, उग्र, चंचल, जो कैकेयी माता से कह सकते हैं--"तुम्ही ने आपको कण्टक चुना है, चरित तो रेणुका का सुना है?" आगे—भरत को मार डालूँ और तुझ को! नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।" यहाँ कवि इतना और कह देते हैं कि यह लोकमत बोल रहा था भरत में; तो लक्ष्मण का चरित्र इतना नीचा न जाता। और लक्ष्मण को सुमित्रा ही वन में भेजती हैं इससे तो गौरव सुमित्रा का ही बड़ा है, लक्ष्मण का नहीं।

उर्मिला के मन में हलचल उठती है परन्तु 'हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन' का आदर्श उसे शांत कर देता है—

> आज स्वार्थ है त्याग भरा। हो अनुराग विराग भरा।
> तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो।

उर्मिला के मन की मानवोचितता को यहां गुप्तजी ने भी ढक दिया। उन्हें अधिक सहृदय होना था। इस प्रकार 'साकेत' के सभी चरित्र मानवीय (और कहीं कहीं दैवी) आदर्शों के प्रतीक-प्रतिनिधि हैं। सामान्य या आर्योचित आदर्श की व्यंजना 'साकेत' में है। वह अनार्य संस्कृति पर आर्य संस्कृति की विजय का प्रतीक है।

आदर्शवाद स्वयं युग की प्रवृत्ति है। उसमें जो सामाजिक आदर्श व्यंजित हुआ है वह युग की भावना के ही अनुरूप है। एकतंत्र के दोष उसमें हैं, प्रजा (जन) की पूर्ण सत्ता स्वीकृत की गई है। व्यक्ति स्वार्थ से बढ़कर परमार्थ, लोकसेवा का श्रेय सिद्ध किया गया है। राज्य की उसमें भर्त्सना है: और किसलिए राज्य मिले?' राज्य का स्वरूप है—"प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा—" मानवीय अन्तस और उसकी भावना का चित्रण कवि की सफलता की कसौटी है। इन्हीं प्रसंगों पर कवि यदि मौन हो जाए तो वह चरित-काव्य क्यों लिखे? केशव का प्रयत्न ऐसा ही था। परन्तु मानव हृदय के स्पन्दन को पहिचानने में गुप्तजी की लेखनी संवेदनशील है। उर्मिला के हृदय की यह धड़कन—"मैं क्या करूँ? चलूँ कि रहूँ? हाय

और क्या आज कहूँ ?" उन्होंने सुनी है। इसी प्रकार एक और रेखा देखिए—
काँप उठी वे मृदु देही, धरती घूमी या वे ही।

है उसे काम क्या कि कुछ पहने।
गोल सुथरे सुडौल गालों के
बनाये रूप रंग ही गहने।

अब देखिये गुप्त जी की तूलिका का चित्र—

१ कनक लतिका सी कमल-सी कोमला
धन्य है उस कल्प शिल्पी की कला
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े
पद्म रागों से अधर मानों बनें
मोतियों से दाँत निर्मित है घने।

२ बैठी फिर गिर कर मानों, जकड़ गई घिर कर मानों।
आँखें भरी विश्व रीता, उलट गया सब मनचीता।

कवि की लेखनी से अंकित ये छोटी-छोटी रेखायें रंगों से भी बढ़कर हैं। शास्त्रीयता में ये ही संचारी भाव और अनुभाव हैं।

अलंकरण : साकेत के कवि ने अलंकरण को भार नहीं बनाया है परन्तु उपमान मौलिक से अधिक परम्पराभुक्त है। उपमानों में व्यंजना तो है परन्तु चित्रोपमता नहीं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

बोले तब श्री राघव यों धर्मधीर नव धन-रव ज्यों

बिहारी के एक दोहे का भाव देखिए—"मिले रविचन्द्र सम युग बन्धु ज्यों ही, अमा का तम चतुर्दिक देख त्यों हो।" उर्मिला का रूप-चित्रण प्राचीन शैली का ही है—

भाव सुरभि का सदन अहा! विमल कमल सा वदन अहा!
अधर छबीले छदन अहा! कुन्द कली से रदन अहा!
साँप खिलाती थी अलकें! मधुप पालती थी पलकें।
और कपोलों की झलकें? उठती थी छवि की छलकें!
गोल गोल गोरी बाहें। दो आँखों की दो राहें!

अलक को साँप बना कर, पुतली को भ्रमर बताकर किस भाव प्रभाव की वृद्धि-समृद्धि, इस वैज्ञानिक युग में हो सकती है ? यह शैली गतानुगतिक है। कोमलता व्यंजित करने में—'यदि ये भी छू जायेंगे, तो छाले पड़ जायेंगे।' बिहारी की उच्छिष्ट है। तुलसी की छाया में भी कई उक्तियां हैं—'वन की काँटों भरी गली तू है। मानस कुसुम-कली।' मौलिकता है परन्तु उनकी अपनी प्रतिभा के कम अनुरूप है।

वस्तु-विन्यास में कवि ने प्रसिद्ध आधारभूमि होने के कारण नूतन पथ नहीं बनाया और कई विशदतायें (details) छोड़ दीं। घटनाओं में छोटे छन्दों के कारण नाटकीयता अधिक है। प्रकृति को अनुरञ्जकत्व ही कवि ने दिया है मानवत्व कम। वर्णन या चित्रण आलंकारिक हैं। मानवीय रूप-व्यापार के चित्रण में कवि ने आलंकारिक निजत्वता दिखाई है। उसमें मर्यादावाद है परन्तु भावना के कोमल तन्तु उपेक्षित नहीं हुए। चित्रकूट का उर्मिला-लक्ष्मण प्रसंग इसका प्रमाण है।

रूप-विन्यास

'साकेत' के छन्दविन्यास से गुप्तजी की प्रतिभा और कौशल पर प्रकाश पड़ता है। छन्दों में क्षिप्रता अधिक है। यदि वे छन्द छोटे छोटे न चुनकर कुछ बड़े चुनते तो भाव-प्रकाशन में अधिक स्वच्छन्दता मिलती और वे शब्द-विन्यास की कठिनता को भी मृदुलता बना लेते। फिर भी 'द्विवेदी-काल' की भाषा-संस्कृति के सर्वोत्तम स्वरूप की प्रतिनिधि 'साकेत' की भाषा है। एक युग की साधना की सफलता उसमें मूर्तिमती है।

सर्गों की संख्या (१२), सर्गबद्धता, प्रकृति के विभिन्न वर्णन, जीवन के विविध चित्र आदि बहिरंग लक्षणों में भी 'साकेत' महाकाव्य है। तुलसी के रामचरितमानस को छोड़कर राम-काव्यों में वह सर्वाधिक लोकप्रिय है और रहेगा। राष्ट्रभारती हिन्दी का यह गौरव-ग्रन्थ अखिल भारतीय प्रसिद्धि को प्राप्त करेगा। अभी उसका भविष्य उज्वल है।

ऐसे कवि के प्रति हम आचार्य द्विवेदी के शब्दों में यह श्रद्धाञ्जलि प्रकट कर सकते हैं—

येनेदमीदृशमकारि महामनोज्ञं शिक्षान्वितं गुणगणाभरणैर्भृतञ्च
काव्यकृती कविवरः स चिरायुरस्तु श्री मैथिलीशरण गुप्त उदारवृत्तः

रवि। वहां जाय कवि' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। निस्सन्देह इसे नवनवोन्मेष शालिनी कवि-प्रतिभा का चतुरस्र विकास समझना चाहिए।"

'शंकर' कवि की विशेषता यह है कि उनकी कविता की प्रेरणा वैदिक तत्त्व-दर्शन है। भक्ति, वेदान्त, समाज-सुधार, धर्म-सुधार के शुद्ध उद्देश्य से वे कविता लिखते थे। वैदिक सूक्ति और विचार को वे ओजस्विनी भाषा में दे सकते थे। परन्तु उनकी समाजदर्शिनी कविता में व्यंग्य बड़ा तीक्ष्ण है; वह अग्निवाण की भाँति दाह करता हुआ प्रवेश करता है।

शृंगार-वर्णन के उनके कवित्त रसिकता पूर्ण हैं। उनमें उर्दू कवियों कीसी सूझ-बूझ है। शब्द-विन्यास बड़ा ओजस्वी अनुप्रासपूर्ण है। आलोचकों ने उसमें पद-लालित्य, माधुर्य भी देखा है। 'शब्द-चातुर्य उनमें निश्चित रूप से है और कहीं-कहीं तो प्रोक्ति-चमत्कार का इतना बाहुल्य है कि भाव की कोमलता और सौम्यता पर भी आघात पहुँचता है।

उन्होंने भजन-शैली के गीतों की भी रचना की थी और नये नये मात्रिक-वर्णिक छन्दों का आविष्कार और नूतन नामकरण भी।

'सनेही'-'त्रिशूल'

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'-'त्रिशूल' अपने समय के सफल कवियों में हैं। उनका व्यक्तित्व कविता में द्विविध था। कविता को कला के रूप में सिद्ध करनेवालों में 'सनेही' जी का नाम इस युग में 'हरिऔध' जी के पश्चात् लिया जायगा। उनके उर्दू शैली के प्रबन्धों और विशेषत: छप्पयों (षट्पदों) में उनकी निजस्वता की विशेष मुद्रा है। 'सनेही'जी के भाषा-विन्यास पर उर्दू काव्य-शैली का विशेष प्रभाव था।

द्विवेदी-काल के सामाजिक कवियों में 'सनेही'जी का विशेष स्थान है। सामाजिक शोषण में करुणा का पुट देते हुए किसानों का पक्ष ग्रहण करने में और उनके चित्रण में यदि कोई कवि सबसे अधिक जागरूक है तो 'सनेही'जी हैं।

उन्होंने कुछ पौराणिक विषयों पर भी सुन्दर कवितायें लिखी हैं। 'कौशल्या का विलाप' मार्मिक तो है, परन्तु उसकी ये पंक्तियाँ:

वर वसन जरी के धारता जो सदा था।
वह अजिन बिछावे भाग्य में यों बदा था।
मृदु पदतलवाला कङ्कणों में चलेगा।
तज मखमल आला कङ्कणों में चलेगा।

उसे पौराणिक से अधिक आधुनिक बना देती हैं। कविता में यह काल-विपर्यय नहीं होना चाहिए।

'सनेही' जी का त्रिशूल-रूप उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व में है। देश के लिए मर-मिटने की कामनावाले, देश को राष्ट्रीय वीणा से जगानेवाले और "जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है। वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है।" की चेतनावाले! होमरूल (स्वराज्य) के दिनों के उनके गीत लोक कण्ठ में गाये जाते थे। 'राष्ट्रीय वीणा' तथा 'त्रिशूल-तरंग' में ऐसे गीत संकलित हैं। इन गीतों में देशभक्ति की तन्मयता है और राष्ट्रीयता की प्रखर तेजस्विता भी। इस प्रकार यह कवि सामाजिक और राष्ट्रीय दोनों रूपों में अत्यन्त तेजस्वी है।

अन्य कवि

अपनी सूक्तियों द्वारा अर्थ-गौरव की व्यंजना करनेवाले, तथा सामाजिक कविताओं द्वारा व्यंग्य करनेवाले कवि पं० रामचरित उपाध्याय की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है 'रामचरित-चिन्तामणि'। इसके चरित-काव्य के रूप-विधान पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है, परन्तु केशव की भाँति मार्मिक पक्ष उपेक्षित है। यमक का आलंकारिक कौशल 'अङ्गद रावण-सम्वाद' में दर्शनीय है। वस्तुतः कवि के लिए यह अलङ्कार सिद्ध हो गया था। सूक्तिवादी चमत्कारवादी कवि थे रामचरित उपाध्याय।

'देवदूत' काव्य 'मेघदूत' की शैली पर है। वह "हृदय पट पर जननी जन्मभूमि के चित्र को स्वर्ग से भी बढ़कर सुन्दर और सुखद चित्रित करनेवाला एक कल्पित कवि-कौशल" हैं। देवदूत में स्वर्गलोक में निर्वासित एक भारत के हृदय का संदेश है; भारत के गौरवोज्ज्वल अतीत और मलिन वर्तमान की उसमें झाँकियाँ हैं और भावी की झलक भी है। वह गीतकाव्य तो नहीं हो सका परन्तु उसे एक काल्पनिक भाव-काव्य कहा जा सकता। इस भाव-काव्य का मूल-स्वर है :

नहीं स्वर्ग की चाह मुझे है नहीं नरक की भीति
बढ़ती रहे सदा मेरा बस जन्मभूमि से प्रीति।

जिस प्रकार 'सनेही' जी पर उर्दू-शैली का प्रभाव है उसी प्रकार लाला भगवानदीन पर भी। इन्होंने कड़खा राग में वीर-प्रशस्तियाँ गाई हैं। 'वीरपंचरत्न' के इनके वीर-गीतों को गाकर सुनने से वीर रस का पुराना रूप मूर्तिमान हो जाता है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त में गुप्त जी का ही कर्तृत्व प्रतिबिम्बित होता है। उनका 'मौर्य-विजय' उसी प्रकार राष्ट्रीय भावना का उद्बोधक है जिस प्रकार 'जयद्रथवध'। इनकी सामाजिक और स्फुट रचनाओं में भी राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित हुई है। कवि की विशेषता सामाजिक सर्वहारा के जीवन के चित्र कथा द्वारा प्रस्तुत करने में है। 'अनाथ' का विषय यही है। रवीन्द्र-चिन्ता की छाप इन पर जब पड़ी तो ये उस संकेतवादी रहस्य-भावना मे बह गये। इस काल की संध्या-बेला में गुप्त जी ने कई रहस्यभावी कवितायें लिखीं।

इन कवियों के अतिरिक्त कवि हैं—गिरिधर शर्मा और लोचनप्रसाद पांडेय। गिरिधर शर्मा का संस्कृत और गुजराती का पांडित्य हिन्दी के लिए शुभ हुआ। माघ और भारवि के काव्यों के कई अंश इन्होंने हिन्दी में अवतरित किये। रवीन्द्र के 'गार्डनर' का अनुवाद (बागवान) इन्होंने मिताक्षरी (-मुक्तवर्णिक) में किया। लोचनप्रसाद पाण्डेय उड़िया प्रदेश के कवि हैं, कविता में सामाजिक व्यंग्य देने में ये निराले थे। 'शंकर' की सी कटुता इनमें न थी। रूपनारायण पांडेय की भाषा में एक सरलता-सरसता है। प्रकृति के वर्णन में इन्होंने मार्मिकता खोजी है।

समसामयिक कवियों में बदरीनाथ भट्ट की सर्वोच्च सिद्धियाँ हैं उनके पद-गीत जो संकेतवाद के अन्तर्गत हैं और प्रतीकवाद के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'जा रहा मोच खोजने जीव', 'सागर पर तिनका है बहता' आदि आदि गीतों में भक्त और भगवान् के, ब्रह्म और जीव के, माया और जीव के दार्शनिक संबन्धों की व्यंजना है। रवीन्द्र के रहस्य की उनपर उसी प्रकार छाया है जैसी-प्रकाशमान सूर्य की सब वस्तुओं पर पड़ती है। राग-रागिनियों में ढाले हुए ये गीत भावना में पवित्र हैं।

राय कृष्णदास की 'भावुकता' आत्मानुभूतिपूर्ण गीतों में मुखरित हुई है। वे आत्मानुभूति से प्रेम और भक्ति के क्रोड़ में और वहाँ से रहस्यवाद की ओर बढ़े हैं। उनकी 'खुला द्वार' (१९१३) कविता सूफी ढंग के प्रेमवाद को लेकर चली है; 'सम्बन्ध', 'रूपान्तर', 'क्षुद्र का महत्व', 'अहो भाग्य', 'उपचार' इसी परम्परा की कविताएँ हैं। इसमें रूप-आकर्षण है, प्रेम-प्रतीक्षा है, प्रेम-पिपासा है। 'उद्बोधन' (१९१८) और 'आग्रह' (१९१९) दार्शनिक संकेत-वाद की कवितायें हैं। प्राकृतिक (झरना, सीप, बादल) प्रतीकों द्वारा ही कवि इनमें दर्शन और अध्यात्म की सांकेतिक व्यंजना करता है। 'अनायास'(१९१७) शुद्ध 'रहस्यवाद' की कोटि में आती है। इस प्रकार कवि प्रेम, दर्शन और रहस्य' के त्रिविध भाव-लोक का कवि है।

श्री मुकुटधर पाण्डेय इस समय के एक प्रतिभाशाली कवि और गीतकार के रूप में प्रस्फुट हुए। उनकी आत्मगत कविताएँ और रहस्यात्मक गीत वस्तुत: सुन्दर हैं। 'मेरे जीवन की लघु तरणी आँखों के पानी में बह जा।' में कितनी आधुनिक प्रगीतता है! इसी प्रकार राय कृष्णदास भी रवीन्द्र-चिन्ता से पूर्ण प्रभावित कवि हैं। भक्ति-भावना में वे गुप्तजी के साथ हैं। इनकी विशेष प्रतिभा गद्य-गीतों में परिस्फुट हुई।

रामनरेश त्रिपाठी उस वर्ग के अंतिम कवि हैं जिसपर द्विवेदी जी का स्वस्थ प्रभाव है। वे काव्य-क्षेत्र में १५ के आसपास आते हैं। उनमें भाव और भाषा का सुन्दर सामंजस्य मिला। इनकी विशेष प्रतिभा राष्ट्रीय भूमिका में काल्पनिक कथा-काव्य लिखने में चमत्कृत हुई। 'मिलन' और 'पथिक' भारतीय समाज के ही ज्वलंत प्रश्न-चित्र हैं। प्रकृति-वर्णन का काव्य कौशल भी इनका अपना था। प्रकृति में वे भावकत्व का दर्शन करते हैं और चित्रण में तन्मय हो जाते हैं।

जयशंकर 'प्रसाद'

जयशंकर प्रसाद मैथिलीशरण गुप्त के पश्चात् कविता के प्रतिनिधि हैं। गुप्त जी 'भारती' की कविता के विकास (व्यापकत्व) के प्रतिनिधि हैं, प्रसादजी उच्चत्व (विराटत्व) के। खड़ी बोली में आकर भी उनपर 'सरस्वती' की मुद्रा नहीं लगी और वे स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाते रहे। ब्रज की कविताओं में भी

उनकी ही निजस्वता थी। उनकी ये प्रेमानुभूतिपूर्ण कवितायें भारतेन्दु की ऋणी प्रतीत होती हैं। यदि भारतेन्दु जी जीवित रहते, तो बहुत पहले वे ऐसी कविताएँ लिख गये होते जैसी प्रसादजी ने इस शताब्दी में लिखीं—उनकी दिशा वही थी (प्रेमात्मक कविताओं में) जिधर 'प्रसाद' जी दिखाई दिये।

'झरना' कवि के प्रेमिक हृदय का सहज उद्रेक है; उसके छींटों में प्रणयी की समग्र मधुर और कटु अनुभूतियाँ स्पन्दित हैं। प्रकृति की भूमिका से कवि ने प्रतीकवाद द्वारा अपने विदग्ध प्रेम की व्यंजना की है, तो कहीं लौकिक रूप-व्यापार द्वारा। सुरा, मादकता, फूल, माला आदि प्रेमिक प्रतीकों से भी उनकी कविता में राशि-राशि अनुभूतियों की व्यंजना है। 'प्रसाद' के ऊपर तीन प्रभाव हैं (१) वैदिक चिन्ता (२) रवीन्द्र-चिन्ता और (३) ख़ैयामी प्रणयानुभूति। वैदिक चिन्ता के प्रभाव वाले गीत क्वचित ही हैं जैसे 'तुम'। वहाँ कवि दर्शन की भाषा में, विश्वात्मा (राम) की व्यापकता का भावक है—जीवन जगत के विकास विश्व वेद के हो, परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्णकाम हो। 'वेदान्तवादी' सूफी वादी विश्व-चेतना, विश्व-सौन्दर्य की व्यंजना भी है—"सुमन समूहों में सुहास करता है कौन, मुकुलों में कौन मकरन्द सा अनूप है ?"

रवीन्द्र-चिंता का प्रभाव प्रेम की मधु-अनुभूतियों में है। 'झरना' संग्रह की कई कविताएं 'गीताञ्जलि' की आख्यान-शैली में हैं : जैसे धूल का खेल, 'अतिथि', 'कुछ नहीं,' 'रत्न,' 'प्रत्याशा' आदि कवितायें। 'आदेश' तो स्पष्ट ही 'गीताञ्जलि' के 'पुजारी के प्रति' लिखे गीत की छाया में है।

'झरना' के कई गीतों में 'इश्कहकीकी' और 'इश्क मजाजी' की अनुभूतियाँ हैं। 'उपेक्षा करना, 'सुधा में गरल' उर्दू शायरों की सी प्रेम-व्यंजना की शैली की हैं। किसी के 'अपांग की धारा' से ही 'झरना' प्रवाहित हो पड़ा है और 'प्रणय वन्या ने किया पसारा'। इस प्रणय वन्या के जल में भारतीय और ईरानी संस्कृति के प्रेम का स्वाद मिलता है। यह निश्चित है कि उसमें 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी।' हो सकता है वह कोई 'कल्पनातीत काल की घटना' हो। कवि ने स्वयं ही इतना तो कह दिया है—

प्रेम की पवित्र परछाईं में
लालसा हरित विटपि झाईं में
वह चला झरना !

'एक भारतीय आत्मा'

यों यह कवि राष्ट्रीय प्रतीकवाद के द्वारा अपनी नई अभिव्यंजना हिन्दी कविता में दे रहा था, परन्तु प्रसिद्धि से दूर रहने के कारण अबतक संसार ने उन्हें पूर्णतया नहीं जाना है। आत्मानुभूतिमयी कविता वे राष्ट्रीय भाव-भूमि में जब लिखते हैं तो वह रहस्यमयी हो उठती है। उसमें एक क्षीण रेखा सूफ़ी ढंग के विशुद्ध प्रेमवाद की भी चमकती है। राष्ट्रीय लोक गीत भी 'सनेही' जी की भाँति उन्होंने न जाने कितने ही लिखे होंगे। उनका कवि हिमकिरीटिनी के प्रति सदैव समर्पित रहा है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ की प्रसविनी भारतीय स्वर्णभूमि बंगभूमि में प्रसूत और शिक्षा-संस्कृति में पालित पोषित कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी हिन्दी में 'निराला' प्रतिभा-भास लाये। बंगाली में मातृभाषा के समान पहले उन्होंने कण्ठ खोला और गाया। गुरु-रूपिणी 'सरस्वती' से छात्र-वयस में परिचय हुआ, उनकी पैतृक भाषा ने उन्हें आकृष्ट किया; मातृशक्ति ने उन्हें सहज प्रेरणा दी; विवेकानन्द ने सांस्कृतिक सम्मोहन दिया और उन्होंने हिन्दी के उस पूर्व उद्यान में 'जुही की कली' खिलाई, जिसमें बंग-प्रकृति का परिमल और मकरन्द था। निराला में संस्कृत का ज्ञान-पाण्डित्य था। स्वयम् कवि ने किशोरावस्था में संस्कृत का यह श्लोक विरचित किया था—

> जड़ो मूर्खो बालः पशुभरणकार्येषु निरतः!
> कृपा दृष्ट्या जातः कविकुलशिरोभूषण मणि।

इससे कवि की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। संगीत का शिक्षण-संस्कार कवि के लिए एक दान था, हिन्दी के लिए वरदान हुआ। उनकी संगीत-प्रियता का माधुर्य और लौह-शरीर की दृढ़ता दोनों हमें उनकी कविता में मिली। प्रज्ञा-तत्व का रहस्यभावी पुट उनकी वेदान्त-चिन्ता ने दिया।

---

१. "बँगला मेरी वैसी ही मातृभाषा है जैसी हिन्दी"—प्रबन्ध-प्रतिमा
"करि अंग भंग बंगभाषा के समस्त छन्द ब्रज अवधी में अब कवित्त हमें लिखनो है।"

माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा पुरस्कृत प्रतिष्ठित 'अमित्र' (अमित्राक्षर) छन्द का माधुर्य और ओज वे पान कर चुके थे। 'जुही की कली' में वर्णात्मक अमित्र छन्द ही निराला की निजस्वता के साथ आया है। इस प्रकार की ही रचनाएँ हैं—'पंचवटी-प्रसंग' (गीति रूपक), 'शेफालिका' 'जागो फिर एक बार' इत्यादि। यह छन्द कवित्त की लय पर है, जिसमें गान-विद्या पर वाचन-कला (Art of reading) विजयिनी हो जाती है। कवि का विश्वास है कि हिन्दी में मुक्त काव्य (छन्द) कवित्त की ही नींव पर सफल हो सकता है। खेद है कि प्रारंभ में हिन्दी की प्रचलित काव्य-धारा ने 'निराला' का स्वागत नहीं किया। उन्हें मुक्तछन्द के कारण वार-प्रहार मिले : रबड़-छन्द-केंचुआ छन्द का व्यंग्य उन्हें सहना पड़ा :

.........कवि, तुम एक तुम्हीं,
वार वार, झेलते सहस्रा वार
निर्मम संसार के,............ (कवि : परिमल)

परन्तु उन्होंने अपनी कविता-प्रेयसी से कहा—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह।
अर्द्ध विकच इस हृदय-कमल में आतू,
प्रिये छोड़कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह।

छायावाद की कल्पना में प्रज्ञा-तत्त्व की पुट देनेवाला कवि हिन्दी में निराला सिद्ध हुआ है। संस्कृत की संस्कृति, हिन्दी की भाषा, बंगला का स्वर और अंग्रेजी की व्यंजना-शैली 'निराला' की कविता में मूर्त्त हुई है।

सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पन्त के रूप में हिन्दी को एक ऐसा कवि प्राप्त हुआ है जो कला-रूप में पूर्णतया नवीन है। छायावाद में उन्होंने दो देन दी हैं। पहली है कल्पना का उत्कर्ष और दूसरी है नूतन लाक्षणिक भंगिमा। प्रसाद की भंगिमाएँ विदग्ध हृदय की हैं। उनमें अनुभूति है परन्तु पन्त में कल्पना अधिक है। रवीन्द्र और शैली की भाव-संस्कृति उनपर है और वह नई अर्थ-मुद्रा लेकर प्रकट हुई है। प्रकृति उसकी कल्पना का प्रसार-क्षेत्र है, प्रकृति पन्त के लिए एक रहस्यमयी दैवी सत्ता है किन्तु मानव हृदय

की अनुभूति से नितान्त अभिन्न। उनके 'पल्लव' की वे युगान्तरकारिणी कविताएँ (स्वप्न, छाया आदि) द्विवेदी काल की सन्ध्या में जब प्रकट हुईं तो हिन्दी में एक नई प्रतिभा प्रस्फुट हुई। इस कवि ने छन्द के संगीत को हृदयंगम किया है, शब्द के नाद-सौन्दर्य का रसास्वादन किया है और शब्द की आत्मा अर्थ को नई कान्ति दी है इस प्रकार रंग-रूप और रेखा में यह कवि नितान्त नूतन रहा। प्रकृति का चेतनीकरण और मानवीकरण ('छाया' आदि में) उनके प्रकृति के भावनतत्व का प्रतीक है। कल्पना के सूत्र के सहारे तारों और नक्षत्रों से लेकर सागर के गहनतल में से भावमुक्ता लाने वाला और उन्हें अपनी मा-भारती के हृदय पर सजाने में वह अप्रतिम है। विरह-काव्य 'ग्रंथि' में पंत जी ने हृदय के कोमल तार झंकृत किये हैं। परन्तु भावी कविता की दिशा तो 'पल्लव' के द्वारा ही सूचित हुई। 'वीणा' में उनपर रवींद्र का प्रभाव था—

माँ मेरे जीवन की हार।
तेरा मंजुल हृदयहार हो अश्रुकणों का यह उपहार।

परन्तु कवि ने स्वतंत्र भी अपना मार्ग बनाया उनकी कल्पना प्रवणता और अभूतपूर्व लाक्षणिक भंगिमा की समता हिन्दी में नहीं मिलती।

उनकी कविता में तो एक—

क्रीड़ा कौतूहल कोमलता मोद मधुरिमा हास-विलास।
लीला विस्मय अस्फुटता भय स्नेह पुलक सुख सरल हुलास।

देखा गया।

भावी युग की किरण

'प्रसाद,' पन्त और 'निराला' की त्रिविध प्रतिभा ने कविता में पुनः एक युगान्तर की सूचना दी। आत्मानुभूतिमयी कविताओं के द्वारा मुकुटधर पाण्डेय और जयशंकर 'प्रसाद' ने, संकेतवाद के द्वारा मुकुटधर पाण्डेय, राय-कृष्णदास और मैथिलीशरण गुप्त ने तथा गीत काव्य के द्वारा, एक भारतीय आत्मा, मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, और प्रसाद ने नये युग का सूत्रपात किया था। उसको पूर्ण प्रतिष्ठा दी इस त्रिमूर्ति ने छायावाद-रहस्यवाद के ये तीन कवि कविता के भावी युग के स्तम्भ कवि हुए। ये तीन छायावाद

के कवि प्रधानतया माने जाते हैं, जिसकी विविध दिशाएँ और प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'रहस्यवाद' है। 'प्रसाद' में वह परोक्ष के प्रति प्रेम के माध्यम से, पन्त में वह प्रकृति के माध्यम से और 'निराला' में दार्शनिक व्यञ्जना के माध्यम से प्रस्फुट होता है। इसी पंक्ति में आगे चलकर महादेवी वर्मा मिल गईं जिन्होंने 'प्रणय' से 'रहस्यवाद' की व्यंजना की।

: समाप्त :

के कवि प्रधानतया माने जाते हैं, जिसकी विविध दिशाएँ और प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'रहस्यवाद' है। 'प्रसाद' में वह परोक्ष के प्रति प्रेम के माध्यम से, पन्त में वह प्रकृति के माध्यम से और 'निराला' में दार्शनिक व्यञ्जना के माध्यम से प्रस्फुट होता है। इसी पंक्ति में आगे चलकर महादेवी वर्मा मिल गईं जिन्होंने 'प्रणय' से 'रहस्यवाद' की व्यंजना की।

: समाप्त :

द्विवेदी-काल-चक्र

आलोच्यकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की पृष्ठभूमि में उल्लेखनीय कृतियों का एक काल क्रमानुसार चक्र नीचे दिया जाता है। यह स्मरणीय है कि प्रकाशन के विक्रमी या ईसवी वर्ष के आधार पर ग्रन्थों का यह क्रम-निर्धारण हुआ है। जो कृति पुस्तकाकार होने से पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी है उसका यही प्रकाशन-काल मान लिया गया है।

अनुवादित कृतियाँ मोटे अक्षरों में दी गई हैं।

विक्रमी संवत्	व्रजभाषा-काव्य	महत्त्वपूर्ण घटनाएँ	'भारती' (खड़ी बोली) काव्य	ईसवीं सन्
१९५८		सम्राज्ञी विक्टोरिया का देहान्त; सप्तम एडवर्ड सम्राट् हुए। गुरुकुल कांगड़ी और 'शान्तिनिकेतन' आश्रम की स्थापना		१९०१
'५९	'धाराधर-धावन' (पूर्ण)		'कुमार-सम्भव सार' (द्विवेदी) 'श्रान्त-पथिक' (पाठक)	'०२
'६०		महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती के सम्पादक हुए। रामकृष्ण परमहंस का स्वर्गारोहण 'दिल्ली-दरबार'	'उपदेश-कुसुम' (हरिऔध)	'०३
'६१	'काश्मीर-सुखमा' (पाठक)	रूस-जापान युद्ध में जापान-विजय; भयंकर प्लेग; यूनिवर्सिटी एक्ट	'प्रेम-पुष्पोहार' (हरिऔध) 'शंकर-सरोज' (शंकर)	'०४

१९६२	'प्रेम-पथिक' (प्रसाद)	लॉर्डमिण्टो वायसराय नियुक्त; तुर्की में तरुण-तुर्क दल का जन्म; वङ्ग-भङ्ग आन्दोलन का सूत्रपात	'खड़ीबोली पद्यादर्श' (श्यामशर्मा)	१९०५
'६३	'राम-रावण विरोध' चम्पू (पूर्ण)	'स्वदेशी-आंदोलन' 'स्वराज्य' की माँग, अभिनव भारती समिति, ढाका अनुशीलन समिति की स्थापना, मुस्लिम लीग का जन्म, राजा रविवर्मा की मृत्यु, क्रान्तिकारी पत्र 'युगान्तर' का प्रकाशन	'उद्बोधन' (हरिऔध) 'आनन्द-अरुणोदय' (प्रेमघन)	'०६
'६४		लाला लाजपतराय का निर्वाचन; राधा कृष्णदास और बालमुकुन्द गुप्त की मृत्यु सूरत-कांग्रेस : कांग्रेस विच्छेद		'०७
'६५	'संगीत-शाकुन्तल' (प्रतापनारायण मिश्र)	खुदीराम बोस-बम; लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष का कारावास-दण्ड		'०८
'६६	'प्रेम-राज्य' (प्रसाद) 'उर्वशी-चम्पू' (प्रसाद) 'काव्योपवन' (हरिऔध)	'इन्दु' (काशी) का प्रकाशन : श्रावण १९६६ ; 'शासन-सुधार' हुए : पृथक् निर्वाचन	'रंग में भंग' (गुप्त) 'काव्योपवन' (हरिऔध) 'कविता-कुसुम-माला' (विभिन्न कवि)	'०९

		सरदार अजीतसिंह, लाला हरदयाल आदि भारत से गये	'कविता-कलाप' (विभिन्न कवि) हिंदी मेघदूत (ल. ध. वाजपेयी)	
१९६७		सम्राट् सप्तम एडवर्ड की मृत्यु; जार्ज सम्राट् हुए। लार्ड हार्डिंग वायसराय नियुक्त प्रथम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन (काशी); 'मर्यादा' (प्रयाग) का प्रकाशन	'जयद्रथ वध' (गुप्त) 'स्वदेशी-कुण्डल' (पूर्ण) 'वसन्त-वियोग' (पूर्ण) 'सती-सावित्री' (गिरिधर शर्मा)	'१९१०
'६८	'चित्राधार' (प्रसाद)	'गीताञ्जलि' (रवीन्द्र) का प्रकाशन क्रान्तिकारी षड्यन्त्र और मुकद्दमे; लाला हरदयाल केलिफोर्निया पहुँचे; सम्राट् (पंचम जार्ज) का भारतागमन; 'दिल्ली-दरबार; बंग-भंग प्रतिषेध	'चित्राधार' (प्रसाद)	'११
'६९	'वनाष्टक' (पाठक)	तुर्की पर आक्रमण चीन की क्रान्ति : प्रजातन्त्र का जन्म, लार्ड हार्डिंग पर बम	'पद्य-प्रबन्ध' (गुप्त) 'करुणालय' गीतिनाट्य (प्रसाद)	'१२

१९७०	"'कानन-कुसुम' (प्रसाद)	गांधी का ट्रान्सवाल-सत्याग्रह रवीन्द्र को 'गीताञ्जलि' पर नोबल पुरस्कार	'कानन-कुसुम' (प्रसाद) 'प्रेम-पथिक' (प्रसाद) 'अनुराग-रत्न' (शंकर) 'स्वदेश-गीतांजलि' (माधव) 'प्रिय-प्रवास' (हरिऔध)	१९१३
'७१		विश्व युद्ध (प्रथम) का प्रारम्भ; कोमागाता-मारू द्वारा गुरुदत्तसिंह कनाडा गये, इस्ताम्बुल के 'तरुण तुर्कदल' का गदर दल से संबंध; तुर्की जर्मनी की ओर, बालकृष्ण भट्ट का देहावसान; हाली का देहान्त, गांधीजी भारत में आये।	'झरना': प्रथम (प्रसाद) 'भारत-भारती' (गुप्त) विरहिणी-व्रजांगना (गुप्त) मौर्य-विजय (सि० श० गुप्त) 'महाराणा का महत्त्व' (प्रसाद) 'वीर-पंचरत्न' (१९०९-१४दीन) 'भारत-गीतांजलि' (माधव) 'मेवाड़-गाथा' (लो०प्र० पांडेय) कविता-विनोद (रा०न०त्रिपाठी) 'चारण' (श्रीनारायण)	'१४
'७२	'देहरादून' (पाठक)	गोखले की मृत्यु; फीजी की गिरमिट प्रथा बन्द; 'पूर्ण' जी की मृत्यु	'पद्य-पुष्पांजलि' (लो०प्र० पांडेय) 'प्रणवीर-प्रताप' (गोकुलचन्द्र) 'सूक्ति-मुक्तावली (रामचरित) 'प्रेम' (मन्नन द्विवेदी)	'१५

\Development Of Grain Oriented 3.0 Perfect Si-Fe Alloys\A19893 (ME, 1972)
Cropping:17,26,37,41,
Correct from otiff: 76,93
Rescan thesis pages: content page,16(W),23(BL),56(RM)

\Development Of Impact And Compression Test Facilities For Frp Panels\A134617 (ME, 2001)
Cropping:69,
Correct from otiff: 32,34,35,42,44,54-58,61,64,73-75,79,
Rescan thesis pages: content page
Missing thesis pages:iii,
41(keep p. 30 & 29 in sequence)

\Development of Techniques To Manufacture Frp Products Using Rapid Tooling\A33909
Cropping:6,
Correct from otiff: 45,46,51,53,54,65,68,69,84,87,88

\Dynamic Simulation Of The Turbine Of 110 MW Unit Of Panki Thermal Power Station\A55421 (ME, 1978)
Cropping:42,63,64
Rescan thesis pages:iv(BL), Graphs after p.73

\Dynamics Of A Bearingles Helicopter Rotor Blade With A Nother Optimization